# नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

# नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

## पहला भाग

ओम्प्रकाश मिहल एम० ए०
महेन्द्र कालेज, पटियाला

१९५६
एस० चन्द एण्ड कम्पनी
दिल्ली – जालंधर – लखनऊ

पंजाबी संस्करण भी प्राप्य है

एस० चन्द० एण्ड कम्पनी
दिल्ली—फव्वारा
लखनऊ—लाल बाग
जालन्धर—माई हीरा गेट

मूल्य ३॥) रुपये

प्रकाशक : गौरीशंकर शर्मा, एस० चन्द एंड कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली।
मुद्रक : कॉन्टिनेन्टल प्रेस, मोरीगेट, दिल्ली।

# भूमिका

यह पुस्तक इंटरमीडियेट के विद्यार्थियों की आवश्यकता पूरी करने के लिए लिखी गयी है। पर नागरिक शास्त्र की कोई पुस्तक तब ही अपना असली मकसद पूरा कर सकती है यदि वह राष्ट्र के नौजवान लड़कों और लड़कियों में ठीक ढंग से सोचने, बारीकी से दुनिया को देखने और ईमानदारी से व्यवहार करने की आदत डालने में मदद दे, ऊंचे उठने की इच्छा और इन्सान के लिए मुहब्बत पैदा करे, और हम रोज तंग करने वाली समस्याओं को सुलझाने का हौसला उनमें बढ़ाए। इस पुस्तक में वाद-विवाद, दलील, और काम करने के, बल्कि स्वयं जीवन के पथ-प्रदर्शन के, कुछ नियम मिलेंगे।

इस वास्ते इस पुस्तक में कुछ ऐसी सामाजिक समस्याएं सीधे ढंग से पेश करने की कोशिश की गयी है, जो पढ़ाई के बाद विद्यार्थी के सामने जरूर आयेंगी। भारत के नागरिकों पर अब जो नयी जिम्मेदारियां आ पड़ी हैं उन्हें देखते हुए यह पुस्तक अच्छी नागरिकता का रास्ता बताती है।

महेन्द्र कालेज, पटियाला।
१५ जून, १९५६।

ओमप्रकाश सिंहल

# विषय सूची


| अध्याय | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १ | नागरिक शास्त्र (Civics) किसे कहते हैं | १ |
| २ | नागरिक शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र, विधियां और उपयोगिता | ६ |
| ३ | नागरिक शास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध | १४ |
| ४ | मनुष्य और समाज | १९ |
| ५ | साहचर्य या संघ | २६ |
| ६ | समुदाय—गांव और नगर | ३१ |
| ७ | सामाजिक संस्थाएं (सम्पत्ति जाति और धर्म) | ४६ |
| ८ | राज्य और इसके घटक तत्त्व | ५८ |
| ९ | राज्य का उद्गम और प्रकृति | ६८ |
| १० | राज्य के कार्य और लक्ष्य | ७७ |
| ११ | शिक्षा | ९१ |
| १२ | नागरिक और नागरिकता | ९९ |
| १३ | नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य | ११० |
| १४ | विधि, स्वाधीनता और समता-अपराध और दण्ड | १२२ |
| १५ | सरकार—विधानांग, कार्यांग, न्यायांग | १३९ |
| १६ | सरकार के रूप—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, लोकतन्त्र और अधिनायकतन्त्र | १५७ |
| १७ | शासन के रूप (क्रमागत) | १६९ |
| १८ | निर्वाचक मंडल, लोकमत, और राजनैतिक दलों का कार्य | १८१ |
| १९ | संस्कृति और सभ्यता, अवकाश और मनोरंजन | २०१ |
| २० | राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद, संयुक्तराष्ट्र संघ | २१२ |

अध्याय :: १

# विषय-प्रवेश

## नागरिक शास्त्र (Civics) किसे कहते हैं ?

नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो मनुष्य का, नागरिक के रूप में, अध्ययन करता है, और इस बात पर विचार करता है कि समाज और राज्य के सदस्य के रूप में मनुष्य के कौन-कौन से अधिकार और कर्तव्य हैं। इस प्रकार, नागरिक शास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन के एक पहलू पर विचार करता है और वह है उसका नागरिक पहलू। अन्य सामाजिक विज्ञान उसके सामाजिक जीवन के दूसरे पहलुओं पर विचार करते हैं। इतिहास मनुष्य के गुजरे हुए सामाजिक जीवन की तस्वीर बनाता है, अर्थशास्त्र मनुष्य के रोजी कमाने की कोशिशों पर विचार करता है, आचार शास्त्र (Ethics) मनुष्य के कामों के नैतिक पहलू, अच्छाई-बुराई, पर गौर करता है, राजनीति विज्ञान राजनैतिक कार्यों की चर्चा करता है, इत्यादि। असल बात यह है कि मनुष्य समाज बनाकर रहने वाला प्राणी है। अपने स्वभाव और अपनी आवश्यकता, दोनों से वह एक सामाजिक प्राणी है। कोई आदमी अपने सब काम खुद नहीं कर सकता। हर सामाजिक विज्ञान अरस्तू के इस मशहूर कथन की सचाई को मानता है कि जो आदमी सामाजिक नहीं है, वह या तो देवता होगा या पशु। मनुष्य के सामाजिक कार्यों के बहुत से रूप हैं, अर्थात् आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक। इन सब कामों में उसे परिवार, जाति, गाँव, शहर, मजहब, राज्य, फैक्टरी, और क्लब जैसे कई साहचर्य या संघ[1], समुदाय या बिरादरी[2] और संस्थाएं[3] बनानी पड़ती हैं।

पर नागरिक शास्त्र में हम न तो सारे सामाजिक जीवन पर विचार करते हैं, और न सब संघों, बिरादरियों और संस्थाओं पर। नागरिक शास्त्र में हम सामाजिक जीवन के सिर्फ एक पहलू पर विचार करते हैं और वह यह है कि नागरिक के रूप में मनुष्य का क्या काम है, और हम सिर्फ उन साहचर्यों या संघों, बिरादरियों और संस्थाओं का अध्ययन करते हैं, जो नागरिक के तौर पर मनुष्य के जीवन और कार्यों पर गहरा असर

---

१ साहचर्य या संघ (Association) एक मकसद रखने वाले लोगों के संगठित समूह को कहते हैं।

२ समुदाय या बिरादरी उन लोगों के समूह को कहते हैं जिनके कुछ मसले हित हों और इन मसले हितों के कारण जिनमें एकता की भावना हो।

३ संस्था उस सम्बन्ध का नाम है जो किसी समूह के सदस्यों के बीच होता है।

डालती हैं और उन पर भी उसी हद तक विचार करते हैं जहां तक वे ऐसा असर डालती हैं। मिसाल के तौर पर, बहुत से साहचर्यों या संघों में से हम सिर्फ परिवार और राज्य पर विचार करते हैं। परिवार पर हम इसलिये गौर करते हैं क्योंकि नागरिक की शुरू की ज़िन्दगी, आदतों, और तालीम पर इसका बड़ा असर पड़ता है। नागरिक को अपने परिवार में ही सबसे पहले बच्चे के रूप में नागरिकता का पहला सबक मिलता है। जो आज बच्चा है, वही कल नागरिक हो जायेगा, और बच्चा वैसा ही बनेगा, जैसा उसका परिवार उसे बनायेगा। हम राज्य पर इसलिए विचार करते हैं क्योंकि राज्य के बिना कोई नागरिक नहीं हो सकता। नागरिक हमेशा किसी राज्य का नागरिक होगा। जहां राज्य नहीं, वहां नागरिक भी नहीं। इसके अलावा, नागरिक के अधिकार और कर्तव्य उसे राज्य की मेहरबानी से प्राप्त होते हैं। नागरिक शास्त्र मुख्य रूप से नागरिक के इन अधिकारों और कर्तव्यों पर ही सोच-विचार करता है। यह सच है कि अधिकारों का जन्मदाता राज्य नहीं है, पर उनका आराम से और मुस्तकिल तौर पर फायदा उठाने के लिये यह बिल्कुल लाज़मी है कि राज्य उन अधिकारों को मानता हो, और उनकी हिफाज़त करता हो। सामाजिक ज़िन्दगी हमेशा दूसरों के साथ मेल बैठाकर चलने की ज़िन्दगी है। हमें समाज के और लोगों को देखते हुए अपना आचरण ऐसा रखना चाहिए कि आपस में कोई कशमकश या झगड़ा पैदा न हो। इसका मतलब यह हुआ कि मुझे सिर्फ वह काम करना चाहिए जिन पर दूसरे लोग ऐतराज न करें। इसी तरह, दूसरों को भी आपस में ऐसा ही सलूक करना चाहिए। इस तरह अधिकार का मतलब यह हो जाता है कि उतने हिस्से में सब आज़ाद हैं, जितना आपस में तय कर लिया गया है, और राज्य अपनी ताकत के ज़ोर से उन अधिकारों की, दूसरों की दस्तन्दाज़ी से, रक्षा मात्र करता है।

## नागरिक शास्त्र में हम क्या अध्ययन करते हैं ?

इस प्रकार नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिये राज्य का अध्ययन बिल्कुल लाज़मी है। राज्य का अध्ययन करते हुए हमें इसके जन्म, वृद्धि, कार्यों, संगठन और लक्ष्यों का भी अध्ययन करना होगा। राज्य का नागरिक से सम्बन्ध एक मुश्किल समस्या है क्योंकि एक ओर तो राज्य की सबसे बड़ी और सीमाहीन शक्ति है और दूसरी ओर आदमी की आज़ादी है। राज्य की सबसे ऊंची और असीमित शक्ति को सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता ( Sovereignty ), कहते हैं। राज्य इस शक्ति के होने के कारण ही कानून बनाता है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के विचार के लिए सर्वोच्चता, कानून, आज़ादी, बराबरी और अधिकारों की समस्या बड़ी अहम बातें हो जाती हैं।

राज्य के अध्ययन में सरकार पर भी विचार करना पड़ता है। सरकार के बिना राज्य अपना काम नहीं कर सकता। राज्य एक विचार मात्र है। हम राज्य की कल्पना ही कर सकते हैं, उसे महसूस नहीं कर सकते और न छू या देख ही सकते हैं। सरकार में मंत्री, संसद, उच्च न्यायालय और सेना आदि हैं, और इन सब चीज़ों को हम देख सकते हैं। राज्य लोगों में कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिये होता है। इस

काम को यह सरकार के जरिये करता है।

इस तरह नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिये सरकार पर बारीकी से विचार करना जरूरी हो जाता है। इसलिये हम सरकार के रूपो, इसके सगठन और कामों पर विचार करते है। हर एक सरकार की तीन शाखाए होती है। (१) विधायिका (Legislature), (२) कार्यपालिका (Executive) और (३) न्यायपालिका (Judiciary)। ससद और विधान सभाए विधायिका का रूप है। राष्ट्रपति, राज्यपाल और मत्री कार्यपालिका को सूचित करते है। न्यायालय न्यायपालिका के रूप में है। सरकार का अध्ययन करते हुए हम राजनैतिक दलो का भी अध्ययन करते है, क्योकि हम सब जानते है कि विधान सभाओ और ससद के चुनावो म उनका बहुत अहम हिस्सा होता है। मत्री भी किसी न किसी राजनैतिक दल के ही सदस्य होते है।

हम ऊपर बता चुके है कि सघो म से सिर्फ परिवार और राज्य पर हम विस्तार से विचार करते है। इसी प्रकार, समुदायो म से गाव का और नगर का अध्ययन नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिये बहुत जरूरी है। परिवार के बाद नागरिक के कामो का केन्द्र गाव और नगर होते है। परिवार की तरह गाव और नगर भी नागरिकता की शिक्षा देते है। किसी नागरिक को लोकतन्त्र का पहला पाठ गाव-पचायतो और नगर-पालिकाओं में ही मिलता है।

साहचर्यो या सघो और समुदायो के अलावा हम जाति, सम्पत्ति और धर्म आदि कुछ सस्थाओ का भी अध्ययन करते है। हमारे मुल्क म जाति बहुत पुरानी सस्था है और इसने लोगो की जिन्दगी म अच्छा और बुरा, दोनो तरह का असर डाला है। आजकल इसे सब जगह बुरी चीज समझा जाता है, क्योकि इसके कारण हमारी जनता का बहुत बडा हिस्सा पिछडा रहा। इसी प्रकार धर्म का भी किसी नागरिक के जीवन में बहुत बडा हिस्सा होता है। इसका भी अच्छा और बुरा, दोनो तरह का असर होता है। धर्म के बहुत ज्यादा असर ने हमें भाग्यवादी और फिरकापरस्त बनाया है। फिरके-दाराना झगडे समाज के शान्त जीवन को अशात कर देते है—नागरिक शास्त्र शान्त जीवन का निर्माण करना चाहता है। पर धर्म कुछ अच्छी बाते भी सिखाता है जो मनुष्य को नागरिक बनाने में बडी सहायक हो सकती है। यह हम सहनशीलता, हमदर्दी, दया, भाईचारे और प्रेम का पाठ पढाता है। इस प्रकार, नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को नागरिक के जीवन पर धर्म के अच्छे और बुरे प्रभावो पर भी गौर करना चाहिये। सम्पत्ति भी नागरिक के जीवन पर गहरा असर डालती है। कुछ न-कुछ सम्पत्ति के बिना आदमी पूरी तरह सुखी नही हो सकता। पर धन सम्पत्ति की असमानता से गरीबी और बेरोज-गारी की समस्याए पैदा होती है। गरीब और बेरोजगार नागरिक समाज पर बोझा है।

नागरिक शास्त्र में हम नागरिक के जीवन पर असर डालने वाले साहचर्यो या सघो, समुदायो और सस्थाओ पर ही विचार नही करते, बल्कि उन बातो पर भी विचार करते है, जिनसे कोई आदमी अच्छा नागरिक बनता है। नागरिक शास्त्र सामाजिक इन्जीनियरिंग का विज्ञान भी है। इस दृष्टि से नागरिक शास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान

है। इसका मतलब है अच्छे नागरिक तैयार करना और साथ ही शान्तिमय, खुशहाल तथा मेलमिलाप वाला सामाजिक और नागरिक जीवन बनाना। उदाहरण के लिए, शिक्षा अच्छा नागरिक बनाने में मदद करती है। बिना शिक्षा के आदमी जानवर जैसा रहता है। बिना तालीम पाये किसी नागरिक को अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में ठीक-ठीक ख्याल नहीं पैदा हो सकता, और सुखी सामाजिक जीवन के लिये यह बिलकुल लाजमी है कि आदमी को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में सही ख्याल हो। बिना ठीक तालीम के कोई नागरिक सामाजिक जीवन में अपना पूरा योगदान भी नहीं कर सकता।

आखिरी बात यह है कि नागरिक शास्त्र में हम नागरिक के इसी रूप पर विचार नहीं करते कि वह एक राज्य का अंग है, बल्कि इस रूप पर भी विचार करते हैं कि वह सारी मनुष्य जाति का एक हिस्सा है। सारा संसार एक बड़ी बिरादरी है। अगर इस बड़ी बिरादरी की जिन्दगी में हलचल मची हुई हो तो किसी राज्य में शान्ति नहीं हो सकती। इसलिए हमें नागरिक के जीवन के अन्तर्राष्ट्रीय पहलू पर भी विचार करना होगा। हम राष्ट्रवादिता (nationalism) और अन्तर्राष्ट्रीयता के फायदे और नुकसान भी सोचने होंगे। राष्ट्रवादिता का अर्थ है अपने देश से प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता का मतलब है अन्य राष्ट्रों से भी मुहब्बत। संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisation) जैसी संस्थाएं शान्ति कायम रखने और दुनिया को लड़ाई की बरबादी से बचाने के लिये बनी हुई हैं। इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्य, संगठन और कामों का अध्ययन भी नागरिक शास्त्र में किया जाता है।

## सारांश

*नागरिक शास्त्र किसे कहते हैं*—नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। यह नागरिक के रूप में मनुष्य का और उसके अधिकारों तथा कर्तव्यों का अध्ययन करता है। अन्य सामाजिक विज्ञानों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है और उन्हीं की तरह यह मनुष्य के समाजगत जीवन के सिर्फ एक पहलू का अध्ययन करता है।

*नागरिक शास्त्र में हम क्या अध्ययन करते हैं?*—नागरिक शास्त्र के अध्ययन का केन्द्रबिन्दु नागरिक है। प्रथम तो, हम नागरिक का, उसके अधिकारों और कर्तव्यों का और उन अनेक प्रभावों का अध्ययन करते हैं जो उसे अच्छा या बुरा नागरिक बनाते हैं, उदाहरण के लिये, हम उस पर परिवार, शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता और फुरसत या अवकाश के प्रभावों का अध्ययन करते हैं। इसलिए नागरिक शास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है।

दूसरे, हम कुछ ऐसे साहचर्यों या संघों, समुदायों और संस्थाओं का अध्ययन करते हैं, जिनका नागरिक के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साहचर्यों में से हम परिवार और राज्य का, समुदायों में से गांव और शहर का, तथा संस्थाओं में से सम्पत्ति, धर्म, जाति या वर्ण का अध्ययन करते हैं।

तीसरे, हम राज्य और उसके उद्गम (origin), वृद्धि, कार्यों, और

प्रयोजन या मकसद का अध्ययन करते हैं। राज्य का अध्ययन इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके बिना कोई आदमी नागरिक नहीं बन सकता। हम उन सब समस्याओं का भी अध्ययन करते हैं जिनका राज्य और नागरिक के बीच सम्बन्ध है, अर्थात् कानून, सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता, अधिकारों और समानता की समस्याएं।

चौथे, राज्य के अध्ययन में सरकार और इसके रूपों, कार्यों और इसके संगठन का अध्ययन भी करना पड़ता है। आज के ज़माने में जबकि राज्य लोकतन्त्रीय है, सरकार को चलाने में नागरिक का जो हिस्सा है उसका अध्ययन भी महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी कारण, हम राजनैतिक दलों और लोकमत का भी अध्ययन करते हैं।

अन्त, नागरिक शास्त्र अपने अध्ययन को, राज्य के एक सदस्य के रूप में मनुष्य का जो कार्य है, उसके अध्ययन तक ही सीमित नहीं रखता। यह उसका, अधिक बड़ी बिरादरी, अर्थात् मानव बिरादरी, के सदस्य के रूप में भी अध्ययन करता है। इस सिलसिले में हम संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे संगठनों का अध्ययन करते हैं।

अध्याय :: २

# नागरिक शास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र, विधियां और उपयोगिता

## नागरिक शास्त्र की परिभाषा

नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जिसमें नागरिक के अधिकारों और कर्त्तव्यों का अध्ययन होता है। 'सिविक्स' शब्द लैटिन के 'सिविटस' और 'सिविस' शब्दों से निकला है। पहले शब्द का अर्थ है 'नगर' और पिछले शब्द का अर्थ है 'नागरिक'। इस अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि नागरिक शास्त्र मनुष्य का नगर के सदस्य के रूप में अध्ययन है, पर यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन ग्रीस और रोम में आम तौर पर नगर-राज्य (City-State) हुआ करते थे। समय के गुजरने के साथ राज्यों का आकार बढ़ता गया, यहां तक कि आज, रूस, चीन और भारत के समान बड़े बड़े राष्ट्रीय राज्य बन गये हैं। राज्य का आकार बढ़ जाने के साथ नागरिक शब्द का अर्थ भी विस्तृत हो गया है। आज नागरिक सिर्फ नगर का सदस्य नहीं है, बल्कि वह एक लम्बे-चौड़े और बड़े राजनैतिक संगठन, अर्थात् राज्य, का भी सदस्य है, पर नागरिक शास्त्र के क्षेत्र की दृष्टि से इतना भी काफी है। प्रत्येक नागरिक राज्य का सदस्य होने के अतिरिक्त सारी मनुष्य बिरादरी का भी एक हिस्सा है। अब सारी मनुष्य जाति का लाभ प्रत्येक अच्छे नागरिक की चिन्ता का विषय समझा जाता है। इससे नागरिक शास्त्र का महत्व बहुत विस्तृत हो जाता है। इसलिए अब नागरिक शास्त्र को मनुष्य के पास-पड़ोस की बातों का ही अध्ययन, अर्थात् उसके परिवार, गांव या नगर का ही अध्ययन, न समझना चाहिए, जैसा कि कुछ समय पहले तक समझा जाता था, अब इसे नागरिक और राज्य की सब समस्याओं का, चाहे वे स्थानीय हों, राष्ट्रीय हों, या अन्तर्राष्ट्रीय हों, अध्ययन मानना चाहिए।

**नागरिक शास्त्र का क्षेत्र**—इस पुस्तक के विषय-प्रवेश में हमने नागरिक शास्त्र के क्षेत्र और विषयवस्तु का काफी परिचय दिया है। यहां हम उन सबका संक्षेप में उल्लेख करेंगे जिससे ये बातें स्पष्ट रूप से विद्यार्थियों के सामने आ जाएं। नागरिक शास्त्र के क्षेत्र में एक ओर तो नागरिक के रूप में मनुष्य के सब कामों का अध्ययन शामिल है, और दूसरी ओर, उन सब बातों का अध्ययन इसमें शामिल है जिनसे उसके अच्छा नागरिक बनने में मदद या रुकावट होती है। हर नागरिक किसी समाज का और किसी राज्य का अंग होता है। समाज में अनेक साहचर्य या संघ, समुदाय और

संस्थाएं होती हैं। उन्हें मनुष्य ने अपनी तरह-तरह की जरूरतें पूरी करने के लिये और अपने फायदे के लिये बनाया है। परिवार, गांव, नगर और राज्य और दूसरे अनेक समूह नागरिक के काम करने की जगह हैं और इन सबका उसके जीवन के ऊपर गहरा असर पड़ता है। जाति, सम्पत्ति और धर्म जैसी अनेक संस्थाएं भी उस पर अच्छा या बुरा असर डालती हैं, पर नागरिक किसी राज्य का सदस्य अवश्य होता है। इसलिए नागरिकता का अध्ययन करते हुए राज्य का, इसके जन्म, प्रकृति, कामों और प्रयोजन का अध्ययन भी जरूरी हो जाता है। मनुष्य के साथ राज्य का सम्बन्ध सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता, कानून, आजादी, समानता और अधिकारों के मसले पैदा करता है। नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को, इन शब्दों का अर्थ और इनका आपसी सम्बन्ध साफ-साफ समझ लेना चाहिए। फिर राज्य अपने अभिकर्त्ता, सरकार, के जरिये काम करता है। इसलिए सरकार के रूप, संगठन और कार्यप्रणाली भी नागरिक शास्त्र के क्षेत्र में आते हैं। नागरिक शास्त्र सामाजिक इन्जीनियरिंग का विज्ञान है। इस नाते इसका काम है अच्छे नागरिक पैदा करना और समाज में शान्ति और तालमेल कायम करना। शिक्षा, छुट्टी, मनोरंजन, संस्कृति और सभ्यता से अच्छे और उपयोगी नागरिक पैदा करने में मदद मिलती है। दूसरी ओर, गरीबी, अनपढ़पन, खराब तन्दुरुस्ती, बुरी सामाजिक प्रथाएं, बुरी संस्थाएं और बुरे कानून अच्छी नागरिकता के दुश्मन हैं। इसलिए, नागरिक शास्त्र के गम्भीर विद्यार्थी को यह पता होना चाहिए कि नागरिक के जीवन के लिए अच्छी बातें कैसे अच्छी हैं, और बुरी बात कैसे बुरी है। फिर, अच्छे नागरिक को अपनी निष्ठा सही जगह रखनी चाहिए। उसे न केवल अपने मुल्क के प्रति सच्चा होना चाहिए, बल्कि उसे मनुष्य मात्र से भी उतना ही प्रेम रखना चाहिए। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता और संयुक्तराष्ट्र संघ आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का अध्ययन भी नागरिक शास्त्र में आता है।

नागरिक शास्त्र विज्ञान भी है और कला भी—जिन विषयों में मनुष्य और उसके कामों का अध्ययन होता है वे सामाजिक विज्ञान कहलाते हैं। उनमें से एक नागरिक शास्त्र है। पर यह भौतिकी और रसायन की तरह यथार्थ विज्ञान ( exact science ) नहीं है। भौतिकी और रसायन में निष्कर्ष यथार्थ और सुनिश्चित होते हैं। उनके परिणामों में कोई हेर-फेर नहीं हो सकता। यदि कोई हेर-फेर हो तो प्रयोग द्वारा उसका कारण बताया जा सकता है। नागरिक शास्त्र में यह नहीं हो सकता। मनुष्य और उसकी संस्थाओं पर प्रयोगशाला में प्रयोग नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त, भौतिकी और रसायन में जिन वस्तुओं का वर्णन है, उनकी प्रकृति और आचरण बदलते नहीं, पर मनुष्य का आचरण बदलता रहता है। यदि हम उसके आचरण के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालें तो सम्भव है कि कुछ समय बाद वे बिलकुल बदल जाएं। फिर, एक ही आदमी अलग-अलग वातावरण में अलग-अलग आचरण करता है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र को यथार्थ विज्ञान नहीं कहा जा सकता।

इसलिए यह सुझाया गया है कि नागरिक शास्त्र को विज्ञान नहीं माना जा सकता। यह बात स्वीकार करने योग्य नहीं। यदि विज्ञान शब्द का अर्थ एक दूसरे से सम्बन्धित बहुत समस्याओं का व्यवस्थित अध्ययन है तो नागरिक विज्ञान को विज्ञान माना जाना चाहिए। नागरिक विज्ञान का विद्यार्थी अपने विषय की समस्याओं पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करने की कोशिश करता है। वह इतिहास पढ़कर सामाजिक संस्थाओं के बारे में जानकारी और तथ्य हासिल करता है, उनके असर देखता है और अन्त में कुछ नतीजे निकालता है। इन सब बातों से नागरिक शास्त्र का विज्ञान कहलाने का दावा सच्चा साबित हो जाता है।

पर नागरिक विज्ञान का एक यही काम नहीं। इसका मकसद इन्सान का पूरा विकास करना और उसे एक आदर्श नागरिक बनाना है। वह यह भी खोज करता है कि किन अवस्थाओं में सामाजिक जीवन सुखी और मेल-मिलाप वाला हो सकता है। इस तरह नागरिक विज्ञान एक कला बन जाता है। इसका एक क्रियात्मक मकसद होता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि नागरिक विज्ञान विज्ञान भी है और कला भी।

## नागरिक विज्ञान के अध्ययन की विधियां

नागरिक विज्ञान का अध्ययन उन्हीं विधियों से होता है जिनसे अन्य सामाजिक विज्ञानों का।

### (१) प्रायोगिक विधि

हम मनुष्य और उसकी संस्थाओं से उस तरह प्रयोग नहीं कर सकते, जिस तरह भौतिकी और रसायन द्रव्य से करते हैं। पर मनुष्य के प्रयोगों के लिये सारा संसार एक प्रयोगशाला है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि मनुष्य के अनुभवों के अनुसार सरकारों और संस्थाओं के रूप बदलते रहते हैं। हर अनुभव मनुष्य को अधिक बुद्धिमान बना देता है, और वह तरक्की की ओर बढ़ता जाता है। परीक्षण या प्रयोग की विधि नागरिकता की प्रयोगशाला में बड़ी सहायक होती है।

### (२) प्रेक्षण (Observation) की विधियां

प्रयोग की विधि असल में प्रेक्षण या अच्छी तरह देखने पर आधारित है। हम अपनी सामाजिक संस्थाओं को काम करते हुए देखते हैं, उनके प्रभावों का विश्लेषण करते हैं और कुछ निष्कर्ष निकालते हैं। हम दूसरे देशों में इस प्रकार की संस्थाओं की कार्यप्रणाली देखते हैं और उनकी तुलना अपनी संस्थाओं से करते हैं।

तब तक कोई इशारा हासिल नहीं होता जब तक हम जाँच-पड़ताल की और विधियों का भी उपयोग न करें।

(३) तुलनात्मक विधि (Comparative Method)

असल में प्रेक्षण की विधि है। तुलना के लिए जाँच करने वाला सामग्री जमा करता है, उसे व्यवस्थित करता है और वर्गों में बाँटता है और तुलना तथा छटाई (selection) द्वारा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं के आदर्श रूपों का पता लगाता है।

(४) ऐतिहासिक विधि

तुलनात्मक विधि तब तक उपयोगी नहीं हो सकती जब तक इसका कोई ऐतिहासिक आधार न हो। सामाजिक संस्थाओं को भूतकाल के ज्ञान के द्वारा ही अच्छी तरह समझा जा सकता है और इन संस्थाओं के जन्म और विकास की परिस्थितियों को जानकर तथा इस बात की आलोचना करके कि आज उनका होना कहाँ तक उचित है हम भविष्य के लिये कुछ सीख सकते हैं।

(५) दार्शनिक विधि

नागरिक विज्ञान यह भी बताता है कि नागरिक कैसा होना चाहिए। इसलिए विद्यार्थी को कल्पना की दुनिया में घुसना पड़ता है। वह मनुष्य की प्रकृति के बारे में कुछ व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालता है और सामाजिक संस्थाओं से उनका सम्बन्ध जोड़ता है।

पर यहाँ एक चेतावनी देना उचित होगा। हमारी कल्पना बहुत उड़न वाली न होनी चाहिए। कैसा होना चाहिए, यह बात जहाँ तक हो सके इस बात में मेल खानी चाहिए कि कैसा हुआ जा सकता है। इस प्रकार कल्पना करते समय हमें उन सामाजिक परिस्थितियों से, जिनमें कोई नागरिक रहता है, बिल्कुल अलग थलग न हो जाना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए आदर्श नागरिक पैदा करने के लिए सच्चाई से यत्न करना चाहिए।

**नागरिक शास्त्र का अध्ययन क्यों किया जाता है? इसकी उपयोगिता**

नागरिक विज्ञान के अध्ययन के व्यावहारिक फायदे बहुत अधिक हैं और उससे निम्नलिखित लाभ होते हैं —

(१) पहली बात तो यह है कि नागरिक विज्ञान सामाजिक इंजीनियरिंग का विज्ञान है। यह हमें मिलकर रहने का ठीक तरीका सिखाता है। यह हमें अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के बारे में सही विचार बनाता है और इस तरह हमारे अन्दर नागरिक बुद्धि पैदा करता है। यदि हम अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का सही पता हो तो समाज के संघर्ष बहुत कम हो जाते हैं, नागरिकों में अधिक मेल-मिलाप और शांति रहती है, और सारा समाज अच्छी तरह तरक्की करता है। लोगों में अधिक सहयोग और प्रेम होता है। अधिकारों के बारे में मिथ्या भावनाओं पर होने वाली लड़ाइयों पर जो ताकत बरबाद होती है, उसे खराब तन्दुरुस्ती, अनपढ़पन, गरीबी, बुरी प्रथाओं

और अन्य सामाजिक बुराइयों को हटाने में इस्तेमाल किया जा सकता है।

साधारणतया हम सब लोगों में यह दोष है कि हम अपने अधिकारों पर तो जोर देते हैं, पर साथ ही अपने कर्तव्यों को नहीं पहचानते। नागरिक विज्ञान हमें यह सिखाता है कि अधिकार और कर्तव्य इकट्ठे चलते हैं। जहां कर्तव्य नहीं, वहां अधिकार भी नहीं। इसी प्रकार यह हमें सिखाता है कि हमें हर बात के लिये हमेशा राज्य और सरकार का ही मुह न देखना चाहिए। हमें, कम से कम, अपनी ही सहायता करके राज्य की मदद करना चाहिए। नागरिकों की सहायता के बिना राज्य का कुछ भी काम नहीं चल सकता।

(२) दूसरी बात यह है कि नागरिक विज्ञान हमारी इधर-उधर बटी हुई निष्ठाओं ( loyalties ) को समन्वय प्रदान करता है—यह सामाजिक आचरण का मानदंड कायम करता है और मनुष्य को यह समझने लायक बनाता है कि उसे अपने परिवार, अपने पड़ोसियों, अपने गांव या नगर, अपने राज्य, और अन्ततः, मनुष्य मात्र से कैसे व्यवहार करना चाहिए। हमारी पहली निष्ठा सदा बड़े समूह के लिये होनी चाहिए और हमें सामाजिक लाभ के लिये छोटे स्वार्थों को छोड़ना सीखना चाहिए।

(३) तीसरी बात यह है कि नागरिक विज्ञान समाज तथा सरकार की संरचना, संगठन और कार्य प्रणाली के बारे में हमारे दृष्टिकोण और ज्ञान को विस्तृत करता है। हम यह जानने लगते हैं कि आज का समाज कितना उलझा हुआ है। हमें यह पता चलता है कि इसमें हमारा स्थान क्या है और इसके अनेक अंगों में हमारा क्या सम्बन्ध है। इस ज्ञान से नागरिक को अपने रोजाना के कामों में बड़ी मदद मिलती है। इससे उसका अपना काम अच्छी तरह करने का हौसला बढ़ता है। इसके बिना नागरिक समाज और सरकार का अधिकतम उपयोग नहीं कर सकेगा, न वह स्वयं समाज के लिये बहुत कुछ कर सकेगा।

(४) चौथी बात यह है कि लोकतन्त्र के नागरिकों के लिये तो नागरिक शास्त्र का अध्ययन बहुत आवश्यक और लाभदायक है। लोकतन्त्र की लोकप्रिय परिभाषा की गई है कि 'जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन।' इस प्रणाली में किसी अच्छी, या बुरी, सरकार को चुनने की आखिरी जिम्मेदारी और सदा जागते रहकर इसे नियन्त्रण में रखने की जिम्मेदारी नागरिकों के कंधों पर पड़ती है। इस प्रकार, यदि किसी लोकतन्त्र के नागरिकों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का अहसास न हो, तो उसकी लोकतन्त्रीय सरकार ठीक तरह काम नहीं कर सकती। हर नागरिक को अपना वोट का अधिकार समझदारी और ईमानदारी से इस्तेमाल करना चाहिए। वोट के अधिकार का समझदारी से इस्तेमाल करने के लिये सामाजिक और राजनैतिक मामलों की अच्छी जानकारी होनी जरूरी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नागरिक विज्ञान से नागरिक को यह जानकारी हासिल होने में मदद मिलती है। आजकल अधिकतर देशों में लोकतन्त्रीय सरकारें हैं, इसलिए आज के जमाने में नागरिक विज्ञान के अध्ययन का और भी अधिक महत्व हो गया है।

(५) पांचवीं बात यह है कि नागरिक विज्ञान के अध्ययन का छात्रों के लिये बड़ा महत्व है। आज के छात्र ही कल के नागरिक होंगे। नागरिक विज्ञान की जानकारी उन्हें ठीक तरह का नागरिक बनने में मदद देती है। नौजवान ही किसी राष्ट्र की आशा होते हैं। कुछ वर्ष बाद वे ही नागरिक बनकर इसके भाग्य विधाता होंगे। राष्ट्र की शक्ति उनके चरित्र और शिक्षा पर निर्भर है। इसलिए नौजवानों को अपने शरीरों को शिक्षित करना, अपने दिमाग को योग्य बनाना और अपने चरित्र का विकास करना जल्दी शुरू कर देना चाहिए जिससे वे देश के सामने आने वाली अनेक समस्याओं को हल कर सकें। नागरिक विज्ञान उनके सामने नागरिकता और सुखी समाज, इन दोनों के जरूरी आदर्श पेश करता है।

### हमारे देशवासियों के लिये नागरिक विज्ञान का महत्व

यद्यपि भारत का आकार, आबादी और साधन बहुत बड़े हैं, तो भी यदि उसकी तुलना अमरीका, रूस और इंगलैण्ड जैसे आगे बढ़े हुए मुल्कों से की जाये तो वह बहुत पिछड़ा हुआ है। उसके पिछड़े होने का एक कारण यह है कि उसने सदियों की गुलामी के बाद अभी हाल में आजादी हासिल की है। पर साथ ही हम अपनी समाज की गहरी बुराइयों से आँखें नहीं मीच सकते। हमारे अन्दर नागरिक बुद्धि की बहुत कमी है। साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, जहालत, गरीबी और खराब तन्दुरुस्ती हमारी कुछ मोटी बुराइयों में से हैं। जाति प्रथा, छुआछूत, स्त्री-पुरुष का भेदभाव और दहेज प्रथा जैसी बुराइयां हमारे देश में आज भी फैली हुई हैं। हमारे अन्दर वह चरित्र नहीं जो स्वतन्त्र लोकतन्त्रीय देश के नागरिकों में हुआ करता है। खुदगर्जी, काहिली, बड़ों का हुक्म न मानना, आगे बढ़ने से भय और जिम्मेदारी की भावना की कमी, हमारे चरित्र की कुछ मोटी विशेषताएं हैं। अगर हमारा बस चले तो हम टैक्स ना अदा करें ही नहीं और वैसा न करने पर फख भी करते हैं। हम रोज सरकार को गाली देते हैं कि उसने अबतक रामराज्य नहीं बनाया और स्वय उसके लिये कोई कोशिश नहीं करते।

यदि ऊपर कही गई सब त्रुटियों को चलने दिया जाए तो इससे हमारी नयी आजादी को खतरा पैदा हो जाएगा। यदि हमने अपनी कमियों को महसूस नहीं किया तो लोकतन्त्र का प्रयोग असफल हो जायेगा। हमें अच्छे नागरिक बनने की कोशिश करनी चाहिए और नागरिक विज्ञान का अध्ययन हमारी समस्याएं हल करने में बहुत मदद करेगा।

## सारांश

### नागरिक शास्त्र की परिभाषा

सिविक्स शब्द लैटिन के 'सिविटस' और 'सिविस' शब्दों से निकला है, जिनका अर्थ क्रमशः 'नगर' और 'नागरिक' है। इसका यह अर्थ नहीं है कि नागरिक शास्त्र मनुष्य का सिर्फ नगर के सदस्य के रूप में अध्ययन करता है। आज राज्य नगर से बहुत बड़ी चीज है और इसलिए नागरिक शास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र भी बढ़ गया है। नागरिक न केवल राज्य का सदस्य है बल्कि वह सारी मानव बिरादरी का भी एक सदस्य है। इस

प्रकार, नागरिक शास्त्र की भी परिभाषा यह की जा सकती है कि 'नागरिक का और राज्य का उसकी स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सब प्रकार की समस्याओं की दृष्टि से अध्ययन करता।'

क्षेत्र—नागरिक शास्त्र के अध्ययन में निम्नलिखित बातें आती हैं —

(१) नागरिक का और उसके अधिकारों तथा कर्तव्यों का अध्ययन; (२) *महत्त्वपूर्ण साहचर्यों—जैसे परिवार और राज्य का, नगर और गांव जैसे समुदायों का,* सम्पत्ति, जाति और धर्म जैसी संस्थाओं का अध्ययन, (३) उन अनेक तरह के प्रभावों का अध्ययन जो नागरिक को अच्छा या बुरा बनाते हैं, जैसे परिवार, सम्पत्ति, जाति या वर्ण, धर्म, शिक्षा, अवकाश या छुट्टी, मनोरंजन, संस्कृति, और सभ्यता, (४) राज्य का, और अलग-अलग नागरिक के साथ उसके सम्बन्ध का, अध्ययन, इसमें राज्य के उद्गम, प्रकृति, कार्यों, प्रयोजन या मकसद का और प्रभुसत्ता, कानून, अधिकार, स्वतन्त्रता और समानता आदि समस्याओं का अध्ययन भी शामिल है, (५) राज्य के अभिकर्त्ता, सरकार, का अध्ययन, जिसमें सरकार के कार्यों का, और तीन अंगों, अर्थात् विधानांग, कार्यांग और न्यायांग, के रूप में उसके संगठन का अध्ययन भी शामिल है; (६) जनता *के कार्य का अध्ययन जिसमें राजनैतिक दलों और लोकमत का अध्ययन भी शामिल* है, (७) संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन।

### *नागरिक शास्त्र विज्ञान भी है और कला भी*

*नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। प्रणालीबद्ध ज्ञान के तौर पर यह* एक विज्ञान है, पर यह भौतिकी और रसायन की तरह यथार्थ विज्ञान नहीं है, क्योंकि इसे मनुष्य का अध्ययन करना होता है, जिसका व्यवहार समय और वातावरण के बदलने पर बदल जाता है।

नागरिक शास्त्र एक कला भी है, क्योंकि इसका लक्ष्य अच्छे नागरिक पैदा करना और सुखी तथा मेल-मिलाप का सामाजिक जीवन बनाना है।

### नागरिक शास्त्र की विधियां

नागरिक शास्त्र वे ही विधियां इस्तेमाल करता है जो अन्य सामाजिक विज्ञानों में इस्तेमाल होती हैं। प्रयोगात्मक विधि इस कारण उपयोगी है, क्योंकि मानवीय अनुभव से मानवीय संस्थाएं बदल जाती हैं, और हर तजुर्बे के बाद इन्सान अधिक अक्लमन्द हो जाता है। प्रेक्षण (observation) की विधि इसलिए उपयोगी है क्योंकि *दुनिया भर में मौजूद अनेक मानवीय संस्थाओं के काम के तरीकों को अच्छी तरह देखे* बिना नागरिक शास्त्र में सही निष्कर्षों पर पहुंचना कठिन है। तुलनात्मक विधि हमें अलग-अलग संस्थाओं के काम की तुलना करने में मदद देती है। ऐतिहासिक विधि द्वारा हमें विभिन्न संस्थाओं के अतीत के अध्ययन से उन्हें सही रूप से समझने का मौका मिलता है। दार्शनिक विधि से हम, जो होना चाहिए उसका, जो हो सकता है उसके साथ मेल बिठाना सीखते हैं।

### नागरिक शास्त्र की उपयोगिता

नागरिक शास्त्र के अध्ययन से निम्नलिखित लाभ होते हैं —

(१) यह हमें अपने अधिकारों और कर्तव्यों का सही रूप बताकर जीने की सही विधि सिखाता है ।

(२) यह हमें बताता है कि हमारी पहली निष्ठा सबसे बड़े समुदाय के प्रति होनी चाहिए और इस तरह हमारी विभाजित निष्ठा का हल करने की कोशिश करता है, और हमें स्वार्थभाव छोड़ने में सहायता देता है ।

(३) यह हमें सामाजिक ढाँचे और सरकारी संगठन की पेचीदगियाँ और काम करने का तरीका बताकर हमारे दृष्टिकोण को बड़ा करता है ।

(४) लोकतन्त्र के नागरिकों के लिए नागरिक शास्त्र का अध्ययन उपयोगी और आवश्यक है ।

(५) छात्रों के लिये यह महत्वपूर्ण है क्योंकि कल उन्हें ही नागरिक बनना है ।

(६) हम भारतवासियों के लिए नागरिक शास्त्र का अध्ययन और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हमारे सामाजिक जीवन में चार त्रुटियाँ हैं ।

### प्रश्न
### QUESTIONS

१ नागरिक विज्ञान की परिभाषा लिखो और इसका क्षेत्र बताओ ।

1 Define Civics and give its scope

२ नागरिक विज्ञान का क्षेत्र और उपयोगिता बताओ ? (प वि सितम्बर, १९५०)

2 Indicate the scope and utility of Civics (P U Sept 1950)

३. नागरिक विज्ञान के अध्ययन के क्या लाभ हैं ? (प वि अप्रैल, १९४८)

3 *What are the advantages of the study of Civics ?*(P U April, 1949)

४ नागरिक विज्ञान की परिभाषा लिखो । यह एक विज्ञान है या कला ?

4 Define Civics Is it a science or an art ?

५ नागरिक शास्त्र की परिभाषा करो और सामाजिक विज्ञान के रूप में इसका स्थान बताओ ? (प वि. अप्रैल १९५०)

5 Define Civics and indicate its place in the social sciences. (P. U April, 1950)

अध्याय :: ३

# नागरिक शास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध

जो विज्ञान मनुष्यों और उनके कार्यों का वर्णन करते हैं, वे सामाजिक विज्ञान कहलाते हैं। नागरिक शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, आचार शास्त्र ( Ethics ), समाजविज्ञान ( Sociology ) और मनोविज्ञान ( Psychology )—ये सब सामाजिक विज्ञान हैं, क्योंकि उनके अध्ययन का विषय मनुष्य-जीवन का कोई पहलू है। नागरिक विज्ञान नागरिक के रूप में मनुष्य का अध्ययन करता है। मनुष्य का व्यक्तित्व एक अखंड समष्टि (integrated whole) है और इसके एक पहलू को दूसरे पहलुओं से अलग नहीं किया जा सकता। उसके एक तरह के कामों का अध्ययन दूसरे कामों को बिल्कुल छोड़कर नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, वही आदमी, एक ही समय, एक परिवार का सदस्य होता है, एक राज्य का सदस्य होता है, किसी का कर्मचारी होता है, इत्यादि। इसी प्रकार, छात्र के रूप में तुम्हारे जो काम हैं, अर्थात् तुम्हारा पढ़ना और खेलना, उन पर तुम्हारे परिवार की आर्थिक स्थिति और उसकी अन्य अवस्थाओं का प्रभाव जरूर पड़ता है। जैसे मनुष्य के जीवन के विभिन्न पहलुओं में गहरा सम्बन्ध है, वैसे ही इन पहलुओं का अध्ययन करने वाले अनेक सामाजिक विज्ञान भी एक दूसरे से बहुत अच्छी तरह सम्बन्धित हैं।

### नागरिक शास्त्र और समाज विज्ञान : दोनों में अन्तर

(१) समाज विज्ञान सब सामाजिक विज्ञानों का जन्मदाता विज्ञान है। इसमें समाज के सारे रूप पर विचार होता है और इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह सामाजिक जीवन के सब पहलुओं, अर्थात् आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक पहलुओं का अध्ययन करता है। इस रूप में यह हर एक बात पर विस्तार से विचार नहीं कर सकता। दूसरी ओर, नागरिक शास्त्र सामाजिक जीवन के सिर्फ एक पहलू का विशेष अध्ययन करता है, अर्थात् नागरिक और अन्य व्यक्तियों तथा समूहों की दृष्टि से उसके अधिकार और कर्त्तव्य। असल में, समाज विज्ञान माता है और नागरिक शास्त्र सिर्फ पुत्री है। समाज विज्ञान में नागरिक शास्त्र भी आ जाता है।

(२) नागरिक शास्त्र यह मानकर चलता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज विज्ञान इस समस्या पर गहराई से विचार करता है कि मनुष्य क्यों और कैसे सामाजिक प्राणी है।

नागरिक शास्त्र परिवार, गाव, नगर और राज्य जैसी कई सामाजिक समस्याओं के जन्म और वृद्धि के बारे में सही जानकारी समाज विज्ञान से ही हासिल करता है। समाज विज्ञान से हम निजी सम्पत्ति और समाज में प्रचलित कई अन्य प्रथाओं के बारे में भी जानकारी हासिल करते हैं।

### नागरिक शास्त्र और राजनीति विज्ञान सम्बन्ध

(१) राजनीति विज्ञान में राज्य का अध्ययन होता है और नागरिक शास्त्र में नागरिकता का, और इन दोनों का बहुत घनिष्ठ सम्बंध है। राज्य के बिना नागरिक नहीं हो सकता। राज्य और नागरिकता का अध्ययन इन दोनों विज्ञानों में होता है। फर्क सिर्फ जोर देने का है। नागरिक शास्त्र में नागरिकता और उससे ताल्लुक रखने वाली समस्याओं के अध्ययन पर जोर दिया जाता है। नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिए राज्य के अध्ययन का कम महत्व है। दूसरी ओर, राजनीतिक विज्ञान मुख्यत राज्य का अध्ययन है और नागरिकता की चर्चा उसमें कहीं प्रसग से ही आती है।

दोनों में अन्तर—

(१) जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दोनों विज्ञानों के अध्ययन का क्षेत्र अलग-अलग है। इसके अलावा, राजनीतिक विज्ञान का क्षेत्र नागरिक शास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा बहुत बड़ा है। राजनीतिक विज्ञान राज्य की समस्याओं तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सवालों की गहराई में जाता है। नागरिक शास्त्र का अध्ययन नागरिक के वातावरण तक ही सीमित रहता है।

(२) राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन अधिकतर विचारात्मक और दार्शनिक है। नागरिक शास्त्र अधिकतर एक प्रायोगिक विज्ञान है। नागरिक शास्त्र का मकसद है सर्वोत्तम नागरिक पैदा करना।

### नागरिक शास्त्र और इतिहास का सम्बन्ध

इतिहास समाज के गुजरे हुए सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन की अवस्थाओं और विकास की तस्वीर होता है। जो समस्याएं आज नागरिक के जीवन पर इतना गहरा असर डाल रही है, उनकी मौजूदा कार्यप्रणाली को पूरी तरह समझने के लिये हम उनके जन्म और वृद्धि का भी अध्ययन करना होगा। यह ज्ञान हमें इतिहास से ही मिल सकता है। उदाहरण के लिये, जाति प्रथा, अविभक्त परिवार, छुआछूत, जमींदारी और उत्तराधिकार के कानून आदि नागरिक के जीवन पर इतना महत्त्वपूर्ण असर डालते हैं, पर उन्हें उनका इतिहास बिना देखे ठीक तरह समझा नहीं जा सकता। इसी प्रकार नागरिक का राज्य से बड़ा सम्बन्ध है। राज्य की सही प्रकृति और प्रयोजन को समझने के लिये नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को इसके जन्म और वृद्धि पर अवश्य विचार करना चाहिए।

दोनों में अन्तर

(१) पर उनकी विषय-वस्तु भिन्न है। एक तो आचार व नियमों का विज्ञान है और दूसरा नागरिकता का, (२) आचार शास्त्र का सबंध काम के भीतरी (प्रेरक और आशय) तथा बाहरी (स्वयं काम) दोनों भागों से है। नागरिक शास्त्र सिर्फ मनुष्य के बाहरी व्यवहार से सबंध रखता है।

### नागरिक शास्त्र और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान में मन का अध्ययन होता है। यह भावनाओं, संवेदना, अनुराग, सहजवृत्तियां, भावों, भावावेशों, और बुद्धि का अध्ययन करता है। इनसे ही मानवीय व्यवहार प्रेरित होता है। नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। यह समूहों के रूप में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। स्वभावतः मनुष्य के कार्यों के प्रेरक भावों की जानकारी, अर्थात् यह जानना कि वे मनुष्य एक खास तरह से कैसे और क्यों व्यवहार करते हैं, नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उपयोगी होगा।

### सारांश

नागरिक शास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि सब सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का विषय एक, अर्थात् मनुष्य, है।

### नागरिक शास्त्र और समाज विज्ञान

समाज विज्ञान जनक विज्ञान है और इस रूप में यह माता है तथा नागरिक शास्त्र इसका पुत्र है। समाज विज्ञान का क्षेत्र नागरिक विज्ञान के क्षेत्र की अपेक्षा बहुत विस्तृत है। समाज विज्ञान सारे सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है, पर नागरिक शास्त्र सिर्फ एक पहलू का, अर्थात् मनुष्य के नागरिक रूप का अध्ययन करता है। तो भी, परिवार, नगर और राज्य जैसी कई सामाजिक संस्थाओं के उद्गम और वृद्धि की सही जानकारी के लिये नागरिक शास्त्र समाज विज्ञान पर निर्भर है।

### नागरिक शास्त्र और राजनीतिक विज्ञान

नागरिक का और राज्य का अध्ययन दोनों में एकसमान है, पर राजनीति विज्ञान मुख्यतः राज्य का अध्ययन है और नागरिकता पर वह सिर्फ प्रसंगतः विचार करता है। दूसरी ओर, नागरिक शास्त्र नागरिकता के अध्ययन पर बल देता है और राज्य का अध्ययन नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिए गौण महत्त्व का है।

### नागरिक शास्त्र और इतिहास

इतिहास नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को नागरिक के जीवन में महत्त्वपूर्ण हिस्सा लेने वाली, अनेक सामाजिक संस्थाओं के उद्गम, वृद्धि, प्रकृति और मौजूदा कार्यप्रणाली को सही रूप से समझने में सहायता देता है। तो भी, इतिहास का अधिकांश नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिए अप्रासंगिक है। दूसरे, इतिहास अधिकतर सम्वादात्मक और घटनाक्रम के रूप में होता है, पर नागरिक शास्त्र आदर्शात्मक (Normative) तथा क्रियात्मक विज्ञान है।

### नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र

नागरिक शास्त्र का अर्थशास्त्र से भी सम्बन्ध है क्योंकि नागरिक और समाज का सुख सम्पत्ति के उत्पादन और उचित वितरण पर निर्भर है। गरीबी और बेकारी अच्छी नागरिकता के बड़े शत्रु हैं। इन समस्याओं को अर्थशास्त्र में हल किया जाता है। तो भी नागरिक शास्त्र और अर्थशास्त्र एक-दूसरे से अलग दो सामाजिक विज्ञान हैं।

### नागरिक शास्त्र और आचार-शास्त्र

आचार शास्त्र आचार सम्बन्धी विज्ञान है। यह गुण और दोष में भेद करता है। अच्छे नागरिक को गुण प्राप्त करने चाहिए और दोषों से बचना चाहिए। इन गुणों और दोषों का ज्ञान, और मनुष्य तथा समाज पर इनके प्रभावों का ज्ञान आचार शास्त्र से ही हो सकता है। इसलिये नागरिक-शास्त्र और आचार शास्त्र में सम्बन्ध है पर दोनों विज्ञानों में भेद भी है। आचार शास्त्र सारी क्रिया का अध्ययन करता है और नागरिक शास्त्र क्रिया के सिर्फ बाहरी भाग का अध्ययन करता है।

### नागरिक शास्त्र और मनोविज्ञान

नागरिक शास्त्र मन का अध्ययन करता है और मनुष्य के व्यवहार के विभिन्न प्रेरक स्रोतों के बारे में ज्ञान देता है। चूंकि नागरिक शास्त्र सामाजिक निर्माण का विज्ञान है, इसलिए उसे यह जानना जरूरी है कि आदमी एक खास तरीके से कैसे और क्यों व्यवहार करता है।

### प्रश्न

### QUESTIONS

१ नागरिक शास्त्र की परिभाषा करो। नागरिक शास्त्र का राजनीति, अर्थशास्त्र, और आचार शास्त्र से किस प्रकार सम्बन्ध? (प वि सितम्बर १९५३)

1 Define Civics How is Civics related to Politics, Economics and Ethics? (P U. Sep 1953)

२ स्पष्ट रूप से बताइये कि नागरिक शास्त्र समाज विज्ञान, आचार शास्त्र और इतिहास से किस तरह सम्बन्धित है।

2 Explain clearly how Civics is related to Sociology, Ethics and History

## अध्याय : : ४

# मनुष्य और समाज

### मनुष्य की सामाजिक प्रकृति

मनुष्य की प्रकृति दो भागों में बंटी है जिनमें से एक पाशविक है और दूसरा बौद्धिक ( animal and rational )। पशु के नाते उसमें कुछ सहज प्रवृत्तियां हैं, जो उसे सामाजिक होने के लिये मजबूर करती हैं। पहली बात तो यह है कि और पशुओं की तरह मनुष्य में प्रबल यूथचारी ( gregarious ) वृत्ति होती है। जैसे पशु झुण्ड बनाकर चलते हैं, ठीक वैसे ही मनुष्य भी हमेशा समूहों में रहता हुआ पाया जाता है। कहीं कोई आदमी एकांत जीवन बिताता हुआ नहीं दिखाई देता। जंगलों और पहाड़ों में रहने वाले साधुओं और फकीरों का उदाहरण देकर प्रायः यह सिद्ध करने की कोशिश की जाती है कि मनुष्य बिना समाज के रह सकता है पर हमें यह याद रखना चाहिए कि इन लोगों का भी समाज से बाकायदा संबंध बना रहता है। उनके पास कुछ शिष्यमंडली रहती है और शहर से भक्त मंडली उनके पास आती-जाती रहती है।

दूसरी बात यह है कि दो और सहज प्रवृत्तियां हैं जो मनुष्य को सामाजिक बनाती हैं, अर्थात् जनकीय प्रवृत्ति ( parental instincts ) और यौन प्रवृत्ति ( Sex instinct )। ये दोनों प्रवृत्तियां पारिवारिक जीवन का मूल हैं। परिवार मनुष्य जाति में एक प्राकृतिक समूह है।

पशु होने के अलावा, मनुष्य बुद्धियुक्त ( rational ) भी है। इस गुण से वह सामाजिक बनने के लिये और भी अधिक मजबूर हो जाता है। हर मनुष्य को गपशप के लिये और जरा देर हंसने के लिये साथी चाहिए। वह दूसरों के विचार सुनकर या अपने विचार उन्हें बताकर अपना सिर हल्का कर लेना चाहता है। इसी तथ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि बहुत दिनों तनहाई की कैद की सजा भुगतने वाले लोग क्यों पागल हो जाते हैं। तनहाई कैद सबसे अधिक कठोर सजाओं में मानी जाती है। इसी प्रकार, हर आदमी को अपनी गुप्त बातें करने के लिये या सलाह लेने के लिये दोस्त चाहिए। फिर, यश प्राप्त करने, कुर्बानी करने, कृतज्ञता, प्रेम, और आदर प्राप्त करने की इच्छाएं दूसरों के साथ के बिना पूरी नहीं की जा सकती। इसीलिए अरस्तू ने कहा था कि 'जो आदमी सामाजिक नहीं है वह या तो पशु है या देवता ?' इस प्रकार समाज मनुष्य के लिये बिलकुल स्वाभाविक है।

मनुष्य अपनी आवश्यकता के कारण भी सामाजिक है। बहुत सी बातें उसे

दूसरों के साथ रहने के लिये मजबूर करती है। ये बातें नीचे दी जाती है —

**शारीरिक कमजोरी**—शारीरिक दृष्टि से मनुष्य इतना मजबूत नहीं कि अकेला प्रकृति का सामना कर सके। वर्षा और तूफान, गर्मी और सर्दी, पहाड़ और नदियां, जंगली पशु और रोग तथा दुर्घटनाएं आदि दूसरी मुसीबतें इतनी जबर्दस्त है कि एक अकेला आदमी उन पर काबू नहीं कर सकता। इन सब खतरों से अपने जीवन को बचाने के लिए मनुष्यों को सहयोग करना होगा। मिलीजुली कोशिश से मनुष्य ने कुदरत को जीत लिया है।

**आर्थिक जरूरतें**—मनुष्य की जरूरतें बहुत सारी है। वह उन सबको अकेला पूरा नहीं कर सकता। किसी अकेले आदमी के लिये अपना मकान बनाना, अपना अनाज उगाना, और अपने कपड़े तैयार कर सकना बिल्कुल असंभव है। इनके अलावा, आदमी को और भी बहुत सी चीजों की जरूरत होती है। इसीलिए लोग, श्रम विभाजन के उसूल पर काम करते है और इस तरह अपनी जरूरतें पूरी करते है।

**यौन प्रवृत्ति और जनकीय प्रवृत्ति**—ये दोनों प्रवृत्तियां उसे सामाजिक होने के लिये मजबूर करती है। नर और नारी का सम्मिलन यौन प्रवृत्ति के कारण ही है। यह सम्बन्ध आदम और हव्वा के जमाने से चला आता है। हर इन्सान बालक से आदमी बनता है। अगर बच्चे न हों तो मनुष्य जाति खत्म हो जाएगी। फिर, कोई बच्चा अपनी देखभाल खुद नहीं कर सकता। इसलिए कुदरत ने इन्सान में जनकीय प्रवृत्ति रख दी है और इस तरह उसे परिवारों में अपने बच्चों का पालन करने के लिये मजबूर कर दिया है।

**बोलने की ताकत**—मनुष्य की बोलने की ताकत भी इसी वजह से है कि वह सामाजिक प्राणी है। यदि किसी बच्चे से कोई भी न बोले तो वह बोलना नहीं सीख सकता।

**अच्छा जीवन**—इन्सान सिर्फ रोटी से नहीं जीता। उसे समाज की जरूरत सिर्फ अपनी आर्थिक आवश्यकताएं पूरी करने के लिये ही नहीं है बल्कि अच्छे जीवन के लिये भी है। अच्छे जीवन में सभ्यता और संस्कृति भी आती है। अनेक तरह के आविष्कार, दर्शन और कला तथा साहित्य की चीजें खाली वक्त और विचारों की आपसी अदल-बदल का नतीजा है। अगर समाज न हो तो न खाली वक्त होगा और न कोई विचारों की अदल-बदल होगी।

**समाज किसे कहते हैं**—हम देख चुके हैं कि हर आदमी को दूसरे आदमी का साथ जरूर हासिल करना पड़ता है। जब लोग एक उद्देश्य रखकर आपस में मिलते हैं या कुछ सांझे हितों के कारण वे इकट्ठे हो जाते है तब उनका एक समाज बन जाता है। निम्नलिखित बातों से समाज के बारे में स्पष्ट विचार बन जाएगा —

(१) *समाज एक व्यापक शब्द है और इसका अर्थ बहुत विस्तृत है।* समाज शब्द १० व्यक्तियों के समूह के लिये भी बोला जा सकता है, और सारी मनुष्य जाति के लिये भी। किसी परिवार को भी मोटे तौर से समाज कहा जा सकता है। अलग-अलग तरह के समूहों के लिये अलग-अलग शब्द है।

(२) समाज अस्थायी भी हो सकता है और स्थायी भी। रेल के डिब्बे में सफर करने वाले मुसाफिर भी एक समाज बना लेते हैं, यद्यपि यह अस्थायी ढंग का होता है। दूसरी ओर, राज्य एक स्थायी ढंग का समाज है।

(३) समाज शब्द के अन्दर सगठित और असगठित दोनों तरह के समूह आते हैं। कोई परिवार कालेज या क्लब सगठित समूहों के उदाहरण हैं। बाजार में जादू या खेल देखने वाले लोगों की भीड़ असगठित समूह का उदाहरण है।

(४) समाज की कोई प्रादेशिक सीमाएं भी नहीं होतीं। एक अर्थ में भूमडल पर रहने वाली सारी मनुष्य जाति भी एक समाज है।

**समाज का गठन**—समाज की सरचना बडी जटिल होती है। इसमें अनेक साहचर्य, समुदाय और संस्थाएं शामिल होती हैं।

**साहचर्य या सघ (Association)**—साहचर्य या सघ उस समूह का नाम है जिसमें कई व्यक्ति एक खास उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपने आपको सगठित कर लेते हैं।

**समुदाय**—समुदाय उन लोगों के समूह को कहते हैं जिनमें कुछ साझे हितों के कारण एकता की भावना हो। कभी-कभी लोगों में एक भूखड पर निवास के कारण कुछ साझे हित पैदा हो जाते हैं। इसी अर्थ में मैकाइवर ने गावों और नगरों को समुदाय कहा। अन्यथा समुदाय के लिये प्रदेश का होना लाजमी नहीं। उदाहरण के लिये, जब हम छात्र समुदाय कहते हैं, तब समुदाय शब्द से हमारा मतलब किसी प्रदेश से नहीं होता। इसी प्रकार धर्म के साझे हित के कारण हम लोगों को हिन्दू, सिख, मुस्लिम और ईसाई समुदायों में रखते हैं। ईसाई समुदाय सारी दुनिया में फैला हुआ है। समुदाय के सदस्यों के लिए सघ की तरह सगठित होना जरूरी नहीं। समुदाय सघ से बड़ा भी होता है। सच तो यह है कि एक समुदाय में कई सघ हो सकते हैं।

**संस्था**—उन नियमों या प्रथाओं और कानूनों को संस्था कहते हैं जो किसी समूह के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध निर्दिष्ट करते हैं। जाति-प्रथा, विवाह, तलाक और अविभक्त परिवार प्रणाली, ये सब संस्थाएं हैं।

**समाज का जन्म और विकास**—कोई नहीं कह सकता कि मनुष्य ने समाज में रहना कबसे शुरू किया। समाज उतना ही पुराना होगा जितना आदमी, क्योंकि इस धरती पर मनुष्य के जीवन के बिल्कुल शुरू से वह सामाजिक है। समाज की वृद्धि सरल से जटिल की ओर हुई है। आज समाज का ढाचा बडा जटिल है। समाज का विकास इन अवस्थाओं से हुआ होगा —

**परिवार**—सबसे पुराना और सबसे सरल मानव समाज ऐसा परिवार होगा जिसमें पति, पत्नी और उनके बच्चे होंगे।

**गोत्र (Clan)**—जवान लड़के शादी के बाद अपने अलग परिवार बसाते थे, पर वे अब भी उसी बुजुर्ग की बात मानकर चलते थे। इस तरह एक जगह में शुरू होने वाले परिवारों का समूह गोत्र कहलाने लगा।

**गण या जनजाति या कबीला (Tribe)**—कई गोत्र मिलकर एक गण हो गए।

गण की अवस्था में रक्त सम्बन्ध कमजोर हो गया और सत्ता खून की दृष्टि से सबसे बड़े सदस्य से हटकर सबसे शक्तिशाली सदस्य के पास पहुँच गई जो लड़ाई के समय कबीले की रक्षा कर सकता था। यह आदमी कबीले का सरदार कहलाने लगा। कबीले का सरदार धीरे-धीरे राजा हो गया।

**राज्य**—जब किसी खास प्रदेश में रहने वाले कबीलों ने कानून और व्यवस्था के लिये किसी राजा के मातहत अपने आपको संगठित करना शुरू किया तब राज्य का जन्म हुआ। तभी से मानव समाज कई राज्यों में बटा हुआ है।

**समाज का प्रयोजन**—अब हमें समाज का प्रयोजन स्पष्ट हो गया होगा। मनुष्य स्वभाव से और आवश्यकता से एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही अपनी अनेक तरह की जरूरतें पूरी कर सकता है। समाज की बदौलत वह न केवल जी सकता है, बल्कि अच्छी तरह भी जी सकता है। अच्छा जीवन वही है जो समाज के अन्दर जीवन है। समाज के बिना मनुष्य पूरी तरह सुखी नहीं हो सकता। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि समाज में सब मनुष्यों की कीमत बराबर है। हर एक आदमी का आत्म-सम्मान और व्यक्तित्व एक सा कीमती है। इसलिए समाज सब आदमियों को शिष्ट और सुखी जीवन बिताने का बराबर मौका देता है।

**मनुष्य और समाज**—जब समाज मनुष्य के लिए इतना कीमती है तो स्वभावतः यह पूछा जा सकता है कि मनुष्य और समाज में क्या सम्बन्ध होना चाहिए। इन दोनों का सम्बन्ध इतना नजदीकी है कि इनमें से कोई भी एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता और जब ये दोनों एक दूसरे पर इतने निर्भर हैं तो स्वभावतः यह सवाल पेश होता है कि मनुष्य का अधिक महत्व है या समाज का। इस सवाल पर लोगों की राय अलग-अलग है और दो चरम (extreme) विचार ये हैं —

(१) **मनुष्य का अधिक महत्व है**—कुछ विचारक जिन्हें व्यष्टिवादी (individualist) कहते हैं, यह मानते हैं कि मनुष्य को समाज की बहुत जरूरत नहीं। समाज की जरूरत सिर्फ इसलिए है कि वह बलवान की ज्यादती से कमजोर को बचा सके। और किसी बात के लिये मनुष्य को समाज की जरूरत नहीं। मनुष्य खुद इतना अक्लमन्द है कि वह अपने फायदे के लिए काम कर सके और इस काम में उसे समाज की रहनुमाई की जरूरत नहीं। बल्कि व्यष्टिवादी तो यहाँ तक मानते हैं कि समाज की दखलन्दाजी से मनुष्य को कभी भी फायदा नहीं पहुँचता। इसलिए समाज को उसे बिल्कुल आजाद रहने देना चाहिए। समाज की दखलन्दाजी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाधक होती है और उसके चरित्र को पनपने नहीं देती। इसलिए वे कहते हैं कि मनुष्य को, जहाँ तक हो सके, अधिक से अधिक आजादी रहनी चाहिए और यह मानते हैं कि मनुष्य समाज के बिना जिन्दा रह सकता है और न ही फल-फूल सकता है।

**समाज का अधिक महत्व है**—कुछ और विचारक, जो आदर्शवादी (idealist) कहलाते हैं, समाज का अधिक महत्व मानते हैं। उनका कहना है कि समाज के बिना मनुष्य का कोई अर्थ या सार्थकता नहीं। उसका महत्व सजीव समष्टि (rganic owhole)

अर्थात् समाज के एक भाग के रूप में ही है। मनुष्य का अपना कुछ भी नहीं। मनुष्य का अनाज, कपड़े, बोलने की शक्ति, ज्ञान और अमल में तो उसका मांस और हड्डियां भी समाज की ही हैं, और उसने समाज से ही हासिल की है। वे कहते हैं कि मनुष्य का लाभ इसी में है कि वह अपने-आपको पूरी तरह समाज के अधीन कर दे। उसे समाज के ही लिये जीना और मरना चाहिए।

**असली स्थिति**—पर मनुष्य और समाज के आपसी सम्बन्ध के बारे में सचाई इन दोनों चरम विचारों के कहीं बीच में है। कोई भी आदमी पूरी तरह आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। हम पहले ही कह चुके हैं कि समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। उसे इसकी न केवल जिन्दगी के लिये, बल्कि अच्छी जिन्दगी के लिये जरूरत है। अच्छी जिन्दगी में मानसिक और नैतिक तरक्की भी शामिल है। सभ्यता और संस्कृति समाज में ही पैदा होती है। समाज के बिना आदमी पशु जैसा हो जायगा। मनुष्य में जो बुद्धि का अंश है, जो उसमें और पशुओं में भिन्नता करता है, वह तभी विकसित होता है, जब वह समाज में रहे।

पर इन सबसे हमें यह न समझने लगना चाहिए कि समाज मनुष्य से अधिक ऊँचा या अधिक महत्वपूर्ण है। आखिरकार, समाज है क्या? यह मनुष्यों का एक जमाव ही है। बिना मनुष्यों के समाज नहीं हो सकता। समाज का अपना मंगल इसकी व्यष्टियों के मंगल पर ही निर्भर है। अगर व्यष्टि पिछड़ी हुई है तो समाज आगे बढ़ा हुआ नहीं हो सकता। इसलिए समाज के अपने फायदे के लिये यह जरूरी है कि वह ऐसी परिस्थितियां और वातावरण पेश करे, जिसमें व्यष्टि अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके।

इस प्रकार, अन्त में हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य और समाज के आपेक्षिक महत्व के बारे में सारी बहस बेमतलब है। कोई भी दूसरे से अधिक महत्व का नहीं है, न उनके हित एक दूसरे के विरोधी हैं। दोनों का एक सा महत्व है और पारस्परिक सहयोग से ही दोनों को लाभ है।

## सारांश

मनुष्य स्वभाव और आवश्यकता के कारण सामाजिक है। उसकी सामाजिक प्रकृति इन तथ्यों से सिद्ध होती है —

१. मनुष्य सदा समूहों में रहता हुआ दिखाई देता है। वह कहीं भी अकेला जीवन बिताता हुआ नहीं दीखता।

२. मनुष्य को गपशप और हँसने-हँसाने के लिये समाज की आवश्यकता है। वह किसी के साथ विचार-विनिमय करना चाहता है। कैद तनहाई या एकान्त परिरोध सबसे कठोर सजाओं में से है।

३. कुछ इच्छाएं, जैसे यश की इच्छा, त्याग की इच्छा, कृतज्ञता प्राप्त करने की इच्छा, प्रेम और सम्मान पाने की इच्छा, दूसरों की संगति के बिना नहीं पूरी की जा सकती।

मनुष्य अपनी आवश्यकता के कारण भी सामाजिक है :—

१ मनुष्य अकेला प्राकृतिक घटनाओं का सामना नहीं कर सकता। सम्मिलित प्रयत्न द्वारा मनुष्य प्रकृति का मालिक बन गया है।

२ मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों से सहयोग करना आवश्यक है।

३ यौन प्रवृत्ति और अनुकरण प्रवृत्ति उसे सामाजिक होने को मजबूर करती है।

४ मनुष्य की बोलने की शक्ति समाज से ही पैदा होती है।

५ समाज के बिना उसका जीवन असम्भव है।

**समाज किसे कहते हैं**—जब कभी मनुष्य किसी साझे उद्देश्य की सिद्धि के लिए साथ मिलकर काम करते हैं, या कुछ साझे हितों के कारण इकट्ठे मिल जाते हैं, तब वे एक समाज बनाते हैं। समाज व्यापक अर्थ वाला शब्द है। यह किसी छोटे समूह के लिये भी प्रयोग में आ सकता है और सारे मानव वंश के लिये भी। समाज शब्द के अन्दर संगठित और असंगठित दोनों समूह आते हैं।

**समाज का संगठन**—समाज की संरचना पेचीदा है। इसमें अनेक साहचर्य या संघ, समुदाय और संस्थाएं शामिल हैं।

**समाज का उद्गम और वृद्धि**—समाज उतना ही प्राचीन है जितना पुराना मनुष्य। यह सरल रूप से बढ़कर जटिल हो गया है। परिवार सबसे पुराना और सबसे सरल प्राकृतिक समाज है। इसके बाद गोत्र आता है, जो उसी रक्त के कई परिवारों का समूह था। कई गोत्र मिलकर कबीला या गण या जनजाति ( tribe ) बनाते थे। जब किसी खास भूखंड पर रहने वाले कबीलों ने किसी राजा के अधीन कानून और व्यवस्था के लिये अपने आपको संगठित करना शुरू किया, तब राज्य पैदा हुआ। तबसे मनुष्य समाज कई राज्यों में बंटा हुआ है।

**समाज का प्रयोजन**—समाज मनुष्य को न केवल जीने के, बल्कि अच्छी तरह जीने के योग्य बनाता है। बिना समाज के मनुष्य अधिकतम सुखी नहीं हो सकता।

मनुष्य और समाज के आपेक्षिक महत्व के बारे में हम कह सकते हैं कि दोनों एक दूसरे के लिये समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। जो व्यक्तिवादी यह कहते हैं कि समाज मनुष्य के कल्याण के लिये है, वे व्यष्टि को अनुचित महत्व देते हैं। इसी प्रकार, आदर्शवादी समाज को अनुचित महत्व देते हैं। असल में व्यष्टि और समाज का कल्याण एक दूसरे पर इतना अधिक आश्रित है कि दोनों को आपसी सहयोग से काम करना जरूरी है। दोनों का कल्याण समान रूप से महत्वपूर्ण है।

## प्रश्न
## QUESTIONS

१ इस कथन को स्पष्ट कीजिए, कि "मनुष्य सामाजिक प्राणी है।"
(प वि अप्रैल १९४८, और सितम्बर १९५०)।

1. Explain the proposition that, "man is a social animal."
(P U. April 1948 and Sep 1950)

२ "मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है"—स्पष्ट कीजिये।
(प वि सितम्बर १९५२)।

2 "Man is by nature a social animal ' Explain (P U. Sep 1952)

३ "मनुष्य स्वभाव से और आवश्यकता से सामाजिक प्राणी है।" दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिए। (यू पी १९४०)

3 "Man is by nature and necessity a social animal Explain clearly, giving illustrations. (U P 1940)

४ "समाज" शब्द से आप क्या समझते हैं? यह साहचर्य, समुदाय और संस्था से किस तरह भिन्न है? (यू पी १९३८)

4 What do you understand by the term "society ? How does it differ from an association, community and institution? (U P 1938)

५ मनुष्य समाज पर कैसे निर्भर है? समाज एक साध्य है या साधन?
(प वि अप्रैल १९५४)

5 Explain the dependence of the individual on society. Is society an end or a means? (P U April, 1954)

६ मनुष्य और समाज का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। क्या उनके हित एक दूसरे के विरोधी हैं?

6 Explain clearly the relation between the individual and society. Do they have conflicting interests?

## अध्याय : : ५

# साहचर्य या संघ

## (Associations)

**परिभाषा**—साहचर्य या संघ लोगों के उस समूह को कह सकते हैं जो किसी खास काम या प्रयोजन के लिये अभिव्यक्त रूप से संगठित किया गया हो।

**सब साहचर्यों में पाए जाने वाले लक्षण**—ऊपर दी गई परिभाषा से साहचर्य या संघ के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होंगे —

**(१) साहचर्य या संघ एक संगठित समूह है।** इसकी यह विशेषता इसे असंगठित समूहों से अलग करती है। भीड़ साहचर्य नहीं हो सकती क्योंकि इसमें संगठन नहीं होता। इसी तरह रेलगाड़ी के डिब्बे में सफर करने वाले मुसाफिर, या बाजार में जादू का खेल देखने वाले लोग साहचर्य नहीं होते। साहचर्य क्योंकि संगठित समूह होता है, इसलिए इसके सदस्यों के साथ इसके सम्बन्धों को नियमित करने के लिये लिखे या बेलिखे नियम जरूर होने चाहिए।

**(२) साहचर्य किसी खास प्रयोजन की पूर्ति के** लिये बनाया जाता है। हर एक संघ का मकसद कोई न कोई लक्ष्य हासिल करना होता है। कोई एक साहचर्य आदमी की सब जरूरतें पूरी नहीं कर सकता। इस तरह, अपनी अनेक जरूरतों को पूरा करने के लिये आदमी बहुत से साहचर्यों में शामिल होता है और उन साहचर्यों की संख्या उतनी हो सकती है जितनी मनुष्य की जरूरतें।

**(३) साहचर्य शब्द सिर्फ कुछ लोगों को निर्दिष्ट करता है और यह किसी प्रदेश को निर्दिष्ट नहीं करता।** यह प्रादेशिक संगठन नहीं है। राज्य के अलावा और किसी साहचर्य का प्रदेश नहीं होता। असल में किसी साहचर्य के सदस्य कई राज्यों में फैले हो सकते हैं। रैड क्रास समारव्यापी साहचर्य है।

**साहचर्य में भेद**—साहचर्य, आकार, संगठन, प्रकृति, अवधि और कार्यों की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अपने कार्यक्षेत्र के अनुसार, ये आकार में छोटे-बड़े हो सकते हैं। खेलने के लिये बनाया गया कोई क्लब किसी खास नगर तक सीमित हो सकता है और रैडक्रास सगारव्यापी साहचर्य है। किसी साहचर्य का संगठन उसके आकार और कार्यों के अनुसार सरल व जटिल होगा। कुछ साहचर्य, जैसे परिवार और राज्य, स्थानायिक, अनिवार्य और स्थायी होते हैं। अन्य साहचर्य साधारणतया स्वेच्छा से बनाये गये और कम देर रहने वाले होते हैं। साहचर्यों के काम भी अलग-अलग होने जरूरी हैं, क्योंकि उनके उद्देश्य अलग-अलग होते हैं।

**साहचर्यों के प्रकार**—साहचर्यों को उनकी प्रकृति, अवधि और कार्यों के आधार

पर इन वर्गों में बांटा जा सकता है :—

(१) स्वाभाविक और ऐच्छिक।

(२) स्थायी और अस्थायी।

(३) कार्य की दृष्टि से साहचर्य जैविकीय ( Biological ), आर्थिक, राजनैतिक, मनोरंजनात्मक, सांस्कृतिक, धार्मिक और परोपकारी हो सकते हैं।

**स्वाभाविक और ऐच्छिक**—राज्य और परिवार मनुष्य के लिये स्वाभाविक हैं। आदमी जन्म से ही इन दोनों का सदस्य होता है। इनका सदस्य होना या न होना मनुष्य की इच्छा पर नहीं है। उसे इनका सदस्य बनना पड़ता है। ऐसा कोई आदमी नहीं होगा, जिसका जन्म और पालन किसी परिवार में न हुआ हो। इसी प्रकार, अधिकतर मनुष्य जाति राज्यों में संगठित होकर रहती है।

**स्थायी और अस्थायी**—फिर, राज्य और परिवार दोनों अस्थायी भी हैं। वे न मालूम कब से मौजूद हैं। और आगे भी बने रहेंगे। और साहचर्य ऐच्छिक तथा थोड़े बहुत अस्थायी होते हैं। मनुष्य को उनमें शामिल होने या उनसे अलग हो जाने की आजादी होती है। ये साहचर्य अपना प्रयोजन पूरा होने पर खत्म हो जाते हैं।

**जैविकीय** साहचर्य का मकसद सन्तान उत्पन्न करना और मनुष्य जाति को बनाये रखना है। परिवार एक जैविकीय साहचर्य है।

**आर्थिक**—आर्थिक साहचर्य अपने सदस्यों के आर्थिक हितों, वृद्धि और रक्षा के लिये बनाये जाते हैं। ट्रेड यूनियन या मजदूर संघ मजदूरों का मालिकों के मुकाबले में अपने हित आगे बढ़ाने और उनकी रक्षा करने के लिये बनाया हुआ साहचर्य होता है। फिर, किसी वृत्ति, व्यापार या उपजीविका में लगे हुए लोगों का साहचर्य हो सकता है। अध्यापक संघ, अनाज व्यापारी संघ, कपड़ा व्यापारी संघ, क्लर्क संघ, ऐसे साहचर्यों के उदाहरण हैं।

**राजनैतिक**—राज्य और संयुक्तराष्ट्र संघ राजनैतिक साहचर्य हैं, जिनका लक्ष्य समाज में कानून और व्यवस्था को बनाये रखना है। वह राजनैतिक दल, जिसका लक्ष्य राज्य में राजनैतिक सत्ता हासिल करना है, इसी श्रेणी में आता है।

**मनोरंजनात्मक**—थकाने वाली शारीरिक और बौद्धिक मेहनत के बाद आदमी को अपने को तरो-ताजा करने के लिये कुछ मनोरंजन की आवश्यकता होती है। नाटक, संगीत और खेल संघ सब मनोरंजनात्मक साहचर्यों के उदाहरण हैं।

**सांस्कृतिक**—स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, वाद-विवाद सभाएं, अध्ययन केन्द्र, रोटरी सर्कल, संगीत और नाटक क्लब, पेंटिंग और अन्य ललित कलाओं के स्कूल, ये सब सांस्कृतिक साहचर्य हैं। इनका लक्ष्य बुद्धि को पैना करना, ज्ञान की तरक्की करना और सौंदर्य का परिष्कार तथा उसे समझना है।

**धार्मिक**—सच्चा धर्म आत्मा का भोजन है। मन्दिर, गुरुद्वारे, मस्जिद और गिरजाघर ऐसे स्थान हैं, जहां लोग भीतरी शांति और सुख की खोज में जाते हैं। जिन साहचर्यों का लक्ष्य धर्म और समाज की बुराइयों में सुधार करना होता है, वे सुधारक संघ कहलाते हैं। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज इस प्रकार के उदाहरण हैं।

परोपकारी—मनुष्य सदा स्वार्थी नहीं होता। बहुत बार हम देखते हैं कि वह गरीब लाचार और पददलित लोगों से सहानुभूति और उदारता दिखाता है। समाज सेवा की प्रेरणा से बनाये गये साहचर्य परोपकारी संघ कहलाते हैं। अनाथालय विधवाओं, असमर्थ व्यक्तियों और कोढ़ियों के आश्रम, हस्पताल और औषधालय इस प्ररूप के साहचर्य हैं।

### साहचर्यों की उपयोगिता और महत्त्व

नागरिक को साहचर्यों से निम्नलिखित लाभ होते हैं —

(१) कोई आदमी पूरी तरह आत्मनिर्भर नहीं होता। उसे अपनी जरूरतें पूरी करने के लिये दूसरों से सहयोग करना होगा। इस प्रकार साहचर्य मनुष्य की तरह-तरह की जरूरतें पूरी करने के लिये आवश्यक है।

(२) साहचर्यों से कठिन से कठिन कार्य की सिद्धि के लिये संयुक्त और संगठित कोशिश का रास्ता बनता है।

(३) आदमी के सर्वतोमुखी विकास के लिये साहचर्य जरूरी हैं। अलग-अलग साहचर्य मनुष्य के व्यक्तित्व के अलग-अलग पहलुओं के विकास में सहायक होते हैं। तरह-तरह के लोगों से मिलने से उसका अनुभव और ज्ञान बहुत बढ़ जाता है।

(४) एकता में ही शक्ति है। किसी साहचर्य के सदस्य के रूप में आदमी अपने हितों की अधिक आसानी से रक्षा कर सकते हैं, और अपने अधिकारों के लिये अधिक आसानी से लड़ सकते हैं, जैसे उदाहरण के लिये, ट्रेड यूनियन बनाकर।

(५) बहुत से साहचर्यों का सदस्य बनकर ही आदमी अपने मित्रों और परिचितों का क्षेत्र बढ़ा सकता है। कोई आदमी जितने अधिक साहचर्यों में जाता है, उसकी जान-पहचान उतनी ही अधिक होने की सम्भावना है।

### साहचर्य और समुदाय में भेद

इन दोनों में भेद करने वाली बातें ये हैं —

(१) समुदाय में सदा संगठन नहीं होता पर साहचर्य में संगठन अवश्य होता है।

(२) समुदाय के सदस्यों को जोड़ने वाली चीज कुछ साझे हित होते हैं। उनका कोई एक ही लक्ष्य या उद्देश्य होना जरूरी नहीं, पर साहचर्य में कोई निश्चित प्रयोजन या लक्ष्य अवश्य होना चाहिए।

(३) समुदाय साहचर्य की अपेक्षा बड़ा समूह है। इसमें कई साहचर्य हो सकते हैं। किसी नगर में, जो एक समुदाय है, कई साहचर्य हो सकते हैं। इसी प्रकार, छात्र समुदाय कई साहचर्यों में संगठित हो सकते हैं। किसी साहचर्य में भी विभिन्न समुदायों के लोग हो सकते हैं।

(४) जब हम किसी गाँव या शहर को समुदाय कहते हैं, तब समुदाय शब्द प्रादेशिक अर्थ भी रखता है। राज्य को छोड़कर और कोई साहचर्य प्रादेशिक अर्थ नहीं रखता।

### साहचर्य और सत्था में भेद

बोलचाल में ये दोनों शब्द एक दूसरे की जगह प्रयुक्त कर दिये जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से साहचर्य और संस्था का अन्तर साफ तौर से समझ में आ जाएगा। कालेज उच्च शिक्षा प्राप्त करने के साझे प्रयोजन के लिये छात्रों का साहचर्य है, लैक्चर, हाजिरी, प्रिंसिपल की आज्ञाएं और परीक्षाएं इस साहचर्य की संस्था है। इसी प्रकार, राज्य कानून और व्यवस्था बनाये रखने के प्रयोजन के लिये एक साहचर्य है। इसका संविधान और इसके कानून इस साहचर्य की संस्थाएं हैं। इस प्रकार, साहचर्य किसी विशेष प्रयोजन के लिये संगठित लोगों का समूह है, पर संस्था उन नियमों, प्रथाओं परम्पराओं और रूढ़ियों को कहते हैं जो किसी साहचर्य के सदस्यों के आचरण और व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। (अपूर्ण)

## अध्याय : : ५ (नियामा)

# परिवार

अनेक साहचर्यों में से दो साहचर्यों, परिवार और राज्य, का नागरिक के जीवन में सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है। यहां हम परिवार के हिस्से पर विचार करेंगे।

### परिवार किसे कहते हैं—

परिवार उस स्वाभाविक साहचर्य को कह सकते हैं, जो पति, पत्नी और बच्चों का होता है, और जिसमें कुछ नियम और धार्मिक कृत्य होते हैं, तथा जो सन्तान पैदा करने, और उनके पालन-पोषण के लिये बनाया जाता है।

### इसकी भेदक विशेषताएं—

परिवार की निम्नलिखित विशेषताएं और सब समूहों से इसे भिन्न करती हैं

(१) यह राज्य की तरह एक स्वाभाविक साहचर्य है। हर आदमी जन्म से किसी न किसी परिवार का सदस्य होता है। उसका जीवन ही परिवार पर निर्भर होता है। परिवार उसके व्यक्तित्व के विकास में भी बड़ा हिस्सा लेता है। इन कारणों से यह सबसे महत्वपूर्ण मानवीय समूह है।

(२) प्राकृतिक होने के अलावा, यह सबसे अधिक सार्वत्रिक साहचर्य भी है। मनुष्य जाति में यह सारे भूमण्डल में होता है। यह चिड़ियों और पशुओं में भी मौजूद है।

(३) किसी परिवार के सदस्यों को एक दूसरे से बांधने वाले बंधन सबसे नजदीकी होते हैं। मनुष्य जाति के और किसी समूह में एकता के सम्बन्ध इतने प्रबल नहीं होते। परिवार का आधार रक्त का सम्बन्ध है।

(४) समय के लिहाज से परिवार प्राचीनतम समूह है।

### सब परिवारों की सार्वभौमिक विशेषताएं

निम्नलिखित विशेषताएं सब मानवीय परिवारों में होती हैं —

(१) पति और पत्नी के मध्य यौन और प्रेम सम्बन्ध सब मानवीय परिवारों की पहली विशेषता है।

(२) विवाह दूसरी विशेषता है। यौन सम्बन्ध के अलावा पति-पत्नी किसी तरह के विवाह से बंधे हुए होते हैं।

(३) सारी दुनिया में, परिवार से ही मनुष्य का वंश जाना जाता है।

(४) बच्चा सब मानवीय परिवारों का केन्द्र है। बच्चों का पालन-पोषण सब मानवीय परिवारों का ध्येय है।

(५) परिवार के सब सदस्यों का एक साझा निवास-स्थान होता है जिसे घर कहते हैं।

नाबालिग बच्चे हों। ऐसे परिवारों को अकेले परिवार कहते हैं। हमारे देश में प्रायः परिवारों में बड़े और विवाहित पुत्र, वृद्ध दादा-दादी, विधवा बहिनें और चाचियां आदि भी होती हैं। इन परिवारों को अविभक्त परिवार कहते हैं।

### अविभक्त परिवार प्रणाली

अविभक्त परिवार के कामों का प्रबन्ध सबसे बड़ा नर सदस्य करता है जो कर्त्ता कहलाता है। परिवार की सम्पत्ति के सब लोग स्वामी होते हैं और कर्त्ता इसका अभिरक्षक होता है। सब सदस्यों की कमाई इकट्ठी कर ली जाती है और वे मिलकर उसे बांट लेते हैं। अविभक्त परिवार प्रणाली छोटे पैमाने पर समाजवादी परीक्षण है। परिवार का हर एक सदस्य अपने सामर्थ्य के अनुसार काम करता और कमाता है और उसके बदले में, उसकी जरूरत के अनुसार उसे दिया जाता है।

### अविभक्त परिवार के लाभ

(१) अविभक्त परिवार प्रणाली बेशक सहयोगिता का एक महान प्रयोग है। यह मिलकर रहने और मिलकर काम करने का पाठ पढ़ाती है। यह परिवार के सदस्यों के मन में आदर, आज्ञापालन, अनुशासन, त्याग और सहनशीलता की भावनाएं पैदा करती है। इन गुणों से युक्त आदमी अच्छा नागरिक बन जाता है।

(२) पर इसका मुख्य लाभ यह है कि प्रत्येक को जीविका मिलनी निश्चित हो जाती है। अविभक्त परिवार अनाथों, रोगियों, बूढ़ों और विधवाओं के लिये, जिनके पास जीविका का और कोई साधन नहीं है, सुरक्षित आश्रय स्थान है।

(३) अविभक्त परिवार प्रणाली श्रम के विभाजन का भी बहुत अच्छा नमूना है। परिवार के सब सदस्यों को घर के किसी न किसी काम में लगा दिया जाता है और हरएक वह काम करता है जिसके लिये वह अधिक से अधिक योग्य है। इकट्ठे रहने और खाने से खर्च में भी बचत होती है।

(४) अन्तिम बात यह है कि अविभक्त परिवार परिवार की संस्कृति और बुद्धिमत्ता अगली पीढ़ी को पहुंचाने का सर्वोत्तम साधन है। बच्चों को बचपन से परिवार की परम्पराओं और प्रथाओं का पालन करना सिखाया जाता है।

### अविभक्त परिवार की हानियां

(१) पर अविभक्त परिवार प्रणाली मरती हुई संस्था है और इसकी उपयोगिता के बारे में बड़ा सन्देह होता जाता है। इसकी मुख्य हानि यह है कि यह आदमी के व्यक्तित्व के विकास के लिये खुला और पूरा मौका नहीं देती। आदमी अपनी सूझ-बूझ से कुछ नहीं कर सकता। उसे परिवार की दकियानूसी परम्पराएं माननी पड़ती हैं। फिर, हो सकता है कोई एक व्यक्ति जोखिम लेने को तैयार हो और परिवार के अन्य कमाने वाले लोग यह जोखिम उठाना पसन्द न करें।

(२) अविभक्त परिवार प्रणाली की दूसरी हानि यह है कि यह अपने सब सदस्यों को एक निश्चित ढांचे में ढालती है। सबको सख्ती से परिवार की परम्पराओं का पालन करना होगा। जवान लड़कों-लड़कियों की, शादी तय करने का काम भी

घर के बड़ों का है। इस तरह किसी के लिये नई बात सोचने या नया रास्ता बनाने की गुंजाइश नहीं। यह प्रवृत्ति स्वस्थ नागरिक जीवन के लिये बड़ी हानिकारक है।

(३) अविभक्त परिवार में अलग-अलग पसन्द, आदतों और स्वभावों के लोग होते हैं। उनकी रुचि और दृष्टिकोणों में कोई समानता नहीं होती और घर में झगड़े पैदा हो जाते हैं जिनसे सुख और शांति नष्ट हो जाती है।

### अविभक्त परिवार का भविष्य

अविभक्त परिवार प्रणाली अब अपनी मौत मर रही है। औद्योगिक समाज पैदा हो जाने, बहुत तरह के धंधे हो जाने, तालीम के फैल जाने और आने-जाने के साधन बढ़ जाने से भी पुराने अविभक्त परिवार को टूटने में मदद मिली। नयी पीढ़ी अपने लिये एक मधुर, एक अलग, घर बनाना चाहती है जहाँ वह अपनी इच्छा की गृह मालिक हो। परिणामतः किसी परिवार के सदस्य अपनी आमदनी के मुताबिक रहन-सहन का सुख भोगने के लिये अपनी इच्छा से अलग हो जाते हैं।

पर हमारा देश कृषि प्रधान देश है और इस रूप में अविभक्त परिवार हमारी जरूरतों के लिये बड़ा ठीक बैठता है। अविभक्त परिवार के टूटने से जोत छोटी रह जाएगी और इससे जो बुराइयाँ होती हैं वे सब होंगी। इसलिए यदि हम मिलकर एक ही मकान में नहीं रह सकते तो भी जहाँ तक जमीन के स्वामित्व और खेती का सवाल है, वहाँ तक हमें मिलकर रहना चाहिए।

### परिवार के कार्य

एक माध्यम के रूप में परिवार बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

### मनोवैज्ञानिक

मनुष्य और स्त्री का विवाह कर, इस रीति से सम्मिलन यौन प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने का सबसे अधिक नैतिक रास्ता है।

### जैविकीय (Biological)

परिवार का जैविकीय काम है मानव जाति के तन्तु को बढ़ाते जाना। इसमें सन्तान उत्पन्न करना और उसकी रक्षा करना, ये दोनों बातें शामिल हैं। सन्तान उत्पन्न करने का अर्थ है बच्चे पैदा करके मानव जाति को जारी रखना। पर बच्चों का पैदा हो जाना ही काफी नहीं, इनका पालन-पोषण और विनाश से रक्षा भी करनी होगी। जननीय प्रवृत्ति माता-पिता को अपने बच्चे की देखभाल करने की प्रेरणा देती है। बच्चों का पालन-पोषण बड़ा कठिन काम है। माता-पिता के अलावा और कोई बच्चों के लिए खुशी से अपने सुख की कुर्बानी नहीं कर सकता। बच्चे माता पिता से जो प्रेम और आदर दिखलाते हैं, उससे माता-पिता अपनी सब तकलीफों को भूल जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार के द्वारा प्रकृति सन्तान पैदा करने और उनकी रक्षा करने की अपनी योजना को अधिक से अधिक अच्छी रीति से पूरा करती है।

परिवार एक आर्थिक इकाई भी है। परिवार के सदस्य कर्तव्यों को आपस में बाँट लेते हैं और आपसी सहयोग से रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि परिवार

की आमदनी और खर्च अधिक से अधिक अच्छे तरीके से सफल जाते हैं। प्रत्येक सदस्य नकद धन द्वारा या अपने काम द्वारा परिवार को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने का भरसक यत्न करता है। खर्च में भी बरबादी से बचने के लिये सब तरह की सावधानी बरती जाती है।

दूसरी बात यह है कि परिवार के सदस्यों में आपसी प्रेम होने के कारण हर सदस्य बीमारी और बेरोजगारी में दूसरों की सहायता पर भरोसा कर सकता है। बूढ़े और असमर्थ माता-पिता अपने भरण-पोषण के लिये अपने जवान लड़कों पर भरोसा कर सकते हैं। इस अर्थ में परिवार एक बीमा कम्पनी का काम करता है।

तीसरे, पुराने जमाने में, जब पिता का हुनर लड़का सीखता था, परिवार एक शिल्पशाला का काम भी करता था।

## शिक्षात्मक, सांस्कृतिक और नैतिक

बच्चा परिवार में अपने माता-पिता की निगरानी में जन्म लेता है। वह हर चीज के लिए उन पर निर्भर है। माता-पिता उसे बोलना, अच्छा भोजन करना और कपड़े पहनना सिखाते हैं। बच्चे पर बहुत जल्दी असर पड़ता है, और उसमें नकल की प्रवृत्ति होती है। अनेक चीजों के बारे में उसका ज्ञान और राय तथा उसकी आदतें व पसन्द, तौर-तरीका और विश्वास, अधिकतर उसके माता-पिता से पाये हुए होते हैं। इस प्रकार शिक्षात्मक के अलावा परिवार का सांस्कृतिक महत्त्व भी है।

इसका नैतिक कार्य भी है। परिवार में ही बच्चे के चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण होता है। विशेष रूप से इस दिशा में माता बहुत कुछ कर सकती है। शिवाजी की महानता का अधिकतर श्रेय उनकी माता को ही था।

## नागरिक कर्तव्य

घर में ही आदमी सबसे पहले नागरिक कर्तव्य सीखता है। हम पहले देख चुके हैं कि व्यक्ति के जीवन में परिवार का क्या स्थान है? उसके चरित्र और व्यक्तित्व की नींव परिवार में ही पड़ती है। उसके व्यवहार और संस्कृति इसी में उसे मिलते हैं। बचपन में पैदा हुए गुण और दोष आदमी में बड़े होने पर भी बने रहते हैं। अनुशासन और आज्ञापालन, जो शान्तिपूर्ण नागरिक जीवन के लिये इतनी जरूरी चीजें हैं, बच्चा पहले परिवार में ही सीखता है। इस अर्थ में परिवार एक छोटा सा राज्य है।

हर मनुष्य को जीवन में औरों के अनुकूल बनकर चलना पड़ता है। बच्चे को परिवार के जीवन से अपने-आपको अनुकूल बनाना पड़ता है। कुर्बानी, सहिष्णुता और सहयोग आदि गुणों के बिना अनुकूलन सम्भव नहीं। माता-पिता अपने बच्चों की निःस्वार्थ सेवा द्वारा उनके सामने कुर्बानी का बहुत अच्छा उदाहरण पेश करते हैं। इस तरह बच्चा स्वार्थ छोड़कर सहयोग करना सीखता है। अनुभव से ही बच्चे यह सीखते हैं कि परिवार में अपने अधिकार पर जोर देने के साथ उन्हें कुछ कर्तव्यों की पूर्ति भी करनी चाहिए। इसी तरह उन्हें बहन-भाइयों से मतभेद होने पर उनका दृष्टिकोण भी मानना चाहिए और बहुत से नागरिक गुणों, जैसे सचाई, ईमानदारी, समय-पाबन्दता,

कर्त्तव्य की भावना और जिम्मेवारी, जो नागरिक जीवन के लिये बड़े महत्त्व के हैं, भी आदमी पहले परिवार में ही सीखता है। इस प्रकार नागरिक जीवन में परिवार बड़ा उपयोगी काम करता है।

### परिवार का भविष्य

पिछले १०० सालों में आधुनिक सभ्यता जिस तेजी से आगे बढ़ी है, उसमें परिवार का महत्व कम हो रहा मालूम पड़ता है। एलडस हक्सले जैसे लेखकों का विचार है कि शायद किसी दिन परिवार बिल्कुल खत्म हो जाये क्योंकि इसके सब महत्त्वपूर्ण कार्य समाज के अन्य साहचर्य अपने हाथ में लेते जा रहे हैं। कहा जाता है कि शिशु कल्याण केन्द्र और बाल सदन परिवार को बच्चे पालने के काम से छुटकारा दे देते हैं। सब उम्रों के बच्चों के लिये स्कूल खोलकर राज्य ने शिक्षा का काम अपने ऊपर ले लिया है। किंडर-गार्टन स्कूली बच्चों को नाजुक उम्र में उन्हें तालीम और शिक्षा देने का काम करते हैं। आर्थिक दृष्टि से लोगों में बाजार से बनी-बनाई वस्तुएं खरीदने की प्रवृत्ति है। होटल और रैस्टोरैंट हर पसन्द की चीज देते हैं और इस तरह घर में रसोई की जरूरत नहीं रहती। स्त्रियों में बढ़ती हुई पुरुषों से बराबरी और स्वतन्त्रता की भावना ने परिवार की नींव हिला दी है। स्त्रियां घर में बैठे रहने को तैयार नहीं। पुरुषों की तरह वे भी नौकरी करती हैं और स्वतन्त्र कमाई करना चाहती हैं। वे भी समाज में घूमना-फिरना चाहती हैं। तलाक ने विवाह-बन्धन का तोड़ना आसान कर दिया है। इन सब बातों को देखते हुए, आमतौर से कहा जाता है कि परिवार की इकाई टूटने की ओर बढ़ रही है।

पर हमें याद रखना चाहिए कि परिवार का भविष्य ऐसा निराशाजनक नहीं है। यह ठीक है कि परिवार की रचना और कामों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। इन सबके बावजूद इस बात का कोई सबूत नहीं कि परिवार टूट रहा है। अधिक से अधिक आगे बढ़े हुए देशों में भी परिवार मौजूद है। आदमी की जैविकीय और सामाजिक आवश्यकताओं के लिये इसे अब भी जरूरी समझा जाता है। स्त्रियों की पुरुषों के साथ बराबरी से पारिवारिक जीवन में अधिक तालमेल की संभावना है। सबसे बड़ी बात यह है कि परिवार में आपसी प्रेम, विश्वास, सहयोग और सहानुभूति का जो वातावरण होता है वह किसी और समूह में नहीं हो सकता।

### सारांश

साहचर्य या संघ लोगों का वह संगठित समूह है जो किसी खास साझे प्रयोजन की सिद्धि के लिये बनाया जाता है।

**साहचर्यों के प्ररूप**—साहचर्य स्वाभाविक या स्वेच्छया बनाये हुए, स्थायी या अस्थायी हो सकते हैं, और उनमें उनके कार्यों की प्रकृति के अनुसार भी भेद हो सकता है।

**साहचर्यों की उपयोगिता**—(१) मनुष्य की अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये साहचर्य की आवश्यकता है। (२) साहचर्य कठिन से कठिन उद्देश्य की

सिद्धि के लिये शक्ति की व्यवस्था करते हैं। (३) साहचर्य लोगों को अपने अधिकारों की रक्षा के योग्य बनाते हैं। (४) बिना साहचर्यों के, मनुष्य के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास सम्भव नहीं। (५) साहचर्यों द्वारा हम अपने मित्रों और परिचितों का दायरा बढ़ाते हैं।

साहचर्य और समुदाय—(१) समुदाय का संगठित होना आवश्यक नहीं। साहचर्य एक संगठित समूह है। (२) समुदाय के सदस्यों को बांधने वाली चीज साझा हित है। साहचर्य के सदस्यों का उद्देश्य या लक्ष्य साझा होता है। (३) समुदाय साहचर्य की अपेक्षा अधिक बड़ा समूह है। (४) गाव या शहर के अर्थ में समुदाय क्षेत्र को भी सूचित करता है। साहचर्यों में से सिर्फ राज्य में ही क्षेत्र होता है।

साहचर्य और संस्था—लोगों के संगठित समूह को साहचर्य कहते हैं। किसी संगठित समूह के सदस्यों के बीच के सम्बन्ध को निर्दिष्ट करने वाले, लिखे या बेलिखे नियमों के समूह को संस्था कहते हैं। *कालिज एक साहचर्य है, पर भाषण, परीक्षाएं और* आचार्य के आदेश इस साहचर्य की संस्था हैं।

## परिवार

परिवार पति, उसकी पत्नी और बच्चों, के उस प्राकृतिक साहचर्य को कहते हैं जो संतान पैदा करने और बच्चों के पालन-पोषण के लिये होता है और जिसके साथ कुछ नियम तथा कर्मकांड जुड़े रहते हैं।

इसकी विशेषताएं—(१) यह प्राकृतिक और सार्वत्रिक है। (२) इसके सदस्य घनिष्टतम बंधनों से बंधे होते हैं। (३) पति और पत्नी का यौन सम्बन्ध विवाह पर आधारित है। (४) वंशक्रम परिवार के जरिये होता है। (५) सब सदस्यों की रहने की जगह एक होती है जो घर कहलाती है।

परिवार का उद्गम और आधार—यह ज्ञात इतिहास के काल से पहले पैदा हुआ। एक अर्थ में यह मनुष्य से भी पहले का है। परिवार दो बलों, अर्थात् यौन बल और क्षुधा की पारस्परिक क्रिया का परिणाम है।

*परिवार के प्रकार—(१) वंशक्रम के आधार पर परिवार या तो पैतृक होते हैं* या मातृक अर्थात् या तो पिता के क्रम से वंश देखा जाता है, या माता के क्रम से। (२) विवाह के रूप के आधार पर, परिवार एकपत्नीय बहुपत्नीय या बहुपति हो सकता है। (३) इसकी बनावट के आधार पर परिवार अकेला या अविभक्त हो सकता है। अकेले परिवार में पति-पत्नी और उनके नाबालिग बच्चे होते हैं। अविभक्त परिवार में बड़े और विवाहित पुत्र, बूढ़े दादा-दादी, विधवा बहनें और चाचियां भी शामिल होती हैं। अविभक्त परिवार का मुखिया कर्ता कहलाता है। अविभक्त परिवार में सम्पत्ति सबकी इकट्ठी होती है और कमाई को इकट्ठा कर लिया जाता है और सब मिलकर उसका उपभोग करते हैं।

*अविभक्त परिवार की अच्छाइयां—यह सहकारिता का एक महान् परीक्षण है* और श्रम के विभाजन का एक अच्छा उदाहरण है। (२) इसमें हरेक को जीविका

५ "नागरिक जीवन घर में शुरू होता है"। इस कथन को स्पष्ट कीजिए।
(प० वि० अप्रैल १९५०)

5 Elucidate the statement that civic life begins at home.
(P U April 1950)

६. "घर नागरिक गुणों का पहला विद्यालय है", इसे स्पष्ट करो और इसको विवेचना करो।
(प० वि० सितम्बर १९५३)

6 "The home is the primary school of civic virtues'. Explain and discuss
(P U Sep 1953)

७ सक्षेप में परिवार के काम गिनाइये और बताइये कि नागरिक के जीवन में इसका क्या महत्व है?

7 Briefly enumerate the functions of family and also give its importance in the life of a citizen

८ साहचर्य के रूप में परिवार का भविष्य क्या है? क्या बिल्कुल इसके बिना काम चल सकता है?

8. Discuss the future of family as an association. Is it possible to do without it?

अध्याय : : ६

# समुदाय—गांव और नगर

## गांव

परिभाषा—गाव समाज की सबसे छोटी इकाई है। जब कई परिवार किसी निश्चित जमीन पर खेती और उससे सम्बन्धित और पेशो के लिये बस जाते है तो गाव बन जाता है। भारत में गाव कच्चे मकानो का वह समूह होता है, जिसमे कही कोई पक्का मकान हो और जिसके चारो ओर खेती की जमीने हो।

उद्गम—गाव की परिभाषा मे हम देख चुके है कि गाव समाज की एक प्रादेशिक इकाई है। इसका अर्थ यह है कि गाव तब पैदा हुए जब आदमी निश्चित प्रदेश पर स्थायी रूप से रहने लगा था। मानव समाज के विकास की पहली दो अवस्थाओ, अर्थात् शिकारी अवस्था और पशुपालक अवस्थाओ में मनुष्य बजारो का जीवन बिताता था। वह अपने लिये और अपने पशुओ के लिये भोजन खोजता हुआ एक जगह से दूसरी जगह फिरता रहता था। जब धीरे धीरे आदमी ने खेती करना सीख लिया, तब किसी खास जमीन में दिलचस्पी हो जाने से वह वहा स्थायी रूप से रहने को मजबूर हो गया होगा। जब उस जमीन पर खेती के लिए कई परिवार बस गये, तब गाव का जन्म हुआ।

एक बार पैदा हो जाने के बाद गाव के बसने म आसपास के परिवारों की दिलचस्पी बढ जाने से और प्रतिरक्षा, पानी, सफाई ओर शिक्षा आदि मिली-जुली समस्याओ से मदद मिली। ये समस्याए हल करने के लिये गाव वालो की इकट्ठी कोशिश और सहयोग की जरूरत थी। आदमी को रोजाना की जरूरतें पूरी करने के लिये भी सहयोग और श्रम का विभाजन जरूरी हो गया। कोई भी परिवार अपने लिये काफी अनाज, कपडा और अन्य वस्तुए नही बना सकता था। आत्मनिर्भरता गाव की एक पहचान हो गई।

पुराने और नये गाव—पुराने जमाने में गाव का जीवन आर्थिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियो से आत्मनिर्भर हुआ करता था। आर्थिक दृष्टि से गाव वाले अपनी श्रम-विभाजन द्वारा अपनी सब जरूरतें पूरी किया करते थे। किसान जमीन जोतता था और सारे गाव के लिये काफी अनाज और अन्य कच्चा सामान पैदा करता था। उसे गाव में इज्जत की स्थिति हासिल थी और लोग उसके अनाज में हिस्सा पाते थे और अलग-अलग तरह उसकी सेवा करते थे। लोहार और बढई उसका हल, बैलगाडी और खेती के अन्य औजार बनाते और सुधारते थे। जुलाहा घरो म औरतें द्वारा काते हुए सूत से कपडा बनाता था, चमार जूते बनाता था, इत्यादि।

राजनीतिक दृष्टि से भी पुराने जमाने के गाव अमल में आत्मनिर्भर हुआ

करते थे। वे गाव पचायतों द्वारा अपना काम-काज चलाते थे और अपने झगडे तय करते थे। नाम के लिए बेशक गाव किसी राज्य का हिस्सा होते थे पर असल में राज्य की राजधानी की सरकार उनकी जिन्दगी में कोई दखल न रखती थी।

पर आजकल गाव आत्मनिर्भर नहीं रहे। तेज सवारी और सचार साधनों ने उनकी आत्मनिर्भरता खतम कर दी। उनका पास के कस्बों और शहरों से सम्बन्ध जुड गया। शहर की फैक्टरी में बनी वस्तुए गावों में पहुँचने लगीं। आज हम गाव के आदमी को मिल में बने कपडे और जूते पहने देखते हैं। धातु के बर्तन, चीनी मिट्टी के बर्तन, लालटेन और रेडियो जैसी विलास-वस्तुए आजकल गावों में आमतौर से पायी जाती हैं। गाव वाला अपने बच्चों की तालीम के लिये शहरों के स्कूलों में भेजता है। राजनैतिक दृष्टि से भी पचायतों की सत्ता खत्म हो जाने के कारण गावों के झगडे शहरों की अदालत में तय होने लगे।

**नागरिक जीवन में गाव का महत्व**—गाव एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक, प्रशासनीय और राजनैतिक इकाई है।

**सामाजिक और सास्कृतिक महत्व**—प्रथम तो, गाव मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन्नत अवस्था को सूचित करता है। उसने पहले-पहल गाव में ही उन लोगों के साथ सहयोग करना और शान्तिपूर्वक रहना सीखा होगा जो उसके रक्त-सम्बन्धी नहीं थे।

दूसरी बात यह है कि गाव के जीवन में मनुष्य की उन प्रवृत्तियों को पूरा होने का मौका मिलता है जिनकी पूर्ति परिवार में नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी मित्रमडली चाहिए जिसके साथ वह बातचीत कर सके और हँसी-मजाक कर सके। गाव में यह इच्छा आसानी से पूरी हो सकती है, क्योंकि सब गाव वाले उसके रक्त-सम्बन्धी नहीं हो सकते।

तीसरे, नाटक, खेल, सगीत सम्मेलन और लोकनृत्य आदि मनोरंजन कम से कम गाव के ही स्तर पर हो सकते हैं। इसी प्रकार बच्चों की तालीम के लिये स्कूल भी सब गाव वालों के सहयोग से ही बनाए जा सकते हैं।

आर्थिक दृष्टि से गाव किसी देश में उत्पादन की महत्त्वपूर्ण इकाई है। हम अनाज और बहुत से उद्योगों के लिये कच्चा सामान गावों से ही हासिल करते हैं। गाव के खेतों की मालगुजारी या भूराजस्व राज्य की आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा होता है।

**प्रशासनीय और राजनैतिक महत्व**—किसी देश के प्रशासनतन्त्र में गाव के अधिकारी, जैसे पटवारी और मुखिया, महत्वपूर्ण कडी होते हैं। दूसरे, गाव पंचायत के काम में गाव वालों को जो सबक मिलता है, वह लोकतन्त्रीय शासन को सफल बनाने में बडी मदद करता है। पचायतों में गाव वाले अपने मामलों की देखभाल और प्रबन्ध खुद करना सीखते है। परिवार के बाद गाव ही लोकतन्त्र के नागरिक का असली शिक्षालय है।

तीसरे, गाव वाले आम तौर से रूढ़िप्रेमी दृष्टिकोण रखते हैं, जिससे देश के राजनैतिक जीवन में आकस्मिक परिवर्तन नहीं हो पाते।

चौथे, संतुष्ट, सरल और कानून-पालक गांव समुदाय सरकार की शक्ति और रीढ़ की हड्डी का काम भी देता है।

पांचवे, गांव वाले देश की रक्षा में बडा योग देते हैं। स्वस्थ और मेहनती गांव वाले अच्छे सिपाही बनते हैं।

## नगर

नगर गांव से बडी और अधिक आबादी वाली इकाई है। नगरो और महानगरो का जीवन गावो के जीवन की अपेक्षा अधिक समृद्ध और रगबिरगा होता है। गांव तो मुख्यत कृषिजीवी होता है, पर नगरनिवासी अधिकतर उद्योग, व्यापार, वाणिज्य और नौकरी में लगे रहते हैं।

**नगरो का उद्गम और वृद्धि**—नगर मनुष्य के सामाजिक जीवन के विकास में अगली सीढी हैं। जब तक मनुष्य की जरूरतें सादी थी, तब तक वे गाव में पूरी की जा सकती थीं। पर सभ्यता के बढने और मनुष्य की जरूरतो के बढ जाने पर मनुष्य बाहरी दुनिया से वस्तुओं की अदला-बदली करने लगा। व्यापार और वाणिज्य बढ गये और महत्वपूर्ण सडक और बाजार नगरो के रूप में बदल गये। कभी-कभी उन जगहो पर फैक्टरिया बनने से भी, जहा कच्चा मामान और शक्ति प्राप्त हो सकती थी, अनेक नगर और महानगर बन गए। बहुत से नगर कई गावो के मिलने से बन गये हैं। तीर्थयात्राओ और मेलो के स्थान, धार्मिक नदियो के किनारे, सैनिक महत्त्व की जगह और सरकारो की राजधानिया भी धीरे धीरे समृद्ध नगर बन गयीं।

**नगरों का महत्व**—नगरो का देश के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक जीवन में बडा महत्वपूर्ण स्थान है।

**आर्थिक**—गाव तो कृषि की इकाई है, पर नगर और महानगर उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के बडे केन्द्र हैं। बडी-बडी फैक्टरिया, जो हमारी राज की चीजो की सैकडो जरूरतें पूरी करती हैं, सिर्फ नगरो और महानगरो में होती हैं। इन फैक्टरियों में देश के लाखो आदमियो को रोजगार मिलता है। देश के अन्दर और बाहर सब तरह की वस्तुए बेचने और खरीदने के लिए थोक बाजार और बडे-बडे बैंक और कपनिया नगरो और महानगरो में ही होती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन में नगरो का भी उतना ही महत्वपूर्ण हिस्सा है।

**सामाजिक**—मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति को नगर में होने वाले अनेक तरह के साहचर्यों में अधिक सतोष हासिल होता है। नगर और महानगर विनोद और मनोरंजन के भी महत्वपूर्ण केन्द्र हैं। सिनेमा, नाचघर, खेल के मैदान, पार्क, व्यायामशालाए, क्रीडागार और संग्रहालय ऐसी जगहें हैं, जहाँ नगर-निवासी आ सकते हैं और लाभदायक मनोरजन हासिल कर सकते हैं।

**सांस्कृतिक**—उपर्युक्त सब स्थान तथा विश्वविद्यालय, कालेज, स्कूल, पुस्तकालय, कला और दर्शन के विद्यालय, वादविवाद सभाए, नाटक, सगीत और रोटरी समाजें, नगरो में राष्ट्रीय सस्कृति फैलाती हैं। शिष्टाचार और फैशन भी नगरों

और महानगरो में शुरू होते हैं।

राजनैतिक—नगरों और महानगरो के निवासियो का दृष्टिकोण प्रगतिशील होता है। परिवर्तन के लिये महत्वपूर्ण आन्दोलन नगरो से ही चलते है। दलीय प्रचार आदोलन, सम्मेलन, जलूस और सार्वजनिक सभाए नगरो में रोजाना हुआ करती है। इसी कारण नगर-निवासी को राजनैतिक शिक्षा भी अधिक अच्छी मिल जाती है, उसे देश में होनेवाली हर बात की पूरी जानकारी रहती है। सरकारो की राजधानियां भी नगरो में होने के कारण इन स्थानो के निवासियो को सरकार की नीतियो और कार्यों के बारे में अधिक अच्छी जानकारी मिल जाती है। राजनैतिक दलो के दफ्तर भी नगरो में होते हैं। इस प्रकार नगर राजनैतिक हलचल के बड़े केन्द्र बने रहते हैं। हर नगर में अपना प्रबन्ध आप करने वाली कोई संस्था होती है, जैसे नगरपालिका, जो शिक्षा, सफाई, डाक्टरी मदद, नालियो, बिजली और मकान, आदि सब नगरनिवासियो के हित की चीजो का प्रबन्ध करती है।

## प्रान्त

प्रात किसी देश के प्रदेश के बड़े टुकड़े को कहते है, जिसमें अनेक नगर और महानगर होते हैं। शासन की सुविधा के लिये देश को आमतौर से कई प्रान्तों में बांट दिया जाता है। इसलिए प्रात मुख्यतः प्रशासनीय और राजनैतिक इकाई है। कभी-कभी देश में शान्ति के बाद पहले वाले राज्यो को नए राज्यो के प्रान्त बनाकर रख लिया जाता है। प्रान्तो की सीमा रेखा सस्कृति और भाषा के आधार पर भी खींची जा सकती है। प्रान्त में सार्वजनिक जीवन और स्वशासन की शिक्षा के लिये और भी बड़ा क्षेत्र मिलता है।

देश—देश शब्द भौगोलिक अर्थ का सूचक है। भौगोलिक दृष्टि से दुनिया कई प्राकृतिक खंडो में बटी हुई है और प्रत्येक खंड समुद्र, पहाड़ो या नदियों द्वारा दूसरे से अलग है। ऐसी प्राकृतिक रुकावटो से दो खंडो के बीच आना-जाना कठिन हो जाता है। इसलिए अलग-अलग भूखंडो के लोगो का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सास्कृतिक जीवन का विकास अलग-अलग रूप में होता है। एक भूखंड के अन्दर लोगो के रहन-सहन का तरीका, भावनाए और विचार स्वार्थ और समस्याए एक से होते है। देश शब्द का प्रयोग जब राजनैतिक दृष्टि से होता है तब यह उसी अर्थ का वाचक होता है जिसका वाचक राष्ट्र शब्द है। देश के सदस्य के नाते आदमी का अधिक विस्तृत दृष्टिकोण होना चाहिए। उसे अपने निजी और स्थानीय हितों के मुकाबले में सारे देश के अधिक ऊंचे हितों को महत्व देना चाहिए।

कभी ऐसा हो सकता है, कि अनेक समूहों के प्रति उसकी निष्ठाओं में विरोध हो जाए। उदाहरण के लिये, उसका अपना हित उसके परिवार के हित का विरोधी हो, या उसके परिवार का हित उसके गांव के हित का विरोधी हो, इत्यादि। तो फिर आदमी अपनी निष्ठाओं को कैसे काम में लाये?

अपनी निष्ठाओं के प्रयोग की बात सोचते हुए आदमी को यह देखना चाहिए कि कौन सा दायरा उसके व्यक्तित्व की आवश्यकताओं को अधिक पूरा करता है। उदाहरण के लिए, उसकी निष्ठा पर प्रांत, गांव या परिवार का जितना दावा हो सकता है, उससे अधिक दावा देश का है। देश अस्पताल खोलकर उसकी स्वास्थ्य रक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता है, स्कूल और कालेज खोलकर उसकी बुद्धि को तीव्र और उसके दृष्टिकोण को विस्तृत कर सकता है, और सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुएं बनाकर उसके जीवन को आरामदेह और सुखी बना सकता है। देश आदमी के जीवन को भीतरी अराजकता और बाहरी हमलों से बचाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मानवता, देश, प्रांत, जिले, गांव या नगर, और परिवार का इसी क्रम से उसके ऊपर पहले अधिकार होगा। व्यक्ति का अपना हित या अपने ऊपर व्यक्ति का दावा सबसे अन्त में आएगा। आदर्श नागरिक वह है जिसकी निष्ठाएं उचित रीति से प्रयोग में आती हैं और जो अपनी अनेक निष्ठाओं में विरोध नहीं पैदा होने देता।

पर निष्ठाओं की सही व्यवस्था का यह अर्थ नहीं कि किसी एक सामाजिक इकाई के दावों को बिलकुल उपेक्षित कर दिया जाए। आदमी को प्रत्येक इकाई की ओर उचित ध्यान देना चाहिए। उसे अपना आचरण ऐसा बनाना चाहिए कि उसकी अनेक निष्ठाओं के मध्य विरोध के मौके कम से कम रह जाएं। पर वास्तविक व्यवहार में निष्ठाओं की व्यवस्था बहुत दूर तक आदमी के चरित्र पर निर्भर है। बहुत बार हम देखते हैं कि आदमी के लिए अपने गांव, प्रांत या देश के हित में अपने या अपने परिवार के स्वार्थों की कुर्बानी करना कठिन हो जाता है। नागरिक शास्त्र का अध्ययन आदमी को यह शिक्षा देकर कि उसे बड़े समूह के हितों के सामने अपने हितों को गौण कर लेना चाहिए, सही नागरिक बुद्धि का विकास करता है।

## सारांश

गांव—गांव एक क्षेत्रीय समुदाय है जिसके सदस्यों का कृषि और सम्बन्धित धंधों में सामान्य हित होता है।

इस प्रकार, खेत गांव की परमावश्यक विशेषता है। यह तब ही अस्तित्व में आ गया होगा जब मनुष्य ने खेती की कला सीखी।

पुराने जमाने में गांव आर्थिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से आत्मनिर्भर हुआ करता था, और आज के जमाने में संचार के अधिक तेज साधनों के आविष्कार ने इस आत्मनिर्भरता को खत्म कर दिया है।

गांव का महत्व—(१) सामाजिक दृष्टि से गांव मनुष्य के सामाजिक जीवन में एक उन्नत सीढ़ी का सूचक है। गांव में ही उसने पहली बार उन लोगों से सहयोग

करना सीखा जो उसके सगे सम्बन्धी नहीं थे । गाँव में मनुष्य की मित्रों के साथ रहने की इच्छा की भी पूर्ति हो सकती है । (२) सांस्कृतिक दृष्टि से कुछ मनोरंजन, जैसे नाटक और नाच, कम से कम गाँव के स्तर पर हो सकते हैं । (३) आर्थिक दृष्टि से गाव उत्पादन की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है । हमें अनाज और उद्योगों के लिये कच्चा सामान गावों से ही मिलता है । (४) राजनैतिक दृष्टि से गाव प्रशासन की सबसे छोटी इकाई है । गाव पचायतें लोगों को लोकतन्त्र की शिक्षा देती है । गाव वालों की रूढ़िप्रियता से क्रान्तियां होने में बड़ी रुकावट रहती है ।

नगर—नगर गाव की अपेक्षा बड़ा और अधिक आबादी वाला होता है । इसके लोग अधिकतर उद्योग, व्यापार, वाणिज्य और नौकरी में लगे रहते हैं ।

शहर गावों के बाद बने । लोगों की बढ़ती हुई जरूरतों ने उन्हें बाहर की दुनिया को अपनी वस्तुएं देने और उनकी वस्तुए लेने को मजबूर किया । साधारणतया नगर महत्त्वपूर्ण सड़कों के मिलने की जगह, मंडियों में, तीर्थयात्रा और मेले के स्थानों पर, सामरिक महत्त्व के स्थानों पर और सरकार के अधिष्ठान पर बने ।

नगरों का महत्व—आर्थिक दृष्टि से नगर और महानगर उद्योग, व्यापार और वाणिज्य के महत्त्वपूर्ण केन्द्र होते हैं । फैक्टरियां, बैंक और बड़े बाजार अधिकतर नगरों और महानगरों में होते है । सामाजिक दृष्टि से नगरों में होने वाले अनेक तरह के साहचर्यों में सामाजिक भावना की पूर्ति के लिये अधिक बड़ा क्षेत्र मिल जाता है । सांस्कृतिक दृष्टि से महानगरों में विश्वविद्यालय, पुस्तकालय, कला विद्यालय, नाटक और संगीत गोष्ठियां, ये सब सांस्कृतिक हलचल के केन्द्र होते हैं । राजनैतिक दृष्टि से नगर-निवासियों का दृष्टिकोण प्रगतिशील होता है । आन्दोलन, सम्मेलन और सार्वजनिक सभाएं नगरों में होती रहती हैं । राजनैतिक दलों के दफ्तर नगरों में होते हैं । सरकार की राजधानी भी महानगरों में होती है ।

प्रान्त—प्रान्त प्रथमतः एवं प्रशासनीय और राजनीतिक इकाई है । प्रत्येक राज्य या देश को प्रशासनीय प्रयोजनों के लिये प्रान्तों में बाटा जाता है । प्रान्त में सैकड़ों गाव और नगर होते हैं ।

देश—संसार के उस भौगोलिक विभाजन को देश कहते हैं जो प्राकृतिक सीमाओं द्वारा ऐसे ही अन्य विभाजनों से पृथक् कर दिया जाता है ।

निष्ठाओं को ठीक क्रम देना—आदमी अनेक दायरों अर्थात् परिवार, गाव या शहर, प्रान्त, देश और सारी दुनिया का सदस्य होता है । ये सब दायरे उसे लाभ पहुचाते हैं, और इसलिए उसकी निष्ठा मांगते हैं । कभी-कभी उसकी एक दायरे के प्रति निष्ठा उसकी दूसरे दायरे के प्रति निष्ठा की विरोधी हो सकती है । तो, आदमी को अपनी निष्ठाओं को कैसे क्रमबद्ध करना चाहिए ? उसकी निष्ठा सदा अधिक बड़े दायरे के प्रति अधिक बड़ी होनी चाहिए क्योंकि दायरा जितना बड़ा होगा, वह उतना ही उसके व्यक्तित्व की आवश्यकताओं को अधिक पूरा करने वाला होगा । तो भी उसे किसी भी सामाजिक इकाई के दावे की पूरी तरह उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । सच तो यह

है कि उसे अपना आचरण ऐसा बनाना चाहिए कि उसकी अनेक निष्ठाओं में कोई विरोध पैदा न हो सके।

## प्रश्न

## Questions

१. गाव और नगरों का राष्ट्रीय जीवन में क्या स्थान है? (यू० पी० १९३१)

1 What important part do villages and towns play in national life? (U P 1931)

२ गांव किसे कहते हैं? किसी राष्ट्र के नागरिक जीवन में इसके कार्य और महत्व बताइये।

2 What is a village? Describe its functions and importance in the *civic life of a nation.*

३ निष्ठाओं के सही प्रयोग से आप क्या समझते हैं? किसी नागरिक को अपनी निष्ठाओं का कैसे प्रयोग करना चाहिए और क्यों?

3 What do you understand by 'right ordering of loyalties? How should a citizen order his loyalties and why?

४ बताइये कि कहाँ तक नागरिकता का अर्थ निष्ठाओं का सही प्रयोग है।

(प० वि० अप्रैल, १९५१)

4. Show how far citizenship means *the right ordering of loyalties.* (P U. 1951)

अध्याय : : ७

# सामाजिक संस्थाएं

## सम्पत्ति, जाति और धर्म

### सम्पत्ति

**सम्पत्ति का अर्थ**—सब आदमी और आदमियों के समूह भौतिक और अभौतिक वस्तुओं के स्वामी होते हैं, अर्थात् उन पर सम्पत्ति के अधिकार भोगते हैं। सम्पत्ति शब्द में जमीन, फैक्टरी, मकान, पशु, घरेलू सामान, और धन आदि भौतिक वस्तुएं शामिल हैं। इसमें पेटेंट या एकस्व, प्रतिलिप्यधिकार या कापीराइट और किसी कारबार या फर्म की ख्याति या साख (Good will) जैसी अभौतिक वस्तुएं भी शामिल हैं। किसी समय लोग पुरुषों और स्त्रियों के भी स्वामी होते थे और ये उस समय गुलाम कहलाते थे।

**सम्पत्ति का महत्व**—सम्पत्ति मनुष्य और समाज दोनों के लिये महत्वपूर्ण है। मनुष्य के लिये यह इस कारण महत्वपूर्ण है, क्योंकि यदि उसे सम्पत्ति रखने दी जाती है तो उसकी काम करने की इच्छा बढ़ जाती है। बहुधा हम मनुष्य की योग्यता को उसकी निजी सम्पत्ति की मात्रा से नापते हैं क्योंकि हम समझते हैं कि योग्य आदमी अधिक कमाता है और अधिक बचाता है। सम्पत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए बड़ी आवश्यक है। समाज के लिये सम्पत्ति का महत्व इस बात से प्रकट होता है कि सामाजिक जीवन के अधिकतर झगड़ों में इस पर ही विवाद होता है। निजी सम्पत्ति की प्रणाली से धन की विषमता पैदा होती है और इसके साथ गरीबी और बेरोजगारी की समस्याएं आती हैं, जो लोगों में कई तरह के अपराध और दुर्गुण पैदा करती है। राज्य भी, जो सामाजिक संगठन का सबसे ऊंचा रूप है, लोगों की सम्पत्ति की रक्षा के लिये बना था। बहुत बार सम्पत्ति के पीछे ही राष्ट्रों में युद्ध होते हैं। इसके अलावा, सम्पत्ति का महत्व इस बात से भी पता चलेगा कि मानव सभ्यता मनुष्य की सम्पत्ति बढ़ने के कारण ही आगे बढ़ सकी है। शिकारी जमाने में मनुष्य के पास कोई खास सम्पत्ति नहीं होती थी, पर आजकल उसकी सम्पत्ति में अनन्त वस्तुएं हैं। सच तो यह है कि अगर आज की सभ्यता में से सम्पत्ति की संस्था को निकाल दिया जाए तो सभ्यता का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा।

**सम्पत्ति का उद्गम और वृद्धि**—सम्पत्ति की संस्था पहले शिकारी कबीलों में पैदा हुई। पहले पत्थर के औजार और हथियार जैसी चल वस्तुएं ही सम्पत्ति होती थी, और ये उसकी ही होती थी जिसका इन पर असल में कब्जा होता और जो इनका प्रयोग करता। खेती की जमीन और मकानों के रूप में अचल सम्पत्ति खेती के साथ आई। कृषि की आरम्भिक अवस्था में जमीन उसकी होती थी, जो उस पर पहले दखल कर ले। उद्योग का विकास होने पर सम्पत्ति सम्बन्धी विचार बदल गए। अब यह भी महसूस

किया जाने लगा कि जिस चीज में आदमी अपनी मेहनत लगाए, वही उसकी सम्पत्ति है।

पर आजकल कोई भी इस जांच पड़ताल में नहीं पड़ता कि शुरू में सम्पत्ति का जन्म कैसे हुआ। हम सब लोग सम्पत्ति की संस्था को एक सत्यापित तथ्य के रूप में समझते हैं। आजकल इसकी मान्यता कुछ तो प्रथा से और कुछ कानून से है। अधिकतर देशों के कानून आजकल निजी सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी इस अधिकार को मानता है।

निजी सम्पत्ति का अधिकार निरुपाधि अधिकार (absolute right) नहीं, पर यह याद रखना चाहिए कि अन्य सब अधिकारों की तरह सम्पत्ति का अधिकार भी सीमित किया जा सकता है। स्वाभाविक के "नैसर्गिक अधिकार" (natural right) या सम्पत्ति के निरुपाधि अधिकार जैसी कोई चीज नहीं है। प्रागैतिहासिक काल में बल ही एकमात्र अधिकार था। व्यक्ति का अपनी सम्पत्ति पर अधिकार धीरे-धीरे ही माना जाना शुरू हुआ। पहले यह प्रथा पर आधारित था, और फिर कानून द्वारा माना जाने लगा। सम्पत्ति पर अधिकार तब तक माना जाता रहेगा, जब तक यह आदमी और समाज, दोनों के लिये उपयोगी और आवश्यक समझा जाता है। समाजवादी विचारधारा ने असीमित निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाज के लिये अहितकर बताया है। इस विचारधारा के प्रभाव से बहुत से देशों में निजी सम्पत्ति के अधिकार पर पाबन्दियां लगा दी गई हैं, और लगाई जा रही हैं।

समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण—इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। इनका अर्थ है सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व। राष्ट्रीयकरण का विचार समाजवादी विचारधारा का परिणाम है। समाजवादियों का कहना है कि फैक्टरियों और उत्पादन के अन्य साधनों के रूप में निजी सम्पत्ति थोड़ा ही सम्पत्ति की बहुत बड़ा विषमता पैदा कर देती है। धन ही शक्ति है इसलिए असीमित निजी सम्पत्ति न केवल आर्थिक विषमताएं पैदा करती हैं, बल्कि सामाजिक और राजनैतिक विषमताओं को भी जन्म देती है। इस प्रकार धन का असीमित संचय अलोकतन्त्रीय समझा जाता है। यह इसलिए भी समाज के लिए हानिकारक समझा जाता है, क्योंकि इससे धनी आदमी दूसरों के बल पर और अधिक धनी हो जाता है और दूसरे ज्यादा और ज्यादा गरीब होते जाते हैं। इस कारण समाजवादी उत्पादन के सब साधनों, अर्थात् भूमि, फैक्टरियों और बैंकों, पर राज्य का स्वामित्व कर देने के हामी हैं। वे सारी निजी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते, बल्कि इसके सिर्फ उस हिस्से का राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं जिससे और धन पैदा होता है। समाजवाद में फैक्टरियों का नफा राजकोष में जाएगा, और वहीं से वह राज्य के सब लोगों के लाभ के लिये खर्च किया जाएगा। समाजवादी शान्तिपूर्ण और क्रमिक उपायों से तथा मुआवजा देकर राष्ट्रीयकरण करने के पक्षपाती हैं, पर कम्युनिस्ट या साम्यवादी क्रान्तिकारी और हिंसक उपायों से तथा बिना मुआवजा दिये ही राष्ट्रीयकरण करने के पक्षपाती हैं।

दूसरी बात यह है कि आदमी की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में प्राप्त हिस्से का

समानीकरण करने के लिये कहा जाता है। कहा जाता है कि जो सम्पत्ति व्यक्ति को अपने पुरखों से मिलती है उसके लिए वह स्वयं कोशिश या कुर्बानी नहीं करता। इसलिए उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति निकम्मे लोगों का एक दल पैदा कर देती है और इसलिए वह समाज के लिए हानिकारक समझी जाती है। इसे अगर एकदम नहीं तो थोड़ा-थोड़ा करके राज्य की सम्पत्ति बना लेना चाहिए। बहुत से उन्नत देशों में उत्तराधिकार में मिली सम्पत्ति थोड़ी-थोड़ी करके समाज के अधिकार में लेने के लिये मृत्यु और उत्तराधिकार शुल्क लगाए जाते हैं।

**निजी सम्पत्ति के पक्ष और विपक्ष में युक्तियां**—(१) निजी सम्पत्ति अर्जन (acquisition) की प्रवृत्ति पर आधारित है, जो मनुष्य में बड़ी प्रबल होती है। इसलिए निजी सम्पत्ति वैसे ही नैसर्गिक है जैसे परिवार, जो यौन और जनकीय प्रवृत्तियों के आधार पर बनता है। यह आदमी के स्वभाव के लिये परिवार के ही समान जरूरी भी है। कोई भी आदमी, चाहे वह कितना भी सुसभ्य और बुद्धियुक्त हो, सम्पत्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति से खाली नहीं है। हम रोज देखते हैं कि निजी सम्पत्ति में मनुष्य का अनुराग और इससे मिलने वाला आनन्द सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रभाव और आनन्द से कहीं अधिक होता है। इसलिए यह कहा जाता है कि सम्पत्ति एक नैसर्गिक संस्था है।

(२) सम्पत्ति होने से इसके स्वामी को कुछ सुरक्षा अनुभव होती है। अगर निजी सम्पत्ति न हो तो किसी के पास भविष्य के लिये कोई व्यवस्था न होगी और इसलिए सुरक्षा की भावना भी नहीं होगी। मनुष्य तभी उन्नति कर सकता है जब उसे निश्चिन्तता हो।

(३) सम्पत्ति से इसके स्वामी को कुछ आजादी की भावना भी मिलती है। जिस आदमी के पास जीवन-धारण के लिये कुछ साधन हैं, उसे अपनी पसन्द न आने वाला काम स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार अपनी योग्यता का उपयोग कर सकता है। सभ्यता की उन्नति तभी होती है जब प्रत्येक व्यक्ति वह काम करे जिसके लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त है।

(४) सम्पत्ति रखने का अधिकार मनुष्य को इच्छापूर्वक और अच्छी तरह काम करने के लिये आकृष्ट करता है। इस प्रकार, निजी सम्पत्ति उत्पादन के लिये बड़ी प्रेरणा होती है।

(५) सम्पत्ति रखने के अधिकार से धन बचाने को बढ़ावा मिलता है और इसके न होने पर आदमी धन बरबाद कर देता है। अनेक तरह के उत्पादक कामों में लगाने के लिये धन बचाना बहुत जरूरी है। अगर बचत न होती तो लोग बड़ी-बड़ी फैक्टरियां, कम्पनियां और कारबार न खड़े कर पाते।

सहारा मिलता है जिनकी जीविका उत्तराधिकार में प्राप्त और संचित निजी सम्पत्ति पर होती है। अगर हर आदमी को अपनी जीविका कमानी पड़े और उसके पास कोई खाली समय न हो तो ये विज्ञान और कलाएं खत्म हो जाएंगी।

**विपक्ष में युक्तियां**—समाजवादी और कम्युनिस्ट निजी सम्पत्ति के विपक्ष में युक्तियां देते हैं। वे इस पर निम्नलिखित कारणों से आपत्ति उठाते हैं —

(१) निजी सम्पत्ति की प्रणाली मनुष्य को लोभी और स्वार्थी बना देती है और आम तौर पर समाज में झगड़ों का कारण होती है।

(२) इससे धन की विषमता पैदा होती है। आर्थिक विषमता से सामाजिक और राजनैतिक विषमता का जन्म होता है। इसलिए निजी सम्पत्ति आलोचनीय है।

(३) निजी सम्पत्ति की प्रणाली अदक्ष लोगों को जीने और फलने फूलने का अनुचित रूप से मौका देती है। दूसरी ओर, उन लोगों को जो योग्य और दक्ष हैं, और सम्पत्ति से हीन हैं, प्रायः जीवन की आरम्भिक सुविधाएं भी नहीं मिलतीं।

(४) सम्पत्ति होने से मनुष्य को सुरक्षा और आजादी की भावना तो मिल सकती है, पर यह उसे निकम्मा और फिजूलखर्च भी बनाती है। वह अपना समय और शक्ति उत्पादक कार्यों में लगाने के बजाय निरर्थक कामों में लगा सकता है।

(५) मनुष्य सदा निजी धन-लाभ की प्रेरणा से ही काम नहीं करता। बहुधा लोग समाज में यश और सम्मान पाने के लिये काम करते हैं और काम करने के लिये प्रेरित किये जा सकते हैं।

(६) कला, विज्ञान और साहित्य की उन्नति के लिये निजी सम्पत्ति को उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह काम विश्वविद्यालयों और अन्य निगमित निकायों (corporate bodies) द्वारा, जिनमें राज्य भी है, अधिक सरलता और दक्षता से किया जा सकता है। राज्य द्वारा कला, विज्ञान और साहित्य के संरक्षण के उदाहरण भूतकाल के भी हैं और वर्तमान काल के भी।

(७) अन्ततः यह कहा जाता है कि निजी सम्पत्ति तभी उचित ठहराई जा सकती है, जब वह समाज के लिये उपयोगी या हितकर हो। अगर निजी सम्पत्ति से वे ही बुराइयां पैदा होती हैं जिनसे समाज आज कष्ट उठा रहा है तो इसकी कोई उपयोगिता नहीं और इसे खत्म कर देना चाहिए।

**निष्कर्ष**—हम मानते हैं कि निजी सम्पत्ति का कोई निरुपाधि अधिकार नहीं हो सकता। ऐसा कोई भी अधिकार सामाजिक दृष्टि से उचित होना चाहिए। तो भी, आदमी की रोजाना की जरूरत में आने वाली कुछ वस्तुओं पर निजी स्वामित्व से न केवल उसकी उसकी दक्षता बढ़ जाती है, बल्कि सामाजिक जीवन में गड़बड़ी भी रुक जाती है। जमीन और भारी मशीनों का, जिनसे और सम्पत्ति पैदा होती है, निजी स्वामित्व राज्य को सौंपा जा सकता है, पर ऐसा होने से पहले इसके स्वामी को उचित मुआवजा अवश्य मिलना चाहिए। असल बात यह है कि यह तय करना बड़ा कठिन है कि किस सीमा तक सम्पत्ति का निजी या सार्वजनिक रहने दिया जाए।

## जाति या वर्ण

हर एक समाज के सदस्यों में कोई न कोई भेदभाव आमतौर से पाया जाता है। ये भेदभाव, चाहे ये जन्म के आधार पर हो या धन सम्पत्ति के, समाज को कई समूहों में बाट देते है, जो श्रेणिया या वर्ग कहलाते है। पुराने जमाने मे जन्म या कुलीनता, खास तौर से इन्डो-यूरोपीय भाषा बोलने वाले लोगो में, विशेषता प्रकट करने वाली महत्वपूर्ण बात रही है। आज के जमाने में जन्म का इतना महत्व नही है जितना धन का।

जाति प्रथा या वर्ण व्यवस्था अनेक देशो में फैली हुई है पर तीन दृष्टियो से यह भारत की खास चीज है :—

(१) भारत में ही जातियो की सख्या हजारो में है और कही ऐसा नही है।

(२) जातियो की प्रणाली और योजना जितनी बारीकी से भारत मे बनाई गयी है उतनी और किसी देश में नही है।

(३) और कही स्पृश्य और अस्पृश्य का भेदभाव नही है।

**जाति प्रथा की कुछ विशेषताए**—यद्यपि जाति की अनेक परिभाषाए है, फिर भी ऐसी कोई व्यापक असली परिभाषा नही है, जिसमें जाति प्रथा की सब विशेषताए आ जाय। असल में, जाति प्रथा इतनी जटिल चीज है कि इसकी परिभाषा करना कठिन है। ज्यादा से ज्यादा हम इसकी कुछ विशेषताए बता सकते है। जाति की कुछ विशेषताए ये है —

(१) हर जाति का एक नाम है जिससे उसके सदस्य पुकारे जाते है।

(२) पुराने जमाने में सब जातियो की पचायतें होती थी, जो अपने सदस्यो पर अर्धसर्वोच्च सत्ता (semi-sovereign authority) का प्रयोग करती थी। पचायत का मुख्य काम फैसले करना होता था।

(३) जाति प्रथा की एक खास विशेषता यह थी कि एक जाति के सदस्य कुछ ~~ जातियो के लोगो के हाथ का भोजन नही करते थे। नये जमाने के साथ यह बात तेजी से खत्म होती जा रही है।

(४) एक और महत्वपूर्ण रोक, जो अब भी बहुत कुछ अमल में आती है, अपनी जाति से बाहर शादी करने के बारे में थी।

(५) जाति की सदस्यता जन्म से होती थी। व्यक्ति के गुणो का उसमें कोई दखल न था।

(६) ऊची जातियो के लोगों को नीची जातियो के लोगो के मुकाबले में समाज में कुछ विशेष सुविधाए हासिल थी। नीची जाति वाले लोगो को शिक्षा, पूजा और पेशा बदलने के मामलो में बडी रुकावटें थी।

**जाति प्रथा का उद्गम और वृद्धि**—भारत में जाति का सबसे पुराना उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। आर्यों ने जाति प्रथा प्रथम तो द्रविडो से, जिनका रग काला था, अपने रक्त की शुद्धता बनाए रखने के लिए, और दूसरे, युद्ध में दुश्मनों के मुकाबिले में अपनी क्षमता बढाने के लिये शुरू की थी। चार जातियो में श्रम के

विभाजन या वामो के बटवारे से उनके लिए लडते रहना और साथ ही साथ अपनी दूसरी जरूरतें पूरी करते रहना सम्भव हो गया। शुरू के जमाने में जाति प्रथा कठोर नहीं थी। पेशा बदला जा सकता था। दूसरी जाति में भोजन और विवाह करने की पाबन्दी भी इतनी सख्त नही थी। धीरे धीरे जाति प्रथा कठोर हो गयी और आदमी जन्म से ही किसी जाति का सदस्य होने लगा। निम्नलिखित कारणो के प्रभाव से जातियो की संख्या भी बढ़ने लगी —

(१) **काम-धंधों की वृद्धि**—लोगो के आर्थिक जीवन में तरक्की के साथ काम-धंधो की संख्या बढ गई। अलग-अलग पेशे और धंधे करने वाले लोगो ने अपनी अलग जातियां बना ली, यद्यपि शुरू म वे किसी एक ही जाति के रहे होगे।

(२) **पूजा की रीति**—अलग-अलग देवताओं की पूजा से भी जातियो में भेद पैदा हो गया।

(३) **निवास और भाषा**—एक ही जाति के लोग देश के अलग-अलग भाषा और संस्कृति वाले अलग-अलग भागो में निवास करने लगे। इस कारण भी अलग जातियां बन गई।

(४) **विदेशी आक्रमण का प्रभाव**—विदेशी आक्रमणो के प्रभाव से भी जातियो की संख्या बढ गई। ग्रीक, हूण, कुशान आदि शुरू के आक्राता हिंदू जाति में विलीन हो गए। पर उन्होंने अपनी अलग जातियां बना ली विदेशी आक्रमणों ने भी जाति प्रथा को कठोर बना दिया।

**जाति प्रथा के लाभ**—किसी समय जाति ने बड़ा उपयोगी काम किया

(१) जाति प्रथा के कारण आर्य लोग अपनी रक्त की शुद्धता कायम रख सके।

(२) जाति प्रथा द्वारा श्रम के विभाजन ने उनकी द्रविडो से लडने की शक्ति बढ़ा दी।

(३) पेशा बदलने के बारे में पाबन्दी लगा दी गई। जाति प्रथा ने विभिन्न दस्तकारियो में कौशल और ज्ञान की विशेष योग्यता पैदा की। धंधे का कौशल पिता से पुत्र को प्राप्त हो जाता था।

(४) सदस्यों की बन्धुता और सहयोग की भावना कठिनाई के समय काम आती थी।

(५) जाति प्रथा की कठोरता ने हिन्दू समाज को विनाश से बचाया है। इस प्रथा ने विदेशियो को इसमें विलीन होने में सहायता दी। जो आक्राता, जैसे मुसलमान, हिन्दू समाज म विलीन नही हो सके, वे जाति से बाहर खाने और जाति से बाहर शादी करने के बारे में कठोरता के कारण, जो जाति प्रथा की विशेषताए थी, हिन्दू धर्म को नष्ट नहीं कर सके।

**जाति प्रथा की हानियां**—(१) जाति प्रथा जन्म को अनावश्यक महत्त्व देती है और योग्यता की कीमत कम लगाती है।

(२) इसने तरक्की को रोका, क्योंकि किसी को अपना पेशा या धन्धा बदलने की इजाजत नहीं थी। विशेष रूप से नीची जातियों को बड़ी निर्योग्यता (disabilities) भोगनी पड़ती थी और उन्हें तरक्की करने का मौका नहीं था।

(३) सेना का काम सिर्फ क्षत्रियों के जिम्मे था। इसलिए अन्य वर्ण दुश्मन का मुकाबला करने से उदासीन हो गये और उन्होंने देश की मुसीबत के समय भी हाथ पाँव हिलाने की जरूरत नहीं समझी। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था ने विदेशियों के मुकाबले के समय देश को कमजोर रखा।

(४) जाति प्रथा या वर्ण व्यवस्था ने समाज को बिलकुल अलग विभागों में बाँट दिया है, और यह देश की फूट का बहुत बड़ा कारण है। इसने राष्ट्रीयता और देश प्रेम को बढ़ने से रोका।

**जातिप्रथा या वर्ण व्यवस्था का भविष्य**—यद्यपि वर्ण व्यवस्था अब भी हमारे समाज की बहुत बड़ी विशेषता है, तो भी समय गुजरने के साथ इसकी पुरानी शक्ति बहुत कुछ नष्ट हो गई है। मौजूदा जमाने में इसकी कठोरता तेजी से खत्म होती जा रही है। शिक्षा के प्रसार और विज्ञान ने इस दिशा में बड़ा काम किया है। वर्ण की उपयोगिता खत्म हो चुकी है। और अगर हमें एक शक्तिशाली संगठित और लोकतन्त्रीय राष्ट्र बनाना है तो इसे छोड़ना ही होगा। गांधी जी के छुआछूत विरोधी आन्दोलन ने वर्ण की व्यर्थता सिद्ध करने में बड़ा काम किया है। जब तक हमारा समाज लोकतन्त्रीय न हो, जिसमें सब लोग बराबरी के आधार पर खड़े हों, तब तक लोकतन्त्रीय शासन भी नहीं हो सकता। भारतीय गणराज्य के संविधान ने छुआछूत को खत्म कर दिया है।

## धर्म

**धर्म किसे कहते हैं**—मनुष्य स्वभाव से कमजोर और डरपोक है। वह अपूर्ण है और कई कामों में असमर्थ है। कठिनाई आने पर वह मदद के लिए किसी अधिक बलवान ताकत की ओर देखता है। आदिकालीन जमाने में लोग अपने मृत पूर्वजों को सहायता के लिये बुलाते थे, और उन्हें खुश करने के लिये भेंट चढ़ाया करते थे। इसके बाद वे प्रकृति के बलों की पूजा करने लगे। हर प्राकृतिक प्रतीति को, उदाहरण के लिये, आकाश, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा और वर्षा को, एक देवता माना जाता था। बाद में इन्होंने एक सर्वोच्च सत्ता, अर्थात् ईश्वर का विचार विकसित किया और सब प्राकृतिक प्रतीतियां उस ईश्वर की शक्ति का रूप मानी जाने लगीं। इस प्रकार, धर्म की यह परिभाषा की जा सकती है कि आदमी का अतिमानवीय शक्ति में विश्वास धर्म है जो मनुष्य के भाग्य को अच्छा या बुरा बनाने में समर्थ है। "धर्म मनुष्य की उस व्यक्ति से की गई अपील है जिसके बारे में यह माना जाता है कि वह वे काम कर सकता है जो आदमी खुद नहीं कर सकता।" धार्मिक व्यवहार आदि उन दूसरे व्यवहारों की तरह ही है जिनमें वह अपने से ऊँची किसी सत्ता से कृपा की याचना करता है। किसी की कृपा मांगते हुए आदमी उसकी प्रशंसा करता है। धर्म में प्रार्थना यही प्रयोजन पूरा करती है।

**धर्म की आवश्यकता**—बुद्धि की दृष्टि से आदमी आसानी से कह सकता है कि ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिक युग तर्क का युग है और इसी कारण आज का आदमी अधिक धर्महीन है, पर धर्म विश्वास की वस्तु है, तर्क की नहीं। यह हृदय को छूता है। मनुष्य का मस्तिष्क अपने बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण कठोर हो सकता है, पर ऐसा बहुत कम मिलेगा कि किसी का दिल इतना कठोर हो कि उसे धर्म की आवश्यकता न रहे। आदमी अपने रोजाना के जीवन में, जब वह किसी मुसीबत में नहीं है, धर्महीन हो सकता है, पर कठिनाई के समय प्रायः हर आदमी किसी अतिमानवीय शक्ति का सहारा चाहता है। इन्सान अभी धर्म की आवश्यकता की मंजिल से आगे नहीं पहुंचा। हो सकता है कि जब मनुष्य विज्ञान की सहायता से प्रकृति को पूरी तरह जीत ले तब धर्म की आवश्यकता न रहे।

**धर्म और सम्प्रदाय**—धर्म आदमी का बिल्कुल वैयक्तिक और निजी मामला है। ठीक ठीक कहें तो यह भक्त और उसके आराध्यदेव या ईश्वर के बीच वैयक्तिक सम्बन्ध को सूचित करता है। इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये किसी बाहरी चिन्ह की जरूरत नहीं। इस अर्थ में एक आदमी का धर्म दूसरे को प्रभावित नहीं करता और न इसे दूसरे को प्रभावित करना चाहिए। यह आपसी ईर्ष्याएं और प्रतिस्पर्धाएं नहीं पैदा कर सकता। धर्म के कारण जो अनेक ईर्ष्याएं और प्रतिस्पर्धाएं हैं, वे असल में अनेक सम्प्रदायों के कारण हैं। सम्प्रदाय उन व्यक्तियों के सामाजिक संगठन को कहते हैं जिनका विश्वास, पूजा की रीति, धार्मिक कृत्य और समारोह एक-से हों और यह उस विश्वास की रक्षा, वृद्धि और प्रचार के लिये बनाया जाता है। सम्प्रदाय के कुछ सुनिश्चित सिद्धान्त और नियम होते हैं इसका एक संगठन, पुरोहित मंडल, पूजा और सम्मेलन की जगह तथा कोई प्रार्थना-पुस्तक होती है। सच्चे धर्म को इनमें से किसी चीज की भी आवश्यकता नहीं है। वह तो हमारे अन्तःकरण का विषय है और अगर हमारा हृदय और आत्मा ईश्वर के साथ पूर्ण एकात्मता रखते हैं तो उसे किसी बाहरी चिन्ह या दिखावे की जरूरत नहीं। जब लोग अपने आपको सम्प्रदायों में संगठित कर लेते हैं और एक विश्वास की दूसरे विश्वास से श्रेष्ठता सिद्ध करने लगते हैं, तब समाज में गड़बड़ी पैदा होती है।

**धर्म और सामाजिक प्रथाएं**—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, धर्म भक्त और उसके आराध्यदेव के बीच निजी मामला है। इसका प्रथाओं से कोई सम्बन्ध नहीं। प्रथाएं वे पुराने आचार हैं जिन्हें किसी जनसमूह ने उनकी उपयोगिता के कारण अपना लिया था, और अब वे या तो आदत के कारण या भय के कारण चली आती हैं। वर्ण व्यवस्था, विवाह, पर्दा और दहेज, ये सब सामाजिक प्रथाओं के उदाहरण हैं। धर्म का उनसे कोई वास्ता नहीं। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि सम्प्रदाय इन्हें लोगों पर लागू कर दें।

**धर्म और नैतिकता**—नैतिकता मनुष्य के अनुभव और उसके अच्छे और बुरे परिणाम से पैदा होती है। अगर आदमी ईमानदार और सच्चा है तो इसका कारण

यह है कि वह देखता है कि बेईमानी और झूठ से वह मुसीबत में फस जाएगा। इस प्रकार ठीक-ठीक कहें तो नैतिकता और धर्म एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। पर धर्म ने नैतिकता को फैलाने में बड़ा काम किया है। जब यह कहा जाता है कि अनैतिक काम करने से ईश्वर नाराज होगा तो आदमी उन्हें करते हुए डरता है।

**धर्म के अच्छे परिणाम—** (१) धर्म हमारी इन्द्रियों को अनुशासित करता है। यह हमें अपनी इच्छाओं, भावनाओं, भावों और वासनाओं का नियन्त्रण करना सिखाता है। यह हमें लोभ, कामुकता, अहंकार और नफरत से बचाता है। यह नैतिक शक्ति देता है, और कठिनाइयों का मुकाबला करने का साहस पैदा करता है। धर्म आदमी की आन्तरिक शान्ति के लिए, अर्थात् मन और आत्मा की सन्तुष्टि के लिये, आवश्यक है।

(२) धर्म हमें ईश्वर के रूप में एक पूर्ण सत्ता का विचार देता है और हमें उस पूर्णता का रास्ता दिखाता है। यह हमें बताता है कि ईश्वर मनुष्य के भीतर है। आदमी को सिर्फ यह करना है कि वह ईश्वर को पहिचाने और उसका साक्षात्कार करे।

(३) जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म आदमी को आत्म-नियन्त्रण, मान-वीयता, प्रेम, दया, नम्रता और सहनशीलता आदि कई नैतिक गुण पैदा करने में सहायता देता है। यह जीवन के सम्मान की शिक्षा देता है और ईश्वर की नजरों में सब आदमियों की समानता का उपदेश करता है। इसके द्वारा मनुष्य के पाशविक गुण, अर्थात् अभिमान, अहंकार, लोभ, स्वार्थ और क्रोध नियन्त्रण में रखे जा सकते हैं।

(४) सच्चा धर्म मनुष्यों में प्रतिस्पर्धा, घृणा और युद्ध के स्थान पर शान्ति, सामजस्य और सद्भावना पैदा करता है। पुराने समाजों में धर्म लोगों को कानून पालक बनाने में बड़ा सहायक होता था। तथाकथित धर्मयुद्ध असल में सम्प्रदायों के मध्य हुए युद्ध हैं। धर्म अपने आप में कभी लोगों को लड़ने के लिए प्रेरणा नहीं देता।

**धर्म के विरुद्ध कुछ बातें—** (१) धर्म समाज में परिवर्तन-विरोधी बल के रूप में काम करता रहा है। यह दुनियावी वस्तुओं के प्रति उदासीनता का उपदेश करता है। इस तरह इसने समाज की भौतिक उन्नति को रोका है। दूसरी बात यह कि धर्म के अधिष्ठाताओं ने प्रायः समाज के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक ढांचे में परिवर्तन करने के महान आन्दोलनों की बुराई की है। सच तो यह है कि धार्मिक संगठन समाज के *धनी वर्गों के सदा सहयोगी रहे हैं, जो इन परिवर्तनों के विरोधी होते हैं। वैज्ञानिक* आविष्कारों के प्रति धार्मिक संगठनों का रुख न केवल उदासीनता का, बल्कि बाकायदा उत्पीड़न का रहा है।

(२) जहां तक धर्म भय से पैदा होता है, वहां तक यह मनुष्य की गरिमा को कम करता है।

(३) धर्म मौत के बाद के परलोक जीवन को महत्त्व देता है और इस लोक में जीवन के दुःखों और कष्टों को गौण बताता है। ईसाई धर्म के अनुसार गरीबी और रोग सिर्फ इस लोक के जीवन में हैं। जीवन का ऐसा अवधारण उन्नति को रोकता है।

(४) धर्म प्राय लोगो का आत्मविश्वास नष्ट कर देता है। वे अपनी कठिनाइयो और मुसीबतो को जीतने के लिये कुछ यत्न नही करते। वे भाग्यवादी हो जाते हैं और अपने दु खो का कारण भाग्य को बताते हैं जो उनके काबू से बाहर है। वे अपनी मुसीबतें दूर करने के लिये ईश्वर का सहारा देखते हैं और पूरी तरह उस पर ही निर्भर होते हैं।

(५) यह भी कहा जाता है कि धर्म बौद्धिक योग्यता को हीन मानता है, क्योकि इसे श्रद्धालु लोगो को जरूरत है, तर्कशील लोगो की नही।

## सारांश

सम्पत्ति—सम्पत्ति शब्द मे वे सब भौतिक और अभौतिक वस्तुए शामिल हैं जिन पर मनुष्य का स्वामित्व होता है। सम्पत्ति मनुष्य और समाज दोनो के लिए महत्त्वपूर्ण है। यह आदमी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। इसी के कारण लोगो में झगडे और राष्ट्रो में युद्ध होते हैं। यह आदमी की योग्यता और समाज की प्रगति नापने की कसौटी है।

सम्पत्ति का उद्गम चाहे जो रहा हो, पर आज इसका आधार रूढि और कानून की मजूरी है।

सम्पत्ति का अधिकार कोई निरुपाधि (absolute) अधिकार नही है। सारे समाज की भलाई को देखते हुए सम्पत्ति के अधिकार का सीमित किया जा सकता है और किया जाता है।

सम्पत्ति के सार्वजनिक या राज्य द्वारा स्वामित्व को राष्ट्रीयकरण कहा जाता है। सम्पत्ति का सीमाहीन सचय न्याय के विरुद्ध भी माना जाता है और लोकतन्त्र के विरुद्ध भी। राष्ट्रीयकरण सम्पत्ति का समान और उचित वितरण कर देता है।

निजी सम्पत्ति के पक्ष में युक्तिया—(१) अवाप्ति की महज वृत्ति (instinct of acquisition) पर आधारित होने से यह प्राकृतिक है। (२) यह काम करने के लिए प्रेरणा देती है। (३) इसके द्वारा आदमी अपने भविष्य की रक्षा कर लेता है। (४) यह अपने स्वामी को स्वतन्त्रता की भावना देती है। (५) इसने विज्ञान, कला और साहित्य की उन्नति में भी सहायता दी।

निजी सम्पत्ति के विरुद्ध युक्तिया—(१) यह आदमी को लोभी और स्वार्थी बनाती है। (२) यह असमानताए पैदा करती है। (३) यह निकम्मेपन और फिजूलखर्ची को बढ़ावा देती है। (४) यह अदक्ष को फलने-फूलने में सहायता देती है। (५) मनुष्य में सदा निजी आर्थिक लाभ की भावना ही नहीं रहती। (६) यह विज्ञान और कला की वृद्धि के लिए आवश्यक नहीं।

जाति या वर्ण (Caste)—जाति या वर्ण की परिभाषा करनी कठिन है। तो भी, जाति-प्रथा या वर्ग-व्यवस्था की मुख्य विशेषताए ये हैं —

(१) प्रत्येक जाति का कोई नाम होता है।

(२) पहले सब जातियो की पचायतें होती थी।

(३) जाति प्रथा का ध्वनितार्थ यह है कि यह दो जातियों में परस्पर भोजन और विवाह पर पाबन्दी लगाती है।

(४) जाति की सदस्यता जन्म से होती है।

भारत में रक्त की शुद्धता और श्रम के विभाजन के विचारों ने वैदिक काल में जाति प्रथा को जन्म और बढ़ावा दिया। इसके बढ़ने में धंधों की वृद्धि, पूजा की रीतियों, रहन-सहन की व्यवस्थाओं और विदेशी आक्रमणों से भी मदद मिली।

**इसकी अच्छाइयां**—किसी जमाने में जाति या वर्ण बड़ा उपयोगी था: (१) इससे आर्यों की रक्त की शुद्धता बनाये रखी। (२) श्रम के विभाजन ने उनकी दक्षता बढ़ा दी। (३) इससे काम-धंधे, दस्तकारी और व्यापार में कुशलता पैदा हुई। (४) हिन्दू धर्म को नष्ट होने से बचाया।

**बुराइयां**—(१) इसने योग्यता को गौण कर दिया। (२) इसने समाज की प्रगति को रोक दिया। (३) इसके कारण राष्ट्रवाद और देश-प्रेम की वृद्धि न हो सकी। (४) इसने विदेशियों के मुकाबले में हमारी प्रतिरक्षा को कमजोर कर दिया। (५) इसने बड़ी सामाजिक असमानताएं पैदा कर दीं।

**धर्म**—मनुष्य स्वभाव से कमजोर और डरपोक है। आदिकाल से वह अनेक प्रतीतियों और वस्तुओं की पूजा करता आया है, जिन्हें वह अपने से अधिक प्रबल मानता रहा। इसलिए "धर्म ऐसी शक्ति से मनुष्य की प्रार्थना है जिसके बारे में वह माना जाता है कि वह वे काम कर सकता है जो मनुष्य खुद नहीं कर सकता।" वह प्रार्थना द्वारा इन वस्तों से सहायता मांगता है।

किसी आदमी का मन इतना सबल हो सकता है कि उसे धर्म की जरूरत अनुभव न हो। पर ऐसा बहुत कम होता है कि उसका दिल भी इतना ही मजबूत हो। मुसीबत के समय प्राय: हर कोई अति मानवीय शक्ति को सहायता के लिए पुकारता है।

धर्म आदमी का वैयक्तिक और निजी मामला है। यह भक्त और उसके आराध्य-देव या ईश्वर के मध्य वैयक्तिक सम्बन्ध को सूचित करता है। धर्म के लिए किसी बाहरी चिन्ह की आवश्यकता नहीं। धर्म के नाम पर जो ईर्ष्या और विरोध बोया जाता है वह अन्त में धार्मिक संगठनों द्वारा पैदा किया जाता है।

**धर्म के अच्छे प्रभाव**—(१) यह हमारी इन्द्रियों को अनुशासित करता है। (२) यह आन्तरिक शांति के लिए जरूरी है। (३) यह हमें सिखाता है कि ईश्वर मनुष्य में है, और कि मनुष्य भी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। (४) यह मनुष्य में नैतिक गुण पैदा करके उसके नैतिक बल का प्रयोग में लाता है। (५) यह सामाजिक सम्बन्धों में शांति लाता है।

**धर्म के दुष्परिणाम**—(१) इसने समाज की भौतिक उन्नति में रुकावट डाली है। (२) यह इस जीवन के दुखों को कम करके दिखाता है और मनुष्य को भाग्यवादी बना देता है। (३) यह तर्क को दबाकर श्रद्धा को बढ़ावा देता है।

## प्रश्न

## QUESTION

१ 'सम्पत्ति' शब्द से आप क्या समझते हैं। इसका किसी नागरिक के जीवन में क्या स्थान है ?

1 What do you understand by the term Property ? What part does it play in the life of a citizen ?

२ निजी सम्पत्ति के पक्ष और विपक्ष में युक्तियां दीजिये।

(प० वि० अप्रल १९५२)

2 Make out a case for and against private property

(P U April 1952)

३ सम्पत्ति कहा तक निजी रहने दी जानी चाहिए और कहा तक इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिये ? दोनो बातों का उत्तर युक्तियों सहित दीजिये।

3 To what extent property may be allowed to be private and to what extent should it be nationalised ? Support your answer with arguments in both the cases

४. धर्म किसे कहते हैं ? किसी नागरिक के जीवन में इसका क्या महत्व है ?

4 What is 'Religion' ? What is its importance in the life of a citizen ?

५ नागरिक जीवन पर धर्म के अच्छे और बुरे प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

5 Estimate the good and bad effects of religion on civic life

६ वर्ण या जाति किसे कहते हैं ? वर्ण या जाति अच्छे नागरिक जीवन में कैसे बाधा डालती है ?

6 What is 'caste' ? How is caste a hinderance to good civic life ?

७ वर्ण या जाति किसे कहते हैं ? इसके गुण और दोष बतलाइये।

7 What is caste ? What are its merits and demerits ?

अध्याय : : ८

# राज्य और इसके घटक तत्त्व

राज्य शब्द का गलत प्रयोग—साधारण बोलचाल में राज्य शब्द का प्राय: गलत प्रयोग किया जाता है। इसका राष्ट्र, समाज, सरकार और देश जैसे शब्दों के स्थान में प्रयोग गलत और भ्रम में डालने वाला है। उदाहरण के लिये, जब हम अनाज पर राज्य के नियन्त्रण या सिक्के ढालने पर राज्य के एकाधिकार की बात कहते हैं, तब असल में हमारा मतलब सरकार के नियन्त्रण और सरकार के एकाधिकार से होता है। किसी संघात्मक या फेडरेशन की इकाइयों के लिए राज्य शब्द का प्रयोग भी गलत है। पेप्सू और पंजाब भारतीय संघ की इकाइयां हैं। इस शब्द के ठीक अर्थ की दृष्टि से वे राज्य नहीं हैं, क्योंकि उनमें राज्य के एक परमावश्यक गुण, अर्थात् सर्वोच्चता, का अभाव है।

नागरिक शास्त्र में राज्य शब्द का एक सुनिश्चित अर्थ है। यह राजनैतिक रूप से संगठित और स्वतन्त्र किसी प्रादेशिक समाज के लिये प्रयुक्त होता है। राज्य आज तक समाज के विकास की सबसे ऊंची सीढ़ी को निरूपित करता है। राज्य एक सामान्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए संगठित मनुष्यों का साहचर्य भी है। पर यह एक क्षेत्रीय साहचर्य है। यह सब साहचर्यों में अधिक महत्त्वपूर्ण भी है।

नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में हमें राज्य का गहराई से अध्ययन करना होगा क्योंकि नागरिक और उसके अधिकारों और कर्त्तव्यों के अध्ययन में हमारी गहरी दिलचस्पी है। यदि राज्य न हो तो कोई नागरिक भी न होगा और उसके कोई अधिकार और कर्त्तव्य भी नहीं हो सकते।

राज्य की परिभाषा—आज तक समय-समय पर राज्य की असंख्य परिभाषाएं दी गई हैं। अरस्तू ने राज्य की यह परिभाषा की थी कि राज्य 'उन परिवारों और गावों का साहचर्य है जिनका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन है।' सोलहवीं शताब्दी में बोडिन ने राज्य की यह परिभाषा की कि 'यह परिवारों और उनकी सांझी सम्पत्तियों का ऐसा साहचर्य है जो सर्वोच्च शक्ति और तर्क से शासित होता है।' पर ये परिभाषाएं अब बिलकुल पुरानी हो गई हैं। वे परिवार को राज्य की इकाई मानकर चलती हैं, व्यष्टि को नहीं।

आज के जमाने में हालैण्ड ने राज्य की यह परिभाषा की कि 'मनुष्यों का बहुत-सा समुदाय जो साधारणतया किसी प्रदेश पर रहता है और जिसमें बहुमत की या किसी निश्चित वर्ग की इच्छा, ऐसे बहुमत या वर्ग की शक्ति से, उनके मुकाबले में, जो इसका विरोध करते हों, प्रभावी बनाई जाती है।' राज्य की सबसे अच्छी और सबसे स्पष्ट परि-

भाषा गार्नर ने दी है। उसके अनुसार राज्य "उन व्यक्तियो का एक समुदाय है, जिनकी सख्या कही कम कही अधिक होती है, और जो किसी निश्चित राज्य क्षेत्र पर स्थायी रूप से रहते हैं—यह समुदाय बाह्य नियत्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र होता है, और इसमें एक सगठित सरकार होती है जिसकी आज्ञाओ का अधिकतर नागरिक आदतन पालन करते हैं।" वुडरो विलसन की परिभाषा छोटी और तथ्यसूचक है। वह कहता है, "राज्य वह जनसमुदाय है जो किसी सुनिश्चित राज्यक्षेत्र में कानून के लिये सग ठित है।"

**राज्य के घटक तत्व**—गार्नर की उपर्युक्त परिभाषा मे यह स्पष्ट होगा कि राज्य के गठन में चार परमावश्यक तत्व होते हैं। वे हैं —(१) आबादी, (२) क्षेत्र, (३) सर्वोच्चता, और (४) सरकार। ये चारो तत्त्व मिलकर राज्य बनाते हैं। राज्य का अर्थ न तो जन-समुदाय है और न वह राज्यक्षेत्र है, जिस पर वह रहता है, और न वह सरकार है जिसके द्वारा राज्य अपना कार्य करता है।

अब हम राज्य के विभिन्न तत्वो के महत्व पर एक एक करके विचार करेंगे।

**आबादी**—आबादी राज्य का पहला परमावश्यक तत्त्व है। बिना लोगो के राज्य नही हो सकता। राज्य का जन्म तब ही होता है जब मनुष्य जाति का एक भाग राजनैतिक दृष्टि से सगठित हो जाता है। पर राज्य के सदस्यो की कोई अधिकतम या न्यूनतम सख्या निश्चित नही है। सिर्फ इतनी बात है कि उनकी सख्या बहुत होनी चाहिए और दस-बीस आदमी, चाहे वे स्वतन्त्र और सगठित भी हो, राज्य का निर्माण नही करते। गार्नर के अनुसार आबादी सख्या म इतनी काफी होनी चाहिए कि वह राज्य के सगठन को बनाए रख सके। वह राज्य के क्षेत्रफल और साधनो के अनुपात में बहुत अधिक भी न होनी चाहिए। जब किसी राज्य की आबादी उसके साधनो की तुलना म बहुत अधिक होती है, तब इसका मतलब होता है कि गरीब राज्य की गरीब आबादी।

**राज्य क्षेत्र**—जन समुदाय के पास राज्य बनने से पहले एक सुनिश्चित राज्य-क्षेत्र होना चाहिए। कोई घूमने फिरने वाला कबीला राज्य का निर्माण नही करता, यद्यपि सब सदस्य उसके एक सरदार के अधीन सगठित होते हैं। सुनिश्चित राज्य-क्षेत्र का होना राज्य को मनुष्यो के और सब समूहो से भिन्न करता है।

पर राज्य-क्षेत्र की कोई निश्चित सीमा नहीं है। प्राचीन ग्रीस म एक नगर ही राज्य हुआ करता था। आजकल बहुत बडे-बडे राज्य भी हैं, जैसे रूस, चीन और भारत, तथा बहुत छोटे-छोटे राज्य भी हैं जैसे लग्जमबर्ग और अल्बानिया। इसके अलावा, किसी राज्य का क्षेत्र सारा इकट्ठा या बटा हुआ और भौगोलिक दृष्टि से अलग-अलग भी हो सकता है। पाकिस्तान का राज्य क्षेत्र इकट्ठा नहीं है।

**सरकार**—आवश्यक नही कि किसी सुनिश्चित क्षेत्र में रहने वाला जनसमुदाय राज्य का निर्माण करता ही हो। उसे राजनैतिक रूप से सगठित और सामूहिक कार्यवाही करने म समर्थ होना चाहिए। गार्नर के अनुसार "सरकार वह अभिकरण या तत्र है जिसके जरिये साझी नीतिया तय की जाती है और जो साझे मामलो को नियमित करता

व्यक्तियों और साहचर्यों पर एक समान लागू होती है। इस नियम का एकमात्र अपवाद अन्य राज्यों के राजनयिक प्रतिनिधि हैं। यह अपवाद सिर्फ सौजन्य (courtesy) है और सर्वोच्च प्रभु द्वारा वापिस लिया जा सकता है।

**सर्वोच्चता अविभाज्य होती है**—सर्वोच्चता विभाजित नहीं की जा सकती। जैसे यह कहना निरर्थक है कि आधा वर्ग, उसी तरह आधी सर्वोच्चता भी कोई चीज नहीं हो सकती। सर्वोच्चता अखंड होती है। यदि सर्वोच्चता को विभाजित कर दिया जाए तो राज्य के जितने विभाग होंगे, उसमें उतने ही सर्वोच्च प्रभु या राज्य पैदा हो जाएंगे। उदाहरण के लिए, जब भारत की सर्वोच्चता विभाजित की गई तब भारत और पाकिस्तान ये दो सर्वोच्च राज्य पैदा हो गए। निस्सन्देह सर्वोच्चता की शक्तियों का प्रयोग एक से अधिक अंग द्वारा किया जा सकता है। किसी संघात या फैडरेशन में सर्वोच्चता संविधान में रहती है पर इसका प्रयोग कुछ अंशों में केंद्रीय सरकार के जरिये और कुछ अंशों में संघात करने वाली इकाइयों के जरिये होता है।

**सर्वोच्चता अन्यकाम्य (inalienable) होती है**—सर्वोच्चता राज्य का जीवन है। जैसे कोई आदमी अपना जीवन किसी दूसरे को नहीं दे सकता उसी प्रकार कोई राज्य अपनी सर्वोच्चता अस्थायी या स्थायी रूप से किसी दूसरे को नहीं दे सकता। राज्य सरकार को राज्य से प्रत्यायोजित प्राधिकार (delegated authority) प्राप्त होता है, पर राज्य का सर्वोच्च अधिकार हट नहीं जाता।

**सर्वोच्चता स्थायी होती है**—हम देख चुके हैं कि राज्य और सर्वोच्चता को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। राज्य की तरह सर्वोच्चता भी स्थायी है। सर्वोच्चता तब तक बनी रहती है, जब तक राज्य मौजूद है। सरकार में होने वाले परिवर्तनों से सर्वोच्चता पर वैसे ही कोई असर नहीं पड़ता, जैसे राज्य पर।

**सर्वोच्चता के प्रकार**—सर्वोच्चता के प्रकारों की बात करना अवैज्ञानिक है। सर्वोच्चता अमूर्त (abstract) होती है। यह राज्य के सर्वोच्च प्राधिकार को दिया गया नाम है जो सब जगह एक सा होता है। राज्य में यह किस जगह है, इस बारे में कठिनाई पैदा होती है। इसलिए सर्वोच्चता के स्थान के बारे में कई विचार प्रचलित हैं।

**तथ्यत और विधित (De facto and De jure)**—विधित सर्वोच्च प्रभु वह है जिसे कानून की दृष्टि में लोगों से आज्ञा पालन कराने का हक है पर कभी कभी यह होता है कि लोग किसी अन्य प्राधिकारी की आज्ञा मानने लगते हैं। इसलिए तथ्यत सर्वोच्च प्रभु वह है जो वास्तविक व्यवहार में बल द्वारा या सम्पत्ति द्वारा लोगों से आज्ञापालन करा ले। प्राय विधित प्रभु तथ्यत प्रभु भी होता है, यद्यपि उसका हमेशा ऐसा होना आवश्यक नहीं।

**वैधिक सर्वोच्चता (Legal sovereignty)**—कानून बनाना या विधिनिर्माण प्रभु का सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। गैटेल के अनुसार 'विधिगत प्रभु वह प्राधिकारी है जो राज्य के सर्वोच्च समादेशों को विधि के रूप में अभिव्यक्त

| | |
|---|---|
| (५) राज्य मुख्यत लोगो के राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। | समाज के लिये लोगों के सब कार्य, चाहे वे राजनैतिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो, धार्मिक हो, या सास्कृतिक हो, बराबर महत्त्व के है। |
| (६) राज्य मनुष्य के अस्तित्व के लिए सर्वथा अनिवार्य नही है। | पर समाज के बिना मनुष्य का जीना कठिन हो जाएगा। |

**राज्य और साहचर्य**—राज्य भी एक साहचर्य है। हर एक साहचर्य की तरह राज्य का भी एक सगठन, एक लक्ष्य या प्रयोजन होता है। अपने आकार, सदस्य सख्या और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से राज्य सबसे बडा और अधिक सर्वांगीण साहचर्य है। यह सबसे अधिक शक्तिशाली साहचर्य भी है। राज्य अपने क्षेत्र मे अन्य सब साहचर्यों के कार्यों को अपनी हिदायत के अनुसार चलाता है और उन पर नियत्रण रखता है। इसी कारण राज्य को साहचर्यों का साहचर्य कहते है। राज्य और साहचर्य म फर्क करने वाली मुख्य बातें ये है —

| राज्य | साहचर्य |
|---|---|
| (१) क्षेत्र राज्य का आवश्यक गुण है। | साहचर्य के लिये क्षेत्र आवश्यक नही। क्षेत्र से युक्त साहचर्य सिर्फ राज्य है और किसी साहचर्य के पास क्षेत्र नही होता। असलियत यह है कि किसी साहचर्य के सदस्य दुनिया के अलग-अलग हिस्सो में रहते हो सकते है। |
| (२) एक आदमी एक समय में एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है। | एक आदमी एक ही समय म अपनी उन आवश्यकताओ के अनुसार, जिन्हें वह पूरा करना चाहता है, चाहे जितने साहचर्यों का सदस्य हो सकता है। |
| (३) राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है। मनुष्य अपने जन्म से राज्य का सदस्य होता है, अपने चुनाव से नही। उसे इसके अधिकारियो का आदेश मानना पडता है, और वह जब चाहे तब इसकी सदस्यता से पृथक नही हो सकता। | साहचर्य की सदस्यता स्वेच्छया होती है। आदमी जब चाहे तब साहचर्य का सदस्य बन सकता है और जब चाहे तब अपनी सदस्यता छोड सकता है। |
| (४) राज्य सर्वोच्च है। इसके आदेशो का पालन करना होगा अन्यथा दड मिलेगा। राज्य किसी व्यक्ति का जीवन भी ले सकता है। | साहचर्यों को कोई सर्वोच्च प्राधिकार नहीं होता। वे अपने आदेश न मानने वाले सदस्यो को शारीरिक दण्ड नही दे सकते। वे, अधिक से अधिक, किसी सदस्य को अपनी सदस्यता से अलग कर सकते है। |
| (५) राज्य का क्षेत्र बडा विस्तृत और | हर एक साहचर्य का एक खास |

| | |
|---|---|
| व्यापक है और इसके भीतर इसके राज्य-क्षेत्र में विद्यमान अनेक साहचर्यों के लक्ष्य शामिल हैं। | लक्ष्य या उद्देश्य होता है। |
| (८) राज्य स्थायी साहचर्य है। | राज्य और परिवार को छोड़कर और कोई साहचर्य स्थायी नहीं। अन्य साहचर्य अपने उद्देश्य पूरे होते ही भंग हो जाते हैं। |
| (९) राज्य परिवार की तरह एक नैसर्गिक साहचर्य है। | राज्य और परिवार को छोड़कर और सब साहचर्य कृत्रिम हैं। वे किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। |

**राज्य और सरकार**—राज्य और सरकार को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। वास्तव में वे एक दूसरे से बहुत भिन्न अवधारणा हैं। इन दोनों में फर्क न कर सकने से नागरिक शास्त्र की कुछ बहुत महत्वपूर्ण समस्याओं के बारे में बड़ा भ्रम पैदा होने की संभावना है। सरकार राज्य के चार घटक तत्त्वों में से सिर्फ एक है। जैसे किसी कम्पनी का संचालक मंडल ही कम्पनी नहीं होता, वैसे ही सरकार राज्य नहीं हो सकती। यह तो राज्य की एक एजेन्ट मात्र है। इन दोनों में मुख्य भेद ये हैं —

| राज्य | सरकार |
|---|---|
| (१) राज्य अमूर्त है। हम इसे देख या छू नहीं सकते। हम राज्य का सिर्फ एक विचार बना सकते हैं। | दूसरी ओर, सरकार एक मूर्त वस्तु है। हम राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, अन्य मंत्रियों, संसद और नई दिल्ली के सचिवालय के रूप में भारत सरकार को देख सकते हैं। |
| (२) राज्य में सर्वोच्चता होती है और इसका प्राधिकार इसका अपना है। वह और किसी से पैदा नहीं होता। | सरकार सर्वोच्च नहीं होती। इसका प्राधिकार अपना नहीं है। वह राज्य से पैदा होता है। राज्य जब चाहे तब सरकार के प्राधिकार को बढ़ा, घटा, या छीन सकता है। |
| (३) राज्य स्थायी होता है। सरकार का परिवर्तन होने पर भी यह बना रहता है। | सरकारें अस्थायी और थोड़े दिन की होती हैं। हम देखते हैं कि देश में आम चुनाव के बाद सरकार बदल जाती है। एक राजा की मृत्यु और दूसरे के गद्दी पर बैठने से सिर्फ सरकार में परिवर्तन होता है। |
| (४) राज्य के किसी निश्चित क्षेत्र के सब लोग इसके सदस्य होते हैं। हम सब भारत राज्य के सदस्य हैं। | सब लोग सरकार के सदस्य नहीं होते। बहुत थोड़े से लोग सरकार गठित करते हैं। |

| | |
|---|---|
| (५) हम अपने राज्य को कभी नष्ट नहीं करना चाहते। हम सब भारत राज्य के प्रति निष्ठा रखते हैं। | पर हम एक सरकार की जगह दूसरी सरकार लाने की बात गंभीरता से सोचते हो सकते हैं। हमारा सबका सरकार के प्रति निष्ठावान होना आवश्यक नहीं। |

**राज्य, राष्ट्र, और जाति ( State, nation and people )**—राज्य में राष्ट्र और जाति से भी अंतर करना चाहिए। राज्य एक राजनैतिक अवधारणा है। इसलिए यह मनुष्य जाति के एक अंश को राजनैतिक एकता या संगठन को ही मुख्यतः सूचित करता है। दूसरी ओर जाति और राष्ट्र जैसे अवधारणा में जो एकता सूचित होती है, वह अति गहरी है। जाति अधिकतर एक मूलवंशीय (racial or ethnic) अवधारणा है। राष्ट्र राज्य तथा राष्ट्रिकता (nationality) का संयोग है। राष्ट्रिकता मूलवंशीय सम्बन्ध के अलावा और बहुत सारे सम्बन्ध सूचित करती है।

## सारांश

"*राज्य उन व्यक्तियों का एक समुदाय है जिनकी संख्या कहीं कम और कहीं* अधिक होती है और जो किसी निश्चित राज्यक्षेत्र पर स्थायी रूप से रहते हैं—यह समुदाय बाह्य नियंत्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र होता है और इसमें एक संगठित सरकार होती है जिसकी आज्ञाओं का अधिकतर नागरिक पालन करते हैं"—गार्नर। इस प्रकार राज्य के ये चार आवश्यक तत्व हैं (१) आबादी, (२) राज्य क्षेत्र, (३) सरकार (४) सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता।

इन सब तत्वों में से सर्वोच्चता सब से अधिक आवश्यक और विभेदकारी तत्व है।

**सर्वोच्चता या प्रभुसत्ता**—आंतरिक दृष्टि से सर्वोच्चता राज्य के सर्वोच्च प्राधिकार का नाम है जो उसे अपने क्षेत्र में रहने वाले सब व्यष्टियों और समुदायों पर प्राप्त होता है। बाहरी दृष्टि से सर्वोच्चता राज्य की किसी अन्य बाहरी शक्ति के नियंत्रण से स्वतन्त्रता को ध्वनित करती है।

**सर्वोच्चता** निरपेक्ष ( absolute ) असीमित, सार्विक, अविभाज्य असंक्राम्य और स्थायी होती है।

**सर्वोच्चता के प्रकार**—सर्वोच्चता के प्रकारों की बात करना अवैज्ञानिक है। वास्तव में वे सर्वोच्चता के स्थान के बारे में दृष्टिकोण हैं।

(१) तथ्यत—जो तथ्यत सर्वोच्च प्राधिकार रखता है।

(२) विधित—जिसे विधि द्वारा सर्वोच्च शक्ति का अधिकार प्राप्त है।

(३) विधिगत सर्वोच्चता—राज्य में विधि बनाने का प्राधिकार।

(४) राजनैतिक सर्वोच्चता—इसमें उन विभिन्न प्रभावों का समावेश है जो विधिगत प्रभु के पीछे काम करते हैं।

(५) जनता की सर्वोच्चता—सर्वोच्च अधिकार जनता को होता है।

राज्य और समाज—(१) राज्य क्षेत्र और सर्वोच्चता राज्य के होते हैं, समाज के नहीं। (२) राज्य का संगठन होता है, और समाज में असंगठित समूह भी समाविष्ट हैं। (३) राज्य दण्ड दे सकता है पर समाज ऐसा नहीं कर सकता। (४) राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है, समाज की नहीं। (५) राज्य मनुष्य के जीवन के लिए परमावश्यक नहीं, पर समाज के बिना मनुष्य का जीवन कठिन हो जाता है।

राज्य और साहचर्य—(१) क्षेत्र और सर्वोच्चता राज्य की विशेषताएं हैं, साहचर्य की नहीं, (२) एक आदमी अनेक साहचर्यों का सदस्य हो सकता है, पर अनेक राज्यों का नहीं हो सकता। (३) राज्य की सदस्यता अनिवार्य है, साहचर्य की नहीं। (४) राज्य का क्षेत्र साहचर्य के क्षेत्र की अपेक्षा बहुत विस्तृत है। राज्य के अन्दर हजारों साहचर्य समाविष्ट हैं।(५)राज्य स्थायी होता है और साहचर्य प्रायः अस्थायी होता है।

राज्य और सरकार—(१) राज्य अमूर्त होता है, सरकार मूर्त होती है। (२) राज्य सर्वोच्चता धारण करता है और उसकी सत्ता मौलिक होती है। सरकार सर्वोच्च नहीं होती और इसका अधिकार लिया हुआ होता है।(३)राज्य स्थायी होता है, सरकारें बदलती रहती है। सब लोग राज्य के सदस्य होते है, सरकार के नहीं। (५) हम सब राज्य के प्रति निष्ठा रखते है, सरकार के प्रति नहीं।

प्रश्न

QUESTIONS

१. राज्य की परिभाषा करो। इसके कौन-कौन से गुण हैं?

(प० वि० अप्रैल, १९४८)

1 Define 'state'? What are its attributes? (P. U April, 1948)

या

सावधानी से राज्य के सारभूत गुणों का वर्णन करो।

(प० वि० अप्रैल, १९५०)

Describe carefully the essential attributes of the state.

(P U April, 1950)

२. राज्य का क्या अर्थ है? राज्य और सरकार में अन्तर करो?

(प० वि० सितम्बर, १९५०)

2. What is meant by the state? Distinguish between state and government (P. U. April, 1950)

३. समाज, राज्य और सरकार में अंतर करो।

(प० वि० सितम्बर, १९५१ व अप्रैल, १९५२)

3. Distinguish between society, state and government.

(P. U Sep. 1951, and Apr., 1950)

४ राज्य और साहचर्य की परिभाषा करो। इन दोनों का अंतर बतलाओ। (प० वि० अप्रैल, १९५४)

4 Define the state and an association Distinguish between them (P U April 1954)

५ 'सर्वोच्चता' शब्द से आप क्या समझते हैं। इसके आवश्यक लक्षण क्या हैं? (प० वि० अप्रैल, १९५३)

5 What do you understand by the term Sovereignty? What are its essential characteristics? (P U April 1953)

६. सर्वोच्चता के कौन से अनेक प्रकार हैं?

6 What are the various kinds of sovereignty?

अध्याय : : ६

# राज्य का उद्‌गम और प्रकृति

## (Origin and Nature of the State)

**राज्य का उद्‌गम**–राज्य समाज में से उत्पन्न और विकसित हुआ है। इसका उद्‌गम प्रागैतिहासिक काल में है। इसी कारण यह अनिश्चित है। इस बात का कोई प्रामाणिक प्रमाण नहीं मिलता कि राज्य कैसे और कब आरम्भ हुआ। इसी कारण विद्वानों में राज्य के उद्‌गम के बारे में बड़ा मतभेद है। इस प्रसंग में हम पांच महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

(१) दैवागम सिद्धान्त (Theory of Divine Origin)।
(२) समाज संविदा सिद्धान्त (Social Contract Theory)
(३) बल सिद्धान्त (Force Theory)
(४) पैतृक और मातृक सिद्धान्त
(५) ऐतिहासिक और विकासवादी सिद्धान्त।

**दैवागम सिद्धान्त**—राज्य के उद्‌गम के बारे में सबसे पुराना विचार यह है कि यह ईश्वर की कृति है। ईश्वर न केवल राज्य का सृजन करता है, बल्कि किसी अभिकर्ता द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस पर शासन भी करता है। राजा ईश्वर के स्थानापन्न के रूप में राज्य पर शासन करता है। यह सिद्धान्त सब धर्मों की धार्मिक पुस्तकों में पाया जाता है और सोलहवीं सदी तक यह आम तौर पर माना जाता था, पर आज की दुनिया में यह नहीं माना जाता। इसके न माने जाने के ये अनेक कारण हैं —

(१) राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त इसी सिद्धान्त से पैदा हुआ था। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा अपने आपको सिर्फ ईश्वर के सामने जवाबदेह बताता था, जनता के सामने नहीं। इस तरह के विचार ने उसे बिलकुल निरंकुश बना दिया और उसके गलत कामों के लिये उससे पूछताछ करने का जनता के पास कोई अधिकार नहीं छोड़ा। इसलिए जनता की ओर से राजाओं के दैवी सिद्धान्त के अधिकार का मुकाबिला करने के लिये समाज संविदा सिद्धान्त रखा गया। इस सिद्धान्त के अनुसार, राजा अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करता है, और राज्य शासक और शासित के बीच संविदा होने से उत्पन्न हुआ है। समाज संविदा सिद्धान्त बड़ा तर्कपूर्ण था, और इसने शीघ्र ही दैवागम सिद्धान्त को मैदान से भगा दिया।

(२) दैवागम सिद्धान्त तब तक चलता रहा जब तक धर्म में अंधविश्वास मनुष्य समाज में जमा हुआ था। जब धर्म के सिद्धान्तों की समीक्षा होने लगी, तब यह

खत्म हो गया। यह शासक अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी। इसलिए कोई आदमी तर्कसंगत रूप से यह नहीं सोच सकता था कि ईश्वर लोगों पर बुरे राजा से शासन कराने की इच्छा रख सकता है। इसलिए राज्य ईश्वरजनित नहीं हो सकता।

तो भी दैवागम सिद्धान्त ने शुरू के समय में अधिकारियों के प्रति सम्मान पैदा किया।

**समाज संविदा सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त संविदा द्वारा राज्य का उद्गम बताता है। समाज संविदा के पक्षपाती प्रमुख लेखक तीन हैं, अर्थात् हॉब्स, लॉक और रूसो। ये सब अपने सिद्धान्त को नैसर्गिक अवस्था (state of nature) से शुरू करते हैं। नैसर्गिक अवस्था से उनका मतलब उस दशा से है जिसमें मनुष्य समाज और राज्य के बनने से पहले रहते थे। इन लेखकों के अनुसार लोगों ने आपस में संविदा या समझौता करके समाज और राज्य का निर्माण किया।

*हॉब्स का सिद्धान्त—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था अराजकता की थी।* इसमें हर आदमी अलग रहता था, बड़ी स्वार्थबुद्धि से काम करता था और दूसरे के सुख की परवाह न करके अपने लिये अधिकतम सुख हासिल करने की कोशिश करता था, ऐसी अवस्था में किसी का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित नहीं हो सकती थी और हर आदमी दूसरे से डरता और उस पर सदेह करता था। इस अवस्था को देखकर ही लोगों ने आपस में संविदा करने का करार किया। *इस संविदा द्वारा हॉब्स के अनुसार लोगों ने* अपनी सत्ता एक तीसरे व्यक्ति को सौंप दी, जो शासक या प्रभु कहलाया, पर प्रभु स्वयं इस संविदा में शामिल नहीं था। इसके बाद संविदा द्वारा लोग कानूनन और नैतिक दृष्टि से प्रभु द्वारा दिए गए हर आदेश का पालन करने के लिए बंध गए। उन्हें प्रभु द्वारा दी गई आजादी और अधिकारों के अलावा और कोई आजादी और अधिकार नहीं रहे। *इस प्रकार हॉब्स ने परम शक्तिवाद (Absolutism) को अनुचित* ठहराने के लिये संविदा सिद्धान्त का प्रयोग किया।

पर हॉब्स समाज संविदा सिद्धान्त का प्रारम्भिक लेखक नहीं है। यथार्थ सामाजिक-संविदा सिद्धान्त में दो संविदाएं होनी आवश्यक हैं। एक समाज के निर्माण के लिये जो सामाजिक संविदा कहलाएगी और दूसरी सरकार स्थापित करने के लिये जो सरकार सम्बन्धी संविदा कहलाएगी। यहां भी सामाजिक संविदा सिद्धान्त का वास्तविक प्रयोजन राजाओं के दैवी अधिकार या निरंकुशता का मुकाबिला करना था। इस सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकार, जो वह नैसर्गिक अवस्था से लाया था, समाज और राज्य की सत्ता पर सदा एक रोक बने रहते थे।

*लॉक का सिद्धान्त—लॉक समाज संविदा सिद्धान्त का एक प्रारम्भिक लेखक है।* उपर्युक्त सब विचार उसके सिद्धान्त में आ जाते हैं। यह हॉब्स के प्रतिकूल बातें मानता है। उसके विश्वास के अनुसार, नैसर्गिक अवस्था शान्तिपूर्ण थी जिसमें सब व्यक्ति एक दूसरे से तर्कसंगत रीति से व्यवहार करते थे। तो भी लॉक का यह विश्वास था कि सम्पत्ति का विचार आ जाने पर लोगों ने झगड़ना शुरू कर दिया। उन्हें नैसर्गिक अवस्था

के स्थान पर संविदा द्वारा एक जानपद समाज ( Civil society ) स्थापित करनी पड़ी । लॉक के अनुसार समाज संविदा द्वारा आदमी ने अपना सिर्फ *एक अधिकार समाज को दिया, अर्थात् अन्य आदमियों के साथ उसका सम्बन्ध तय* करने का अधिकार। शेष अधिकार, जैसे जीवन, स्वतन्त्रता, और सम्पत्ति का अधिकार, जिन्हें लॉक नैसर्गिक अधिकार कहता है, व्यक्ति ने अपने पास रखे । समाज उसे इन अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता था। बाद में समाज ने उन्हीं शर्तों पर सरकार सम्बन्धी संविदा द्वारा एक सरकार या शासक स्थापित किया। लॉक के अनुसार शासक ने तब तक सत्तारूढ़ रहना था जब तक वह लोगों के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करे और जनता के हित की दृष्टि से शासन करे। यदि वह वैसा नहीं करता तो जनता को क्रान्ति द्वारा उसे बदल देने का और उसके स्थान पर दूसरा शासक बना देने का अधिकार था।

**रूसो का सिद्धान्त**—रूसो की नैसर्गिक अवस्था लॉक की अवस्था से भी अधिक आनन्दमय है। पर लॉक के असदृश, वह सिर्फ एक संविदा का उल्लेख करता है, जिसमें सब लोग मिलकर अपने सब प्राधिकार एक साधारण इच्छा (General will) को सौंप देते हैं। और प्रत्येक आदमी इस इच्छा का एक भाग बन जाता है। इस प्रकार रूसो के अनुसार प्राधिकार किसी एक आदमी को नहीं सौंपा जाता, जैसा कि हॉब्स की सामाजिक संविदा में होता था, बल्कि सब लोगों को मिलाकर सौंपा जाता है। रूसो का साधारण इच्छा का सिद्धान्त बाद में जनता की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का आधार बन गया। यद्यपि रूसो नैसर्गिक अधिकारों में विश्वास नहीं करता था, तो भी वह सम्मति द्वारा शासन का पक्का समर्थक था। वह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का हामी है जिसमें सब आदमी सभा में बैठेंगे और कानून बनायेंगे।

**समाज संविदा सिद्धान्त की आलोचना**—इस सिद्धान्त पर मुख्य आपत्तियाँ ये हैं —

(१) समाज संविदा का मतलब यह हो जाता है कि लोगों ने विचार-विमर्श करके राज्य बनाया। तथ्य यह है कि ऐसी कोशिश का राज्य के विकास में बहुत थोड़ा हाथ रहा है। मुख्यतः राज्य समाज में से स्वाभाविक रीति से बिना जानबूझकर कोशिश किये पैदा हुआ है।

(२) समाज संविदा इतिहास से संगत नहीं है। इतिहास में सरकार *सम्बन्धी संविदा के उदाहरण तो मिलते हैं, पर संविदा द्वारा समाज पैदा होने का* कोई उदाहरण नहीं मिलता।

(३) यह विचार भी इतिहाससंगत नहीं है कि आदमी नैसर्गिक अवस्था में अलग-अलग जीवन बिताते थे। आदमी कभी इस तरह नहीं रहता था। बहुत आदिकालीन लोगों का अध्ययन करने से भी हमें यही पता चलता है कि मनुष्य सदा समूहों में रहता रहा है।

(४) कानूनी दृष्टि से संविदा सिर्फ संविदाकारी पक्षों पर ही बन्धनकारी होती

चाहिए। समाज संविदा के पक्षपाती लेखक यह कैसे मान लेते हैं कि जिन्होंने शुरू में संविदा की थी, उनके बेटों-पोतों पर भी वह बंधनकारी होगी।

(५) यह कहकर कि समाज संविदा के अधीन लोग अपना शासन बदल सकते हैं, यह सिद्धान्त प्राधिकार की इज्जत न करने की सलाह देता है। यह लोगों को तुच्छ बातों पर विद्रोह कर देने के लिये बढावा देता है।

(६) इस सिद्धान्त से अधिकारों के बारे में गलत विचार पैदा होता है। नैसर्गिक अधिकार जैसी कोई चीज नहीं होती। आदमी को समाज और राज्य पर कोई अधिकार नहीं मिल सकता।

इस सिद्धान्त की कुछ अच्छाइयाँ भी है —

(१) यह राज्य के उद्गम के बारे में अधिक अच्छी व्याख्या पेश करता है। इसके अनुसार राज्य मनुष्य का बनाया हुआ है, ईश्वर का नहीं।

(२) इस सिद्धान्त में सम्मति द्वारा शासन का जो उसूल है, वह आधुनिक लोकतन्त्र का आधार बना है।

(३) इस सिद्धान्त ने सबसे पहले ठीक तरह से व्यष्टि का महत्व बताया।

**बल का सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त यह कहता है कि राज्य बल द्वारा पैदा होता है और बल द्वारा ही यह कायम रखा जाता है। इसके समर्थक कहते हैं कि आदमी स्वभाव से झगडालू है। उसमें ताकत की चाह भी है। इसलिए समाज के शुरू के दिनों में जो आदमी औरों से अधिक ताकतवर था, उसने अपने पडोस के कमजोर लोगों पर अधिकार कर लिया होगा और उन्हें गुलाम बना लिया होगा। धीरे धीरे इसने बल के जोर से अपने साथियों की सख्या बढा ली और वह कबीले का सरदार बन गया। जब एक कबीले ने अपने सरदार के नेतृत्व में बहुत बडे हिस्से पर नियत्रण कर लिया और वह उस पर स्थायी रूप से रहने लगा, तब राज्य का जन्म हुआ।

इसके अलावा, बल के सिद्धान्त के पक्षपातियों का यह भी कहना है कि बल सिर्फ *राज्य के सृजन के लिये आवश्यक नहीं, बल्कि इसे कायम रखने के लिये भी लाजमी है। आदमी के स्वभाव से झगडालू होने के कारण, राज्य के भीतर कानून और व्यवस्था तथा बाहरी आक्रमणों से बचाव बल द्वारा ही किया जा सकता है।*

***बल के सिद्धान्त की आलोचना***—*यह सिद्धान्त राज्य के उद्गम की पूरी व्याख्या* नहीं करता। इसका यह कहना भी गलत है कि राज्य के पैदा करने और कायम रखने में बल ही एकमात्र कारण है। हम मानते हैं कि राज्य के उद्गम और विकास में बल ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हम यह भी मानते हैं कि राज्य को बनाये रखने के लिए बल आवश्यक है। राज्य के भीतर राज्य को इस वास्ते बल की आवश्यकता है जिससे लोग इसके कानूनों का पालन करें। बाहरी दृष्टि से किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण को विफल करने के लिए बल आवश्यक है। पर हमें यह याद रखना चाहिए कि राज्य के उद्गम और उसके सधारण, दोनों, में बल सिर्फ एक कारक रहा है। यह न

के स्थान पर संविदा द्वारा एक जानपद समाज ( Civil society ) स्थापित करनी पड़ी। लॉक के अनुसार समाज संविदा द्वारा आदमी ने अपना सिर्फ एक अधिकार समाज को दिया, अर्थात् अन्य आदमियों के साथ उसका सम्बन्ध तय करने का अधिकार। शेष अधिकार, जैसे जीवन, स्वतन्त्रता, और सम्पत्ति का अधिकार, जिन्हें लॉक नैसर्गिक अधिकार कहता है, व्यक्ति ने अपने पास रखे। समाज उसे इन अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता था। बाद में समाज ने उन्हीं शर्तों पर सरकार सम्बन्धी संविदा द्वारा एक सरकार या शासक स्थापित किया। लॉक के अनुसार शासक ने तब तक सत्तारूढ़ रहना था जब तक वह लोगों के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करे और जनता के हित की दृष्टि से शासन करे। यदि वह वैसा नहीं करता तो जनता को शान्ति द्वारा उसे बदल देने का और उसके स्थान पर दूसरा शासक बना देने का अधिकार था।

**रूसो का सिद्धान्त**—रूसो की नैसर्गिक अवस्था लॉक की अवस्था से भी अधिक आनन्दमय है। पर लॉक के असदृश, वह सिर्फ एक संविदा का उल्लेख करता है, जिसमें सब लोग मिलकर अपने सब प्राधिकार एक साधारण इच्छा (General will) को सौंप देते हैं। और प्रत्येक आदमी इस इच्छा का एक भाग बन जाता है। इस प्रकार रूसो के अनुसार प्राधिकार किसी एक आदमी को नहीं सौंपा जाता, जैसा कि हॉब्स की सामाजिक संविदा में होता था, बल्कि सब लोगों को मिलाकर सौंपा जाता है। रूसो का साधारण इच्छा का सिद्धान्त बाद में जनता की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का आधार बन गया। यद्यपि रूसो नैसर्गिक अधिकारों में विश्वास नहीं करता था, तो भी वह सम्मति द्वारा शासन का पक्का समर्थक था। वह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का हामी है जिसमें सब आदमी सभा में बैठेंगे और कानून बनायेंगे।

**समाज संविदा सिद्धान्त की आलोचना**—इस सिद्धान्त पर मुख्य आपत्तियां ये हैं —

(१) समाज संविदा का मतलब यह हो जाता है कि लोगों ने विचार-विमर्श करके राज्य बनाया। तथ्य यह है कि ऐसी कोशिश का राज्य के विकास में बहुत थोड़ा हाथ रहा है। मुख्यतः राज्य समाज में से स्वाभाविक रीति से बिना जानबूझकर कोशिश किये पैदा हुआ है।

(२) समाज संविदा इतिहास से संगत नहीं है। इतिहास में सरकार सम्बन्धी संविदा के उदाहरण तो मिलते हैं, पर संविदा द्वारा समाज पैदा होने का कोई उदाहरण नहीं मिलता।

(३) यह विचार भी इतिहाससंगत नहीं है कि आदमी नैसर्गिक अवस्था में अलग-अलग जीवन बिताते थे। आदमी कभी इस तरह नहीं रहता था। बहुत आदिकालीन लोगों का अध्ययन करने से भी हमें यही पता चलता है कि मनुष्य सदा समूहों में रहता रहा है।

(४) कानूनी दृष्टि से संविदा सिर्फ संविदाकारी पक्षों पर ही बंधनकारी होती

चाहिए। समाज संविदा के पक्षपाती लेखक यह कैसे मान लेते हैं कि जिन्होंने शुरू में संविदा की थी, उनके बेटो-पोतो पर भी वह बंधनकारी होगी।

(५) यह कहकर कि समाज संविदा के अधीन लोग अपना शासन बदल सकते है, यह सिद्धान्त प्राधिकार की इज्जत न करने की सलाह देता है। यह लोगों को तुच्छ बातो पर विद्रोह कर देने के लिये बढ़ावा देता है।

(६) इस सिद्धान्त से अधिकारों के बारे में गलत विचार पैदा होता है। नैसर्गिक अधिकार जैसी कोई चीज नहीं होती। आदमी को समाज और राज्य पर कोई अधिकार नही मिल सकता।

इस सिद्धान्त की कुछ अच्छाइयां भी हैं —

(१) यह राज्य के उद्‌गम के बारे में अधिक अच्छी व्याख्या पेश करता है। इसके अनुसार राज्य मनुष्य का बनाया हुआ है, ईश्वर का नहीं।

(२) इस सिद्धान्त में सम्मति द्वारा शासन का जो उसूल है, वह आधुनिक लोकतन्त्र का आधार बना है।

(३) इस सिद्धान्त ने सबसे पहले ठीक तरह से व्यष्टि का महत्व बताया।

**बल का सिद्धान्त**—यह सिद्धान्त यह कहता है कि राज्य बल द्वारा पैदा होता है और बल द्वारा ही यह कायम रखा जाता है। इसके समर्थक कहते हैं कि आदमी स्वभाव से झगड़ालू है। उसमें ताकत की चाह भी है। इसलिए समाज के शुरू के दिनों में जो आदमी औरों से अधिक ताकतवर था, उसने अपने पड़ोस के कमजोर लोगों पर अधिकार कर लिया होगा और उन्हें गुलाम बना लिया होगा। धीरे-धीरे इसने बल के जोर से अपने साथियों की संख्या बढ़ा ली और वह कबीले का सरदार बन गया। जब एक कबीले ने अपने सरदार के नेतृत्व में बहुत बड़े हिस्से पर नियंत्रण कर लिया और वह उस पर स्थायी रूप से रहने लगा, तब राज्य का जन्म हुआ।

इसके अलावा, बल के सिद्धान्त के पक्षपातियों का यह भी कहना है कि बल सिर्फ राज्य के सृजन के लिये आवश्यक नहीं, बल्कि इसे कायम रखने के लिये भी लाज़मी है। आदमी के स्वभाव से झगड़ालू होने के कारण, राज्य के भीतर कानून और व्यवस्था तथा बाहरी आक्रमणों से बचाव बल द्वारा ही किया जा सकता है।

**बल के सिद्धान्त की आलोचना**—यह सिद्धान्त राज्य के उद्‌गम की पूरी व्याख्या नही करता। इसका यह कहना भी गलत है कि राज्य के पैदा करने और कायम रखने में बल ही एकमात्र कारण है। हम मानते हैं कि राज्य के उद्‌गम और विकास में बल ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। हम यह भी मानते हैं कि राज्य को कायम रखने के लिए बल आवश्यक है। राज्य के भीतर राज्य को इस वास्ते बल की आवश्यकता है जिससे लोग इसके कानूनों का पालन करें। बाहरी दृष्टि से किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण को विफल करने के लिए बल आवश्यक है। पर हमें यह याद रखना चाहिए कि राज्य के उद्‌गम और उसके संधारण, दोनों, में बल सिर्फ एक कारक रहा है। यह न

ही एक मात्र कारण रहा है, और न सबसे महत्वपूर्ण कारण। राज्य का आधार बल नहीं है। लोगों को एक सत्ता के अधीन रखने के लिए कोई और ही चीज आवश्यक है। लोगों को उस सत्ता की उपयोगिता का विश्वास करना होगा और उनका विश्वास जीतना होगा। इसलिए राज्य का वास्तविक आधार 'इच्छा' (will) है, बल नहीं। निरा बल किसी चीज को मिलाकर नहीं रख सकता। निरे बल से हम किसी जानवर को भी अपने काबू में नहीं रख सकते। हमें साथ-साथ उसका प्रेम भी प्राप्त करना होगा। इसी प्रकार, राज्य तभी स्थायी हो सकता है, जब लोग स्वेच्छा से उसकी आज्ञा का पालन करें। बल पर आधारित राज्य अधिक दिन नहीं टिक सकता।

**पैतृक और मातृक सिद्धान्त**—इन सिद्धान्तों में से एक को भी राज्य के उद्गम के बारे में सही तौर से कोई सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। वे असल में राजनैतिक सिद्धान्त होने के बजाए समाज शास्त्रीय सिद्धान्त है, जो मानव समाज के आरम्भ और इसके परिवर्तन के प्रश्न की व्याख्या करने का यत्न करते हैं। उन सिद्धान्तों का मूल यह प्रश्न है कि पहले पैतृक परिवार हुआ, या मातृक। इस प्रकार के राज्य के उद्गम की उतनी व्याख्या नहीं करते, जितनी परिवार के उद्गम की। हम यह भी निश्चित रूप से जानते हैं कि राज्य परिवार में से विकसित नहीं हुआ, क्योंकि ये दोनों अपनी प्रकृति, संगठन, कार्यों और लक्ष्यों में एक दूसरे से भिन्न हैं।

**ऐतिहासिक और विकासवादी सिद्धान्त**— यह सिद्धान्त राज्य के उद्गम की सबसे अच्छी और सबसे सही व्याख्या करता है। इसके अनुसार राज्य की जड़ इतिहास में है, और वह क्रमिक और अदृश्य रीति से समाज में से विकसित हुआ है। इस रूप में हम यह ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि समाज कब राजनैतिक रूप से संगठित हुआ या राज्य का जन्म कब हुआ। यह बात भी नहीं है कि राज्य सब जगह एक साथ प्रादुर्भूत हुआ है। पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम के पठान कबायली क्षेत्रों में राज्य का विकास अब तक नहीं हुआ।

समाज से राज्य का विकास होने में निम्नलिखित बातें मूलभत रही होंगी -

१ रक्त सम्बन्ध।
२ धर्म।
३ राजनैतिक चेतना।

**रक्त सम्बन्ध**—रक्त सम्बन्ध एकता का पहला बन्धन रहा होगा। पर परिवार पहला सामाजिक समूह रहा होगा। परिवार में रक्त सम्बन्ध के कारण पिता की आज्ञा का परिवार के अन्य सदस्य पालन करते होंगे। जब परिवार गोत्रों के रूप में आ गये और गोत्र बढ़कर कबीलों के रूप में हो गये, तब भी रक्त सम्बन्ध बना रहा, यद्यपि यह बहुत कमजोर होता गया। सब लोग सबसे बड़े जीवित पुरुष सदस्य की आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार शुरू के समाजों में रक्त-सम्बन्ध ने प्राधिकार की वृद्धि में बहुत कुछ सहायता की और यह प्राधिकार ही राज्य का आधार है।

**धर्म**—धर्म ने इस प्राधिकार का बल और बढ़ाया। आरम्भिक अवस्था में मृत पूर्वजों की पूजा अप्रत्यक्ष रूप से सबसे बड़े जीवित पुरुष सदस्य के प्राधिकार को ताकत देती थी। बाद में, जब प्रकृति के देवताओं की पूजा होने लगी, तब कबीले का नेता सारे कबीले के निमित्त उन्हें भेंट चढ़ाता था। स्वभावतः कबीले के अन्य लोग उसे देवताओं का प्यारा समझने लगे और उसकी आज्ञा भंग करने से डरने लगे। इस प्रकार धर्म शासक के प्राधिकार को बलवान बनाने में और लोगों को कानून पालक बनाने में बड़ा सहायक हुआ।

**राजनैतिक चेतना**—राजनैतिक चेतना आर्थिक जीवन की बढ़ोतरी से पैदा हुई थी। आर्थिक दृष्टि से समाज शिकार, पशुपालन, और खेती की अवस्थाओं में से गुजरा। पहली दो अवस्थाओं में लोग बंजारों का जीवन बिताते थे। पर कृषि ने उन्हें एक निश्चित क्षेत्र में बसने को मजबूर कर दिया। इसी तरह समाज के विकास की प्रत्येक अवस्था में निजी सम्पत्ति बढ़ गई, और कबीलों में युद्ध अधिक होने लगे। युद्धों ने राजनैतिक चेतना पैदा की और कबीले एक दूसरे के हमलों से जीवन और सम्पत्ति की रक्षा की आवश्यकता अनुभव करने लगे। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि रक्त सम्बन्ध की दृष्टि से जो सदस्य सबसे बड़ा है, वह युद्ध में उनका नेतृत्व नहीं कर सकता। परिणामतः, हर कबीले ने ऐसे आदमी को अपना युद्ध नेता बना लिया, जिसमें युद्ध सम्बन्धी गुण सबसे अधिक थे। धीरे-धीरे युद्ध-नेता की प्रतिष्ठा और महत्त्व बढ़ते गये और वह राजा कहलाने लगा। उसका प्राधिकार एक विशेष क्षेत्र के सब लोगों पर होता था और उनका किसी रक्त विशेष के लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं था। जब समाज के विकास में ऐसी अवस्था आ गई तब राज्य का जन्म हुआ।

## राज्य की प्रकृति

हम देख चुके हैं कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। आज के समाज में जो अनेक संघ और संस्थाएं हैं, वे मनुष्य के इसी सामाजिक स्वभाव का परिणाम हैं। इसलिए राज्य भी, जो एक संघ या साहचर्य ही है, स्वाभाविक है, पर एक बात याद रखनी चाहिए। अनेक साहचर्यों और संस्थाओं का विकास पूरी तरह स्वाभाविक मार्ग से नहीं होता। मनुष्य द्वारा जान-बूझ कर किया गया प्रयास भी इनके रूप को बनाने में बहुत हिस्सा लेता है। इसलिए राज्य को अंशतः स्वाभाविक और अंशतः सचेत प्रयत्न का परिणाम कहा जा सकता है। स्वाभाविक प्रवृत्ति और सचेत प्रयत्न राज्य के निर्माण में ऐसी सूक्ष्मता से मिल गये हैं कि लोगों में राज्य की प्रकृति के बारे में अलग-अलग विचार पैदा हो गये हैं।

कुछ लोगों की दृष्टि में राज्य बिल्कुल बनाई हुई चीज है और इसमें जो एकता है वह संविदा आदि कृत्रिम साधनों का परिणाम है। कुछ लोग राज्य को एक जीवपिण्ड (Organism) समझते हैं और इसकी एकता को वैसी ही एकता समझते हैं जैसे किसी जीवपिण्ड के अनेक भागों में होती है। अब हम राज्य की प्रकृति के बारे में इन दोनों दृष्टिकोणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

संविदा सिद्धान्त—हम इस सिद्धान्त पर राज्य के उदगम के सिलसिले में भी विचार कर चुके हैं। राज्य की प्रवृत्ति के बारे में भी यह एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार, समाज और राज्य संविदा या आपसी और स्वेच्छा किये गये करार का परिणाम है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि राज्य की आधारभूत एकता बनाई हुई एकता है, स्वाभाविक नहीं। यह सिद्धान्त राज्य की संतोषजनक व्याख्या नहीं करता। यह राज्य के निर्माण में मनुष्यों के सोचे-विचारे और जानबूझकर किये गये प्रयास पर अनुचित बल देता है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की उपेक्षा करता है जो राज्य में अधीन लोगों को इकट्ठा करने में मूल प्रेरक है।

जीवविज्ञीय सिद्धान्त ( Organismic Theory )—इस सिद्धान्त के लेखक राज्य की प्रकृति की व्याख्या किसी जीवपिण्ड से इसकी तुलना द्वारा करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर तो राज्य और मानव शरीर को बिल्कुल एक ही बताता है। उसके अनुसार ये दोनों अपनी वृद्धि, संरचना और कार्यों में एक जैसे होते हैं। राज्य का सरल रूप से संकुल रूप में विकसित होना किसी जीवपिण्ड की एक-कोशिकीय पिण्ड से बहुकोशिकीय पिण्ड के रूप में वृद्धि से मिलता-जुलता है। राज्य के विभिन्न अंगों का सहयोग वैसा ही है जैसे मानव शरीर के विभिन्न भागों का अपने कार्य करते हुए आपसी सहयोग। राज्य और मानव शरीर की संरचना के विषय में स्पेन्सर ने निम्नलिखित समानताएं प्रस्तुत की हैं :

१ राज्य के लिए सरकार उसी रूप में है जिस रूप में मानव शरीर के लिए मस्तिष्क है।

२ रेल, सड़क और तार राज्य के लिए वैसे ही हैं जैसे शरीर के लिए धमनियां और सिराएं।

३ पेट और आतें शरीर को पोषण देती हैं—मैन्युफैक्चरिंग और कृषि कार्य राज्य को जीवित रखते हैं।

जैसा कि स्पष्ट है, स्पेन्सर ने राज्य और मानव शरीर के बीच समानता बहुत दूर तक दिखाई है। राज्य को जीवपिण्ड कहना गलत है। यह कुछ दृष्टियों से सिर्फ जीवपिण्ड जैसा है। राज्य बहुत बातों में जीवपिण्ड से भिन्न भी होता है। जीवपिण्ड के भागों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उदाहरण के लिए, हाथ शरीर से स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता। व्यक्ति अपने आप में एक पूर्ण समष्टि है और वह राज्य के बिना भी जीवित रह सकता है। दूसरे, मनुष्य प्राणियों में एक जीवपिण्ड दूसरे में से पैदा होता है। राज्य के मामले में यह बात नहीं।

## साराश

**राज्य का उद्गम**—राज्य का उद्गम अज्ञात अतीत में हुआ था। हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि राज्य कब और कैसे आरम्भ हुआ। हम इसके उद्गम का अनुमान ही कर सकते है। इस सम्बन्ध मे कई विचार पेश किये गये है —

**दैवी उद्गम का सिद्धांत**—राज्य के उद्गम के बारे में सबसे पुराना विचार यह है कि इसे ईश्वर ने बनाया। यह सब धर्मों की पुस्तकों में मिलता है। इस विचार से राजा के दैवी अधिकार का सिद्धान्त पैदा हुआ। इस विचार का असली आधार धार्मिक पुस्तकों में श्रद्धा था। यह तर्क की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण खतम हो गया।

**समाज सविदा का सिद्धांत**—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का जन्म सविदा के द्वारा हुआ। हॉब्स, लॉक तथा रूसो समाज सविदा के तीन महत्त्वपूर्ण लेखक थे। यद्यपि हॉब्स ने इस सिद्धान्त द्वारा परमशक्तिवाद (Absolutism) को उचित ठहराया था तो भी इस सिद्धान्त का असली प्रयोजन, जैसा कि लॉक ने बताया था, दैवी अधिकार के सिद्धान्त के मुकाबिले मे जनता के अधिकारों पर बल देना था। शासक को अपनी जनता के साथ की गई सविदा द्वारा सत्ता मिलती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने लोकतन्त्र के बलों को जन्म दिया। पर राज्य प्राकृतिक है और किसी सविदा का परिणाम नही। सामाजिक सविदा कपोल-कल्पित, इतिहास के विरुद्ध और कानून के विरुद्ध है। इसी प्रकार, इस सिद्धान्त की कुछ बुनियादी अवधारणाएं, अर्थात् प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक या नैसर्गिक अधिकार सर्वथा अवास्तविक है।

**बल का सिद्धांत**—इस सिद्धान्त का कहना है कि राज्य का जन्म सिर्फ बल से हुआ और बल ने ही जोर पर यह कायम है। इस प्रकार यह बल को अनुचित महत्व देता है। राज्य के सृजन और सरक्षण म बल सिर्फ एक कारक है। यह अधिक महत्त्वपूर्ण घटक भी नही है। अधिक महत्त्वपूर्ण घटक 'इच्छा' है, बल नही।

**ऐतिहासिक और विकासवादी सिद्धांत**—इसके अनुसार राज्य समाज में विकास के क्रमिक और अनजाने प्रक्रम का परिणाम है। इसका उद्गम ऐतिहासिक ढग से खोजना चाहिए। समाज से राज्य का विकास होने में रक्त सम्बन्ध, धर्म और राजनैतिक चेतना से मदद मिली। रक्त-सम्बन्ध एकता का पहला बन्धन था। इसने लोगों को पहले परिवार म और इसके बाद गोत्र तथा कबीले में रक्त की दृष्टि से ज्येष्ठ के अधीन सगठित किया। धर्म ने सत्ता के प्रति आदर पैदा किया। जब समाज शिकार की अवस्था से खेती की अवस्था में पहुच गया, तब सम्पत्ति बढ जाने से राजनैतिक चेतना पैदा हुई। सम्पत्ति में वृद्धि हो जाने पर युद्ध अधिक होने लगे और युद्ध ने राजा को जन्म दिया। इस प्रकार जब एक राजा की सत्ता किसी निश्चित क्षेत्र के लोगों के ऊपर कायम हुई, तब राज्य का जन्म हुआ। राज्य के उद्गम के बारे में यह व्याख्या सबसे अधिक तर्कसगत है।

संविदा सिद्धान्त—हम इस सिद्धान्त पर राज्य के उद्गम के सिलसिले में भी विचार कर चुके हैं। राज्य की प्रवृत्ति के बारे में भी यह एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार, समाज और राज्य संविदा या आपसी और स्वेच्छा किये गये करार का परिणाम है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि राज्य की आधारभूत एकता बनाई हुई एकता है, स्वाभाविक नहीं। यह सिद्धान्त राज्य की संतोषजनक व्याख्या नहीं करता। यह राज्य के निर्माण में मनुष्यों के सोचे-विचारे और जानबूझकर किये गये प्रयास पर अनुचित बल देता है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की उपेक्षा करता है जो राज्य में अधीन लोगों को इकट्ठा करने में मूल प्रेरक है।

जीवविशेष सिद्धान्त ( Organismic Theory )—इस सिद्धान्त के लेखक राज्य की प्रकृति की व्याख्या किसी जीवपिण्ड से इसकी तुलना द्वारा करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर तो राज्य और मानव शरीर को बिलकुल एक ही बताता है। उसके अनुसार ये दोनों अपनी वृद्धि, सरचना और कार्यों में एक जैसे होते हैं। राज्य का सरल रूप से सकुल रूप में विकसित होना किसी जीवपिण्ड की एक-कोशिकीय पिण्ड से बहुकोशिकीय पिण्ड के रूप में वृद्धि से मिलता-जुलता है। राज्य के विभिन्न अंगों का सहयोग वैसा ही है जैसे मानव शरीर के विभिन्न भागों का अपने कार्य करते हुए आपसी सहयोग। राज्य और मानव शरीर की सरचना के विषय में स्पेन्सर ने निम्नलिखित समानताएं प्रस्तुत की हैं :

१ राज्य के लिए सरकार उसी रूप से है जिस रूप में मानव शरीर के लिए मस्तिष्क है।

२ रेलें, सड़क और तार राज्य के लिए वैसे ही है जैसे शरीर के लिए धमनियां और शिराएं।

३ पेट और आंतें शरीर को पोषण देती हैं—मैन्युफैक्चरिंग और कृषि कार्य राज्य को जीवित रखते हैं।

जैसा कि स्पष्ट है, स्पेन्सर ने राज्य और मानव शरीर के बीच समानता बहुत दूर तक दिखाई है। राज्य को जीवपिण्ड कहना गलत है। यह कुछ दृष्टियों से सिर्फ जीवपिण्ड जैसा है। राज्य बहुत बातों में जीवपिण्ड से भिन्न भी होता है। जीवपिण्ड के भागों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। उदाहरण के लिए, हाथ शरीर से स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता। व्यष्टि अपने आप में एक पूर्ण समष्टि है और वह राज्य के बिना भी जीवित रह सकता है। दूसरे, मनुष्य प्राणियों में एक जीवपिण्ड दूसरे में से पैदा होता है। राज्य के मामले में यह बात नहीं।

इस सिद्धांत में सत्य का अंश—राज्य के भाग अपने कल्याण के लिए उसी तरह परस्पर आश्रित होते हैं जैसे किसी जीवपिण्ड के भाग। समाज और राज्य की एकता लकड़ियों की गड्डी की एकता के समान नहीं है। यह सजीव एकता है। जैसे कोई तैल-चित्र तेल की बूंदों और रंगों का समूहमात्र नहीं होता उसी प्रकार राज्य व्यष्टियों का समूहमात्र नहीं है।

## साराश

राज्य का उद्गम—राज्य का उद्गम अज्ञात अतीत में हुआ था। हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि राज्य कब और कैसे आरम्भ हुआ। हम इसके उद्गम का अनुमान ही कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में कई विचार पेश किये गये हैं —

दैवी उद्गम का सिद्धान्त—राज्य के उद्गम के बारे म सबसे पुराना विचार यह है कि इसे ईश्वर ने बनाया। यह सब धर्मों की पुस्तकों में मिलता है। इस विचार से राजा के दैवी अधिकार का सिद्धान्त पैदा हुआ। इस विचार का असली आधार धार्मिक पुस्तकों में श्रद्धा था। यह तर्क की कसौटी पर खरा न उतरने के कारण खतम हो गया।

समाज सविदा का सिद्धात—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का जन्म सविदा के द्वारा हुआ। हॉब्स, लॉक तथा रूसो समाज सविदा के तीन महत्त्वपूर्ण लेखक थे। यद्यपि हॉब्स ने इस सिद्धान्त द्वारा परमशक्तिवाद (Absolutism) को उचित ठहराया था तो भी इस सिद्धान्त का असली प्रयोजन, जैसा कि लॉक ने बताया था, दैवी अधिकार के सिद्धान्त के मुकाबिले में जनता के अधिकारो पर बल देना था। शासक का अपनी जनता के साथ की गई सविदा द्वारा सत्ता मिलती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त ने लोकतन्त्र के बलो को जन्म दिया। पर राज्य प्राकृतिक है और किसी सविदा का परिणाम नही। सामाजिक सविदा कपोल-कल्पित, इतिहास के विरुद्ध और कानून के विरुद्ध है। इसी प्रकार, इस सिद्धान्त की कुछ बुनियादी अवधारणाए, अर्थात् प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक या नैसर्गिक अधिकार सर्वथा अवास्तविक है।

बल का सिद्धात—इस सिद्धान्त का कहना है कि राज्य का जन्म सिर्फ बल से हुआ और बल के ही जोर पर यह कायम है। इस प्रकार यह बल को अनुचित महत्त्व देता है। राज्य के सृजन और सरक्षण म बल सिर्फ एक कारक है। यह अधिक महत्त्वपूर्ण घटक भी नही है। अधिक महत्त्वपूर्ण घटक 'इच्छा' है, बल नही।

ऐतिहासिक और विकासवादी सिद्धात—इसके अनुसार राज्य समाज से विकास के क्रमिक और अनजाने प्रक्रम का परिणाम है। इसका उद्गम ऐतिहासिक ढग से खोजना चाहिए। समाज से राज्य का विकास होने में रक्त सम्बन्ध, धर्म और राजनैतिक चेतना से मदद मिली। रक्त-सम्बन्ध एकता का पहला बन्धन था। इसने लोगो को पहले परिवार में और इसके बाद गोत्र तथा कबीले में रक्त की दृष्टि से ज्येष्ठ के अधीन सगठित किया। धर्म ने सत्ता के प्रति आदर पैदा किया। जब समाज शिकार की अवस्था से खेती की अवस्था म पहुच गया, तब सम्पत्ति बढ जाने से राजनैतिक चेतना पैदा हुई। सम्पत्ति म वृद्धि हो जाने पर युद्ध अधिक होने लगे और युद्ध ने राजा को जन्म दिया। इस प्रकार जब एक राजा की सत्ता किसी निश्चित क्षेत्र के लोगों के ऊपर कायम हुई, तब राज्य का जन्म हुआ। राज्य के उद्गम के बारे में यह व्याख्या सबसे अधिक तर्कसगत है।

राज्य की प्रकृति—राज्य अंशतः प्राकृतिक और अंशतः सचेत प्रयत्न का परिणाम है। राज्य की इस प्रकृति के कारण इसकी प्रकृति के बारे में अनेक विचार पैदा हो गए हैं।

संविदा सिद्धान्त के लेखकों के अनुसार, राज्य एक सर्वथा बनाई हुई चीज है और इसकी आधारभूत एकता संविदा जैसे कृत्रिम साधनों का परिणाम है। पर वे मनुष्य की सामाजिक प्रकृति को भूल जाते हैं जो लोगों को राज्य के अधीन इकट्ठा होने में मुख्य रूप से प्रेरणा देती है।

जीवपिंडीय सिद्धान्त के लेखक राज्य की तुलना जीवपिण्ड से करते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने यह सिद्ध करने की भी कोशिश की है कि राज्य एक जीवपिण्ड है, पर यह बात गलत है। अधिक से अधिक हम इतना कह सकते हैं कि राज्य की एकता एक जीवपिण्ड के सदृश है।

## प्रश्न
## QUESTIONS

१ राज्य के दैवी उद्गम के सिद्धांत की आलोचना करो।

1 Critically examine the theory of Divine Origin of the state

२ राज्य के उद्गम के बारे में समाज संविदा सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख करो। इस सिद्धान्त में क्या दोष है ?

2 State briefly the Social Contract Theory regarding the origin of the state What is wrong with this theory ?

३. आप राज्य का सही उद्गम क्या समझते हैं ?

3 What do you think to be the correct origin of the state ?

Or

राज्य के उद्गम के बारे में ऐतिहासिक और विकासवादी सिद्धान्त का संक्षेप में उल्लेख कीजिए ?

Briefly state the Historical and Evolutionary theory regarding the origin of the state

४ राज्य की प्रकृति क्या है ? इस प्रसंग में जीवपिण्डीय सिद्धान्त का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

4 What is the nature of the state Briefly examine the organismic theory in this connection

अध्याय : : १०

# राज्य के कार्य और लक्ष्य

## राज्य के कार्य

आजकल का कोई प्रारूपिक राज्य, जो अनेक कार्य करता है, उनका उल्लेख करने से पहले हम इस सिलसिले में दो चरम विचारों की चर्चा करेंगे। वे हैं व्यष्टि-वादी (Individualistic) और समाजवादी विचार। व्यष्टिवादी लोग राज्य के कार्य कम से कम रखने के पक्ष में हैं। दूसरी ओर, समाजवादी राज्य को अधिक से अधिक कार्य सौंपना चाहते हैं।

व्यष्टिवादी विचार—व्यष्टिवादी लोग राज्य को एक बुराई समझते हैं जिसे मनुष्य की स्वार्थी और झगडालू प्रकृति के कारण रखना पडता है। यदि भीतरी अराजकता और बाहरी हमलों से व्यष्टि की रक्षा की जरूरत न हो तो व्यष्टिवादी राज्य को कतई रखना पसन्द न करेंगे। उनकी राय में, राज्य व्यष्टि की स्वतन्त्रता का दुश्मन है। वे राज्य को अच्छाई पैदा करने का साधन नहीं मानते। व्यष्टि को अपने हितों की देखभाल करने के लिए आजाद छोड़ देना चाहिए। राज्य का दखल तभी उचित है, जब एक व्यष्टि की आजादी दूसरी व्यष्टि की इसी प्रकार की आजादी से टकराती है। अन्यथा, जैसा कि जे० एस० मिल ने कहा था 'अपने ऊपर अपने निज के शरीर और मन पर व्यष्टि सर्वोच्च प्रभुत्व रखता है।" व्यष्टिवादी के अनुसार, जहा तक व्यष्टि के अपने कल्याण का सवाल है, उसे वह जैसे तैसे प्राप्त करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र छोड दिया जाना चाहिए। उनका कहना है कि व्यष्टि स्वय अपना भला-बुरा समझने की बुद्धि रखती है। इस प्रकार, औसत व्यष्टिवादी राज्य को सिर्फ निम्नलिखित कार्य देने को तैयार होता है —

१ बाहरी हमलों से व्यष्टि की रक्षा।

२ व्यष्टियों की एक दूसरे से रक्षा। इसमें उसकी सम्पत्ति की चोरी, डकैती या हानि से रक्षा भी शामिल है।

३ व्यष्टियों की मिथ्या सविदाओं, या सविदाओं के भग से रक्षा।

निस्सदेह, व्यष्टिवादियों ने व्यष्टि के महत्व पर बल देकर और व्यष्टि के दैनिक जीवन में सरकार के अनावश्यक दखल के खिलाफ आवाज उठाकर, उपयोगी सेवा की है। पर व्यष्टि की स्वतन्त्रता के उत्साह में वे राज्य द्वारा व्यष्टि के मंगल के लिये किये जाने वाले काम की कम कीमत लगाते हैं।

**आलोचना**—राज्य के कार्यों के बारे में व्यष्टिवादी सिद्धान्त की आलोचना अनेक तरह से की गई है —

१ *व्यष्टिवादी औसत व्यष्टि की योग्यता के बारे में अनुचित रूप से अधिक* आशावादी है। वास्तव में, अधिकतर लोग अपने भले को नहीं समझते और उन्हें मार्ग दिखाना पड़ता है। अनपढ़ आदमी शिक्षा का मूल्य नहीं समझ सकता।

२ यह समझना गलत है कि राज्य व्यष्टि की स्वतन्त्रता का दुश्मन है। यह तो उसका सबसे अच्छा मित्र है। राज्य उसकी अवांछनीय (अराजकतावादी) स्वतन्त्रता का ही शत्रु है। नागरिक स्वतन्त्रता, जो व्यष्टि के व्यक्तित्व के विकास के लिए परम आवश्यक है, राज्य ही की देन है।

३ व्यष्टिवादी व्यापार और उद्योग में राज्य की दखलन्दाजी न होने की जो माग करते हैं, वह मानी नहीं जा सकती। मालिक और उसके मजदूरों में खुली प्रति-*योगिता होने पर मजदूरों को निश्चित रूप से हानि उठानी होगी। राज्य को अपनी* आबादी के आर्थिक दृष्टि से दुर्बल भाग की, धनियों के शोषण से, रक्षा करनी होगी।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि व्यष्टिवाद आज की दुनिया में अपना प्रभाव खो चुका है। इसे धक्का पहुचाने में समाजवाद के आगमन का बड़ा हाथ रहा है।

**समाजवादी विचार**—समाजवाद व्यष्टिवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है, और ये दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध कोनों पर हैं। व्यष्टिवाद से वैषम्य दिखाने वाली समाजवाद की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं —

१. समाजवादी सिद्धान्त में राज्य को सुनिश्चित अच्छाई का अभिकर्ता माना जाता है। इसे व्यष्टि का उत्तम मित्र, हितकर्ता, और मार्गदर्शक माना जाता है।

२ समाजवादी राज्य को अधिक से अधिक काम सौंपना चाहता है।

३ व्यष्टिवादी मनुष्य के स्वार्थी स्वभाव पर बल देते हैं। दूसरी ओर, समाज-वादी मानव प्रकृति पर *आशावादी दृष्टिकोण रखते हैं, और उसे सारत एक सामाजिक* प्राणी मानते हैं।

४ व्यष्टिवादी यह चाहते हैं कि व्यष्टि का अधिक से अधिक लाभ सुनिश्चित रूप से हो सके। समाजवाद का लक्ष्य है सारे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त कराना। समाजवाद के अनुसार, समाज का भला होने पर व्यष्टि का भला तो हो ही जाता है।

५ व्यष्टिवाद में, उद्योगों का स्वामित्व व्यष्टियों के हाथ में होता है पर, समाजवाद उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण का समर्थक है, या उन पर राज्य का स्वामित्व चाहता है।

६ *व्यष्टिवाद (जिसे आर्थिक अर्थ में पूंजीवाद कह सकते हैं) में समाज का* धन उन थोड़ी सी व्यष्टियों के हाथों में जमा हो जाता है, जो उत्पादन के साधनों की स्वामी होती हैं। समाजवाद का लक्ष्य समाज के सब सदस्यों में धन का समान वितरण है। उद्योग और व्यापार में होने वाले लाभ अन्त में मुफ्त शिक्षा, स्वास्थ्य-सुविधाओं,

अच्छी सडको और ऐसी ही अन्य सामाजिक सेवाओ पर खर्च किये जाए। इस प्रकार समाजवाद का लक्ष्य अधिक न्याय प्राप्त कराना है।

७ समाजवाद का लक्ष्य न केवल अर्थ-व्यवस्था को लोकतान्त्रीय बनाना है, बल्कि समाज को और राज्य का भी लोकतन्त्रीय बनाना है। इसका अर्थ यह है कि हर आदमी को राष्ट्रीय धन म हिस्सा पाने का समान अवसर होगा और जिस राज्य में वह रहते हैं, वह बराबरी वालो की साझेदारी होगा। उसमें कोई एक शासक वग और दूसरे शासित लोग नहीं हागे। यह बराबरी वाला का समाज होगा।

**आलोचना**—प्राय कहा जाता है कि समाजवाद सिद्धान्त म बडा आकर्षक प्रतीत होता है पर व्यवहार म इसमें कुछ कमिया भी होगी —

१ कहा जाता है कि यदि राज्य व्यष्टि के लिए सब कुछ कर दे तो व्यष्टि की स्वय काम करने की प्रवृत्ति और निर्णय की स्वतन्त्रता खत्म हो जाएगी। राज्य लाड-प्यार करने वाले माता पिता की तरह व्यष्टि के व्यक्तित्व की वृद्धि में रुकावट हो जाएगा।

२ यदि राज्य पर इतने सारे काम लाद दिये गये तो चारो तरफ अदक्षता हो जाएगी। राज्य बहुत से काम थोडे-थोडे करेगा और पूरी तरह कोई भी काम न कर सकेगा।

३ यह भी कहा जा सकता है कि उद्योगो पर राज्य का स्वामित्व होने पर वस्तुआ की क्वालिटी में वृद्धि और उत्पादन की लागत में कमी सम्भव नहीं। मजदूर राज्य के नौकर होगे और इसलिए उन्हें बर्खास्त किये जाने की चिन्ता न होगी और इस प्रकार उनमें काम से बचने की प्रवृत्ति होगी और उद्योग के प्रबन्धक भी बहुत सावधान नहीं हागे, क्योंकि हानि होने में उनका अपना कुछ नुकसान नहीं।

इसलिए राज्य के कार्यो के बारे में सही रास्ता इन दोनो सिद्धान्तो के बीच म है।

**आधुनिक काल में राज्य के कार्य**—ज्यो-ज्यो राज्य का संगठन जटिल होता जाता है, त्यो-त्यो इसके कार्यों की किस्म और सख्या भी बढती जाती है। १५० साल पहले राज्य मुख्यत पुलिस राज्य होता था और इसके काय नकारात्मक ढग के थे। उसका काम आतरिक कानून और व्यवस्था तथा बाहरी प्रतिरक्षा तक सीमित था। पर लोकतन्त्र होने पर मगलकारी राज्य का विचार पैदा हुआ। लोगो की चतुर्मुखी उन्नति करना राज्य की जिम्मेदारी मानी जाने लगी। राज्य को अपने नागरिको के मानसिक, शारीरिक और नैतिक कल्याण की वृद्धि करनी चाहिए। आज के जमाने में राज्य अब लोगो का मालिक नहीं रहा। अब यह उनका सबसे वफादार और विश्वस्त नौकर हो गया है।

कोई प्रारूपिक आधुनिक राज्य जो कार्य करता है या जिन कार्यों के करने की उससे आशा की जाती है, उनका वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया जा सकता है —

(क) अनिवार्य कार्य

(१) आतरिक कानून और व्यवस्था बनाए रखना।

(२) बाहरी आक्रमण से प्रतिरक्षा।

ये कार्य करना प्रत्येक राज्य के लिये जरूरी है। इन कार्यों को राज्य पुलिस और सेना के द्वारा करता है।

(ख) ऐच्छिक या वैकल्पिक कार्य .

(१) आर्थिक सुख-सुविधाएँ बढ़ाना।

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा करना, और चिकित्सा सम्बन्धी सहायता करना।

(३) शिक्षा देना।

(४) सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुएँ बनाना।

(५) सामाजिक जीवन में सुधार करना।

(६) सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं के जरिये रोग, बुढ़ापे और बेरोजगारी से लोगों को निश्चिन्त करना।

राज्य चाहे तो इन कार्यों को करे, और न चाहे तो न करे। इनके बारे में राज्य की आवश्यकताओं और साधनों के अनुसार अलग-अलग राज्य में अलग-अलग स्थिति है। तो भी आजकल औसत मंगलकारी राज्य इनमें से जितने कार्य करना सम्भव हो, उतने कार्य करना अपना नैतिक कर्तव्य समझता है।

अब हम इन कार्यों का एक-एक करके संक्षेप में वर्णन करेंगे।

आन्तरिक व्यवस्था—राज्य बनाने के जो प्रमुख कारण थे, उनमें से एक था कानून और व्यवस्था की आवश्यकता। इस प्रकार प्रत्येक राज्य को अपने राज्य क्षेत्र के भीतर लोगों को आपस में लड़ने से रोककर पूर्ण शान्ति रखनी चाहिए। अपराधियों और अन्य बदमाशों को सजा देनी चाहिए। राज्य के कानून एक व्यष्टि के और दूसरे व्यष्टि के तथा राज्य और व्यष्टि के सम्बन्धों को स्पष्ट रूप से बताने वाले होने चाहिएँ। राज्य को दक्ष पुलिस दल और निष्पक्ष तथा स्वतन्त्र न्यायालय बनाना चाहिए जिससे कानून तोड़ने वालों को गिरफ्तार किया जा सके। उन पर मुकदमे चलाए जाएँ और उन्हें दण्डित किया जा सके।

प्रतिरक्षा—राज्य बनाने का एक और मुख्य कारण था बाहरी हमलों से प्रतिरक्षा की आवश्यकता। इस काम के लिए राज्य के पास सुसंगठित, दक्ष और साज सामान से लैस स्थल सेना, वायु सेना और जल सेना होनी चाहिए। इसे राजनयिक प्रतिनिधियों के आदान-प्रदान द्वारा अन्य राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध भी रखने चाहिए।

आर्थिक कार्य—राज्य निम्नलिखित कार्यों द्वारा आर्थिक सुख को बढ़ाता है—

(क) सिंचाई, खेती और खाद देने के अधिक अच्छे तरीकों द्वारा कृषि उत्पादन को बढ़ाना।

(ख) उद्योग और व्यापार की वृद्धि को बढ़ावा देना।

(ग) बैंकिंग और बीमे की वृद्धि को बढ़ावा देना।

(घ) रेलवे, सडकें, वायु मार्ग, तार, टेलीफोन और बेतार आदि सचार तथा परिवहन के अधिक तेज साधनो को बढाना ।

खेती के क्षेत्र में राज्य जमीदारी खत्म करने, चकबन्दी कराने और किसानो के कर्जे खत्म कराने के लिए कानून बनाता है । यह अपनी गवेषणा सस्थाओं में नये प्रकार के बीजो और खादों का प्रयोग करता है और उनके परिणाम लोगों को बताता है ।

औद्योगिक क्षेत्र में, राज्य विदेशी प्रतियोगिता के मुकाबले में नये उद्योगों को आर्थिक सहायता या सरक्षण देकर बढावा देता है । यह मालिको और मजदूरो के सम्बन्धो को नियमित करने के लिए फैक्ट्री कानून बनाता है और इस प्रकार मजदूरो को काम करने की अच्छी अवस्था प्राप्त कराता है । राज्य औद्योगिक झगडो को निबटाने के लिए भी व्यवस्था करता है । राष्ट्रीयकरण द्वारा राज्य स्वय उत्पादक बन जाता है ।

अपने चलार्थ यानी मुद्रा और अन्य देशों की मुद्राओं के विनिमय को नियन्त्रित करके राज्य-व्यापार को विनियमित करता है सचार के अधिक तेज साधन बनाकर और बैंकिंग तथा बीमा कम्पनियों को बढावा देकर राज्य उद्योग तथा वाणिज्य दोनों को बढावा देता है । राज्य कीमतनियत्रण और राशनिंग की प्रणाली द्वारा कृषि-वस्तुओं और उद्योग वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण को नियत्रित और विनियमित कर सकता है ।

**राज्य के समाज सेवा के कार्य**—राज्य के वे काम जो इसकी जनता के जीवन को सुख तथा सुविधाजनक बनाने के लिए किये जाते हैं सामाजिक सेवा या सामाजिक-सेवा कार्य कहलाते हैं । सामाजिक सेवा का लक्ष्य है अज्ञान, बीमारी, गरीबी, बेरोजगारी और असमानता को समाज से दूर करना । किसी देश की सभ्यता और सस्कृति का स्तर इसकी सामाजिक सेवाओं के विस्तार और दक्षता से निर्धारित होता है । उनका विस्तार और दक्षता हर राज्य की वित्तीय स्थिति के अनुसार अलग-अलग होते हैं । अमेरिका जैसा धनी राज्य उन सबकी जिम्मेदारी आसानी से उठा सकता है । सामाजिक सेवाए पूर्णत राज्य के स्वामित्व और प्रबन्ध में चलने वाली या अशत स्वेच्छित और अशत राज्य की सहायता से या राज्य के नियत्रण में चलने वाली हो सकती है ।

**सामाजिक सेवा की आवश्यकता**—पुलिस राज्य का अर्थ आरक्षण मात्र है और उसकी जिम्मेदारी लेने वाले राज्य में सामाजिक सेवाओं की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया जाता । पर औद्योगीकरण और लोकतन्त्र के तेजी से बढने पर सामाजिक सेवाओं की आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव की गई । मशीनों के उपयोग और फैक्ट्रियों की स्थापना ने नये नगर और महानगर बसा दिये । औद्योगिक नगरो और फैक्ट्रियो में सफाई की हालत बडी खराब थी । मालिक लोग मजदूरो को बडी मुश्किल से निर्वाह-मजदूरी देते थे । राज्य की कुल आबादी का अधिकाश मजदूर होते थे । मजदूरो की गरीबी, बीमारी और निरक्षरता की ओर ध्यान खिचना स्वाभाविक था । खासकर

तब जब राज्य लोककल्याणकारी हो। कई कानूनों और बहुत सी सामाजिक सेवाओं द्वारा अवस्थाएं धीरे-धीरे सुधरने लगीं। इस प्रकार भी राज्य को 'सामाजिक सेवा राज्य' का मौजूदा नाम हासिल हुआ।

राज्य के सामाजिक सेवा कार्यों में निम्नलिखित ऐच्छिक कार्य भी शामिल हैं :—

१. सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा।
२. शिक्षा।
३. सामाजिक सुधार।
४. लोकोपयोगी निर्माण कार्य।
५. सामाजिक सुरक्षा योजनाएं।

**सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा**—सामाजिक सेवा राज्य के विचार से पहले, सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा की व्यवस्था राज्य के कार्यों में शामिल नहीं थी। हर आदमी स्वास्थ्य के लिए खुद जिम्मेदार था। महामारियां पैदा होने से रोकने के लिए लोग कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं करते थे। अगर प्लेग, चेचक, हैजा और इन्फ्लुएंजा जैसी महामारियां शुरू होती थीं, तो वे हजारों आदमियों के प्राण ले जाती थीं। लोग उनका कारण ईश्वरीय प्रकोप को बताते थे और इस तरह अपने को तसल्ली देते थे। रोगों के इलाज के लिए लोग झाड़-फूंक करने वाले हकीमों और वैद्यों के पास जाते थे। नगरों में कहीं-कहीं किसी धनिक संस्था या धनियों की तरफ से मुफ्त औषधालय भी होते थे, पर चिकित्सा की इतनी व्यवस्था सब लोगों की आवश्यकता पूरी करने के लिए नाकाफी थी, खास करके महामारियों के दिनों में।

आज के जमाने में राज्य के स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है :—

१. रोग के निवारण से सम्बन्ध रखने वाले कार्य।
२. रोग हो जाने के बाद उसके इलाज से सम्बन्ध रखने वाले कार्य।

पहले प्रकार के कार्य सार्वजनिक स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य कहलाते हैं। निम्नलिखित सब कार्य इस वर्ग में आते हैं

(१) चेचक, हैजा, टायफाइड या मोतीझरा और टी० बी० के टीके लगाना।

(२) नालियां बनाना।

(३) नगरों में पीने के लिए क्लोरीन-युक्त पानी पहुंचाना। इस काम के लिए राज्य सरकार कुएँ खुदवाता है और जलागार बनवाता है।

(४) सफाई निरीक्षकों का काम यह देखना है कि सड़कों पर झाड़ू लगाई जाए और नालियां साफ की जाएं। नगर का गंद नगर से काफी दूर फेंका जाता है।

(५) गंदी बस्तियां साफ की जाती हैं और उनके स्थान पर हवादार तथा खुले मकान बनाये जाते हैं।

(६) नगरोंमें खाने-पीने की मिलावटी और सड़ी वस्तुओं की बिक्री रोकी जाती है।

(७) बीमारी को आगे बढ़ने से रोकने के लिए छूत के हस्पताल बनाये जाते हैं, जहा छूत के रोगियो को बाकी लोगों से अलग रखा जाता है ।

राज्य के चिकित्सा कार्य निम्नलिखित हैं.

(१) आजकल राज्य हस्पताल और औषधालय बनवाता है। उनमें नये से नये उपकरण और दवाइयां रखी जाती है। रोगों के निदान करने, नुस्खे लिखने और दवाइयां देने के लिए अर्हता-प्राप्त डाक्टर, नर्स और कम्पाउण्डर रखे जाते हैं। सरकारी हस्पतालो में डाक्टर को कोई फीस नहीं देनी पड़ती और दवाइयो की कीमत भी नही ली जाती ।

(२) चिकित्सा और शल्य विद्या यानी सर्जरी का ज्ञान देने के लिए और डाक्टरों तथा नर्सों को शिक्षा देने के लिए डाक्टरी स्कूल और कालिज खोले जाते हैं।

(३) राज्य की गवेषणाशालाएं नई दवाइयो के बारे में गवेषणाएं करती हैं।

शिक्षा—*राज्य डाक्टर ही नहीं शिक्षक भी है। शिक्षक के रूप में वह अपने* सब नागरिको को शिक्षा देने की जिम्मेदारी लेता है। कोई भी लोकतन्त्रीय राज्य अपनी जनता को उचित शिक्षा दिए बिना दक्षतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता । इसलिए राज्य को अपने मालिकों तथा नागरिकों को शिक्षा देना जरूरी है। आज के जमाने में सब उन्नत राज्य अपने यहा के बच्चो को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा देते हैं । वे इस काम के लिए स्कूल और कालिज खोलते हैं और ऊंची शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय स्थापित करते हैं ।

सामाजिक सुधार—अपनी जनता के शारीरिक और बौद्धिक कल्याण के अलावा राज्य पर उनकी नैतिक प्रगति की भी जिम्मेदारी है। इस प्रकार राज्य अपनी जनता का डाक्टर और शिक्षक होने के अलावा उनका नैतिक पथ-प्रदर्शक भी है। हर समाज में कुछ अनैतिक और अनुचित प्रथाएं होती हैं । सती प्रथा, बाल हत्या, बाल विवाह, दहेज, छुआछूत, बेगार, गुलामी, शराब पीना और जुआ खेलना—ये सब सामाजिक बुराइयां हैं। राज्य को इन्हे रोकना चाहिए, क्योंकि इनसे स्वास्थ्य और सुखी सामाजिक जीवन बनने में बाधा पड़ती है। भारत में ब्रिटिश शासन के दिनों में सती प्रथा, बाल-हत्या, दास प्रथा और बाल विवाहों के विरुद्ध कानून बनाए गए थे। भारतीय गणराज्य के संविधान ने बेगार और छुआछूत को गैर कानूनी घोषित कर दिया है पर *यह याद रखना चाहिए कि राज्य अकेला सामाजिक सुधार नहीं कर सकता, यद्यपि उसे* आगे-आगे चलना पड़ेगा। सामाजिक सुधारों की बहुत कुछ सफलता लोगों द्वारा अपने-आप बनाये गये ऐच्छिक साहचर्यों पर निर्भर है ।

सामाजिक सुरक्षा—अच्छे मंगलकारी राज्य में नागरिको को गरीबी, बेरोजगारी, बुढ़ापा, बीमारी और दुर्घटनाओं से होने वाली निर्योग्यता से भी सुरक्षा प्रदान

करनी होगी। सामाजिक बीमा योजनाओं की प्रणाली द्वारा राज्य इन सब क्षेत्रों में अपने ऊपर बहुत वित्तीय बोझ बिना डाले लोगों को मदद पहुँचा सकता है। सब उन्नत राज्यों में सामाजिक बीमा प्रणाली मौजूद है। इंग्लैण्ड में रोग और बेकारी से बचाव करने के लिए १९११ में अनिवार्य राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम पास किया गया था। प्रत्येक मजदूर को कानूनन अपनी मजदूरी का एक हिस्सा एक निधि में जमा कराना होगा। मालिक और राज्य भी उसमें रुपया डालते हैं। बीमारी या बेकारी होने पर मजदूर को इन रुपये में से सहायता दी जाती है। इसी प्रकार दुर्घटनाओं की अवस्था में दुर्घटना बीमा की प्रणाली बनाई गई है। बुड्ढे आदमियों को सहायता देने की प्रणाली पहले न्यूजीलैण्ड में शुरू हुई। १९०८ में ब्रिटिश संसद ने भी बुढ़ापा पेन्शन कानून पास कर दिया। इस कानून के अधीन ७० वर्ष या इससे अधिक के सब ब्रिटिश प्रजाजनों की जिनकी आमदनी ३१॥ पौंड से कम होने पर ८ शिलिंग प्रति सप्ताह देने की व्यवस्था की गई।

*लोकोपयोगी सेवाएं*—इनमें निम्नलिखित चीजें शामिल हैं —

(क) रेल, सड़क, नदी, समुद्र और वायु के रास्ते परिवहन सेवाएं।
(ख) डाक, तार और टेलीफोन प्रणाली।
(ग) बिजली, गैस और पानी का संभरण।

**लोकोपयोगी सेवाओं के लाभ**—(१) परिवहन सेवाएं तथा तार टेलीफोन आदि संचार के तेज साधन लोगों के जीवन को अधिक आरामदेह बना देते हैं। दूर-दूर जाने में होने वाली शारीरिक थकान, रेलों, बसों, ट्रामों और विमानों से यात्रा में नहीं होती। यात्रा अधिक सुरक्षित हो जाती है। डाक और तार नाममात्र पैसा लेकर एक जगह से दूसरी जगह बहुत जल्दी खबर पहुँचा देते हैं। शुद्ध पानी लोगों को बहुत से रोगों से बचाता है। तेल की जगह बिजली का प्रयोग स्वास्थ्य के लिए अधिक अच्छा है। रेडियो के मनोरंजक कार्यक्रम पारिवारिक जीवन को सुखी बनाते हैं।

(२) परिवहन के इन साधनों का होना देश की आर्थिक प्रगति के लिए बहुत आवश्यक है। उनके द्वारा कोयला, लोहा और अनाज जैसी भारी और बड़ी वस्तुएं दूर-दूर स्थानों पर ले जाई जा सकती हैं। किसान अपना माल सबसे अधिक आवश्यकता की जगह भेजकर अच्छी से अच्छी कीमत हासिल कर सकता है। परिवहन के द्रुत साधनों के कारण अकाल कम विनाशकारी हो गए हैं, क्योंकि अब अधिकता वाले क्षेत्रों से अनाज आसानी से अकाल-ग्रस्त इलाके में ले जाया जा सकता है। फैक्टरी मालिक कच्चा सामान नियमित रूप से मिलते रहने और निर्मित वस्तुएं जल्दी इधर-उधर पहुँचा दिये जाने के कारण अपनी मशीनें चालू रख सकता है। परिवहन के तेज साधनों के कारण ही किसी इलाके को एक ही प्रकार का उत्पादन करते रहने की सुविधा हो गई है। परिवहन के अच्छे साधन न हों तो एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त और एक राज्य से दूसरे राज्य में व्यापार असम्भव हो जाएगा। सच तो यह है कि संचार के तेज साधनों

ने सारे संसार को एक बाजार बना दिया है।

(३) लोकोपयोगी सेवाओं का सांस्कृतिक महत्व भी है। संचार और परिवहन के तेज साधनों के परिणामस्वरूप एक देश के लोगों में और संसार के लोगों में एक दूसरे के साथ अधिक मिलना-जुलना हो सकता है। बसों, ट्रामों और रेलों में हमें अलग-अलग जगह के अलग अलग राष्ट्रों और संस्कृतियों के सब जगह के लोग मिलते हैं। संस्कृतियों के आदान प्रदान से लोगों का जीवन सम्पन्न होता है और उनमें अधिक सौहार्द और शान्ति पैदा होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सब लोकोपयोगी सेवाएं एक न एक दृष्टिकोण से परम आवश्यक हैं। अगला सवाल यह पैदा होता है कि क्या ये सेवाएं निजी उपक्रम के लिए छोड़ दी जानी चाहिए, या वे राज्य के स्वामित्व और प्रबन्ध में रहनी चाहिए। सार्वजनिक जीवन में इन सेवाओं के महत्व के कारण वे प्रायः राज्य के स्वामित्व और प्रबन्ध में ही होती हैं। पर जहां निजी उपक्रम को भी काम करने दिया जाता है, जैसे, बसों, ट्रामों, जल सम्भरण, और बिजली की व्यवस्था में, वहां राज्य उनके ठीक संचालन के लिए नियम और शर्तें बना देता है। इन क्षेत्रों में प्रतियोगिता अवांछनीय समझी जाती है। और इस प्रकार, सब जगह किसी कम्पनी या निकाय को सरकार की सख्त देख-रेख के अधीन एकाधिकार दे दिया जाता है। इन सेवाओं में निजी उपक्रम के विरुद्ध ये युक्तियां हैं —

१ इन सेवाओं का सम्भरण नियमित और ठीक होना चाहिए। इन कार्यों में जरा सी भी बाधा पड़ने से सारे राष्ट्र को भारी हानि हो सकती है। परिणामतः इन सेवाओं में निजी उपक्रम पूर्णतः क्षेमकारक नहीं हो सकता। कोई निजी संचालक या कम्पनी इन सेवाओं की कीमत बहुत अधिक बढ़ाकर गरीबों को इन सेवाओं के उपयोग से वंचित रख सकती है।

२ रेल, डाक और तार तथा सड़कें देशव्यापी सेवाएं हैं। उनमें बहुत अधिक पैसा लगाना पड़ता है। इसलिए किसी एक आदमी या कम्पनी के लिए उनके योग्य आवश्यक धन की व्यवस्था करना बड़ा कठिन है।

३ सड़क आदि में बड़ी भारी पूंजी लगाकर भी फौरन कुछ लाभ मिलने की सम्भावना नहीं होती। इसलिए कोई निजी आदमी या कम्पनी उनका निर्माण करना पसन्द नहीं करेगा।

४ रेलें और सड़कें आपात के समय फौजों को एक जगह से दूसरी जगह भेजने के लिए बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इस कारण भी उन्हें निजी उपक्रम और नियंत्रण के अधीन करना सुरक्षित नहीं।

## राज्य का लक्ष्य या प्रयोजन

राज्य के आवश्यक गुणों, उद्गम, प्रकृति, और कार्यों पर विचार करने के बाद स्वभावतः यह प्रश्न पैदा होता है कि राज्य से किन लक्ष्यों की पूर्ति की आशा की जाती है। समय-समय पर अनेक लेखकों ने राज्य के लिए अलग-अलग लक्ष्य सुझाए हैं।

कानून और व्यवस्था बनाये रखना, अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख, सामाजिक सेवा, न्याय और प्रगति—ये सब राज्य के लिये उपयुक्त लक्ष्य सुझाए गये हैं। मोटे तौर से कहें तो राज्य के लक्ष्य सम्बन्धी विचारों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है —

१ वे लोग जो राज्य को अपने आप में एक लक्ष्य समझते हैं।

२ वे लोग जो राज्य को एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन समझते हैं।

जो लोग राज्य को एक लक्ष्य का साधन समझते हैं, उन्हें फिर दो भागों में बांटा जा सकता है —

(क) कुछ लोग राज्य को वैयष्टिक या सामाजिक कल्याण की सिद्धि का बुरा साधन समझते हैं।

(ख) दूसरे लोग राज्य को व्यष्टि और समाज दोनों की भलाई करने के लिए एकमात्र उपयुक्त साधन समझते हैं।

**राज्य एक लक्ष्य के रूप में**—प्राचीन ग्रीस के लोगों के लिए राज्य अपने-आप में एक साध्य या लक्ष्य था। ग्रीस के नगर-राज्य नागरिक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अपने अधीन रखते थे। आदमी समाज के लिये ही जीता और मरता था। इसी विचार को १९वीं सदी में जर्मन आदर्शवादियों ने फिर सामने रखा। उनके अनुसार, राज्य अलग-अलग नागरिक के सर्वोत्तम अंश का प्रतिनिधि है। इसलिए आदमी की अधिकतम भलाई इसी बात में है कि वह पूरी तरह राज्य की आज्ञा माने, उसे हमेशा अपने अहं को राज्य के अहं के स्तर तक उठाने का यत्न करना चाहिए। राज्य व्यष्टि के लिए आदर्श है। यह व्यष्टि के जीवन का साध्य है। इस प्रकार आदर्शवादियों के अनुसार, राज्य को कोई लक्ष्य प्राप्त नहीं करना। उसे तो अपने व्यष्टियों के कार्यों का मार्ग प्रदर्शन, नियंत्रण और विनियमन करना है जिससे इसका अपना अधिक से अधिक भला हो।

**राज्य लक्ष्य-सिद्धि का बुरा साधन है**—व्यष्टिवादी, अराजकतावादी और साम्यवादी, यानी कम्युनिस्ट आदमी या समाज की हित सिद्धि के लिए राज्य को बुरा साधन समझते हैं। व्यष्टिवादियों के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है। वे इसे खत्म नहीं करना चाहते। वे राज्य के भीतर कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए और बाहरी हमलों से इसकी रक्षा के लिए ही इसे बनाए रखेंगे। दूसरी ओर अराजकतावादी के लिए राज्य का कोई उपयोग नहीं है। उसके अनुसार, राज्य बल को निरूपित करता है और इसलिए यह कोई भलाई नहीं कर सकता। नैतिक जीवन बल से नहीं बनाया जा सकता। साम्यवाद के पिता कार्ल मार्क्स ने राज्य को गरीबों के शोषण के लिए धनियों का हथियार बताया है।

**राज्य लक्ष्य-सिद्धि का अच्छा साधन है**—अरस्तू का विश्वास था कि अच्छा जीवन राज्य में ही सम्भव है। ग्रीन राज्य को एक मंगलमय पद्धति समझता था। उपयोगितावादी राज्य को अधिकतम व्यष्टियों के लिये अधिकतम सुख प्राप्त करने का साधन समझते थे। समाजवादी राज्य को समाज की सब तरह की भलाई के लिए सबसे अधिक उपयुक्त साधन समझते हैं।

**राज्य का असली लक्ष्य**—इस प्रकार पता चलता है कि अकेली व्यष्टि का सुख सारे समाज का मंगल और स्वयं राज्य का मंगल, बारी-बारी, राज्य के लक्ष्य बताये गये हैं। पर हमें याद रखना चाहिए कि न तो अकेली व्यष्टि का लाभ, न अकेला सामाजिक कल्याण और न अकेला राज्य का भला ही राज्य के होने का लक्ष्य या प्रयोजन हो सकता है। राज्य साधन भी है और साध्य भी। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यष्टि का अधिकतम विकास और समाज का अधिकतम भला हो सकता है। राज्य वहाँ तक अपने आप में एक लक्ष्य है, जहाँ तक यह अपने नागरिकों की भावी पीढ़िया के कल्याण पर भी विचार करता है।

गार्नर ने राज्य के तीन लक्ष्य सुझाए हैं, जो बहुत ठीक सुझाए गए हैं —

(१) प्रथम तो, राज्य को व्यष्टि के अच्छे से अच्छे विकास के लिए उचित अवस्थाएं पैदा करके उसकी सहायता करनी चाहिए।

(२) दूसरे, इसे समाज और राज्य के सदस्यों के रूप में व्यष्टियों के जो सामूहिक हित हैं, उन्हें आगे बढ़ाना चाहिए।

(३) तीसरे, इसे अपनी गतिविधियों और अपने नागरिकों की गति-विधियों को ऐसे चलाना चाहिए कि सारी मानव जाति शांति और प्रगति की ओर बढ़े।

## सारांश

**राज्य के कार्य**—राज्य के कार्यों के बारे में दो चरम विचार ये हैं —

(१) **व्यष्टिवादी विचार**—राज्य एक आवश्यक बुराई है। इसलिए इसे कम से कम काम, अर्थात् भीतरी अराजकता और बाहरी हमले रोकना, ही दिया जाना चाहिए, और अन्य बातों में आदमी अपने कल्याण की प्राप्ति के लिए बिलकुल आजाद रहना चाहिए। राज्य व्यष्टि के लिए कोई विध्यात्मक भलाई नहीं कर सकता।

व्यष्टिवादी औसत व्यष्टि की योग्यता के बारे में अत्यधिक आशावादी हैं। वास्तव में व्यष्टि को मार्ग प्रदर्शन की आवश्यकता है और मंगलकारी राज्य से अच्छा मित्र, सलाहकार, सेवक और रहनुमा कोई नहीं हो सकता। व्यापार और उद्योग में किसी तरह की दखलन्दाजी न होने से जनता के आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों को हानि होने की संभावना है।

(२) **समाजवादी विचार**—(१) राज्य आदमी का सबसे अच्छा मित्र है। वह निश्चित रूप से भलाई करता है। इसे अधिक से अधिक कार्य देने चाहिए। (२) समाजवाद का लक्ष्य सारे समाज का अधिकतम लाभ है। (३) समाजवाद उत्पादन के साधनों के वैयक्तिक स्वामित्व का विरोधी और राष्ट्रीयकरण का समर्थक है। (४) समाजवाद सम्पत्ति का समान वितरण करता है। इसलिए यह अधिक लोकतन्त्रीय और न्यायसंगत है।

पर समाजवाद सिद्धान्तरूप में जितना आकर्षक है, उतना व्यवहार में नहीं। व्यवहार की दृष्टि से, इसमें कुछ कमजोरियां हैं —

(१) राज्य को बहुत से काम सौंप देने से सब कामों में कमी आने की सम्भावना है।

(२) राष्ट्रीयकरण होने पर अच्छी और सस्ती वस्तुएं नहीं बनाई जा सकतीं।

(३) कहा जाता है कि समाजवाद आदमी की स्वयं आगे बढ़ने की भावना को और निर्णय की स्वाधीनता को नष्ट कर देता।

राज्य के कार्य

(क) अनिवार्य काम :

(१) भीतरी कानून व्यवस्था बनाये रखना।

(२) बाहरी आक्रमण से बचाव।

(ख) ऐच्छिक कार्य :

(१) कृषि उत्पादन और उद्योग, व्यापार, बैंकिंग और बीमे को बढ़ावा देकर आर्थिक कल्याण करना।

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा करना, और चिकित्सा की व्यवस्था करना।

(३) शिक्षा देना।

(४) रेल और सड़क, डाक, तार और टैलीफोन, बिजली, गैस और पानी आदि सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य करना।

(५) सती प्रथा, बाल हत्या, बाल विवाह, दहेज, छुआछूत, बेगार, दासता, शराब और जुए आदि कुछ अनैतिक और अनुचित सामाजिक प्रथाओं को दूर करके सामाजिक जीवन में सुधार करना।

(६) लोगों को रोग, बुढ़ापे और बेरोजगारी से निश्चिन्त करने के लिये सामाजिक सुरक्षा योजनाएं बनाना।

राज्य का लक्ष्य या प्रयोजन—राज्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में जो विचार हैं, उन्हें मोटे तौर से दो वर्गों में बांटा जा सकता है :—

(१) वे लोग जो राज्य को अपने आप में एक लक्ष्य या साध्य समझते हैं।

(२) वे लोग जो राज्य को एक साध्य का साधन समझते हैं।

राज्य एक साध्य है—प्राचीन ग्रीक लोगों और आधुनिक काल में जर्मन आदर्शवादियों के अनुसार, आदमी को राज्य के लिए ही जीना और मरना चाहिए क्योंकि राज्य अपने आप में एक लक्ष्य है। इसलिए व्यक्ति का लाभ इसी में है कि वह पूरी तरह से राज्य की आज्ञा का पालन करे।

राज्य एक लक्ष्य का अच्छा साधन है—उपयोगितावादी राज्य को अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख का साधन समझते हैं। समाजवादी समाज की सब तरह की प्रगति करने के लिए सबसे अच्छा साधन मानते हैं।

सच्चा लक्ष्य—गार्नर के अनुसार, राज्य के तीन लक्ष्य होने चाहिए

१ व्यष्टि का कल्याण।

२ सारे समाज का कल्याण।

३ सारी मानव जाति का कल्याण।

## प्रश्न

## QUESTIONS

१ सरकार के कार्यों के बारे में व्यष्टिवादी और समाजवादी विचार लिखिए।
(प० वि० सितम्बर, १९५२)

1 State the views of the Individualistic and Socialist schools relating to the functions of government (P U Sep., 1952)

२ किसी आधुनिक राज्य के मुख्य कार्य क्या हैं? किस प्रकार का राज्य उन्हें अधिकतम दक्षता से कर सकता है।

2 What are the main functions of a modern state? What kind of state can perform them most efficiently?

३ राज्य के सामाजिक सेवा कार्यों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

3 Give a brief account of the social service functions of the State

४ लोकोपयोगी सेवाओं से आप क्या समझते हैं? वे राज्य के प्रबंध और नियंत्रण में क्यों रहनी चाहिए?

4 What do you understand by public utility services? Why should they be managed or controlled by the state?

५ सामाजिक सुधार के प्रसंग में राज्य के कर्तव्य की विवेचना कीजिए। क्या मनुष्य को नैतिक बनाना राज्य का कर्तव्य है?

5 Examine the role of the state in relation to social reform? Is it the duty of the state to make man moral?

६ सामाजिक सुरक्षा से आप क्या समझते हैं? क्या गरीबी, बीमारी और बेरोजगारी को दूर करना राज्य का कर्तव्य है?

6 What do you understand by 'social security'? Is it the duty of the state to remove poverty, unemployment and disease?

७ आधुनिक काल में राज्य के कर्तव्यों को देखते हुए यह सिद्ध कीजिए कि आज का राज्य मंगल राज्य है, पुलिस राज्य नहीं।

7 In the light of functions of the state in modern times prove that the state of today is a welfare and not a police state.

८ राज्य के लक्ष्य के बारे में विभिन्न विचारों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

8 Examine briefly the views regarding the end of the state

९ आपकी राय में राज्य का सच्चा लक्ष्य क्या है ?

9 What in your opinion is the true end of the state ?

१० राज्य के लक्ष्य क्या हैं ?                    (पं० वि० सितम्बर, १९५१)

10 What are the ends of the state ?                    (P. U. Sep., 1951)

## अध्याय :: ११

# शिक्षा

**शिक्षा किसे कहते हैं**—शिक्षा शब्द की बहुत सी परिभाषाएं की गई हैं। शार्टर ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में इसकी यह परिभाषा है कि "जीवन के काम की तय्यारी में छोटे बच्चों को (और व्याप्ति द्वारा बडों को) दी जाने वाली व्यवस्थित सिखलाई, अध्यापन या प्रशिक्षण।" वेबस्टर के शब्दकोश में शिक्षा की यह परिभाषा है, "व्यष्टि के शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक परिवर्द्धन कराने वाली सीख और प्रशिक्षण के द्वारा प्राप्त जानकारी और गुणों का समुच्चय।"

उपर्युक्त दो तथा अन्य बहुत सी परिभाषाओं से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं —

१ शिक्षा मनुष्य के स्वाभाविक विकास के बजाय उसे एक विमर्शित (deliberate) निर्देशन और प्रशिक्षण है।

२ यह विमर्शित निर्देशन और प्रशिक्षण हमेशा किसी दत्त मानव समाज के आदर्शों के प्रसंग में होता है। मानव समाज के बडे सदस्य अपने छोटों को अपने जीवनादर्शों के अनुसार ही प्रशिक्षित करते हैं।

३ शिक्षा में आदमी का सर्वतोमुखी विकास अभिप्रेत है। इसका अर्थ सिर्फ बुद्धि का प्रशिक्षण नहीं है। बौद्धिक विकास के अलावा शिक्षा का लक्ष्य भौतिक और नैतिक विकास भी है।

४ शिक्षा जीवन भर चलने वाला उपक्रम है जिसमें आदमी एक ही समय कई चीजें सीखता है और कई चीजें भूलता है। शिक्षा बचपन के साथ समाप्त नहीं हो जाती। बूढे हो जाने पर भी शिक्षा का सिलसिला चलता रहता है।

**शिक्षा के लक्ष्य**—शिक्षा के लक्ष्यों के बारे में बडा विवाद है, और यह बहुत समय से चलता रहा है। कुछ लोग उदार शिक्षा के पक्षपाती हैं, और कुछ लोग व्यावसायिक या धन्धे की शिक्षा या प्रशिक्षण के पक्षपाती हैं। उदार शिक्षा के पक्षपातियों का लक्ष्य है लोगों के शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास द्वारा पूर्ण व्यष्टि पैदा करना। व्यावसायिक शिक्षा के समर्थकों का मुख्य लक्ष्य किसी रोजगार, कला या दस्तकारी में लोगों को प्रशिक्षित करके उन्हें उपयोगी बनाना है। पर आज की दुनिया में हर आदमी नागरिक भी अवश्य होना है इसलिए अच्छी शिक्षा प्रणाली के ये तीन लक्ष्य होने चाहिए —

१ प्रथम, शिक्षा का लक्ष्य व्यष्टि की प्रकृति की गुप्त शक्तियों और योग्यताओं का विकास करना होना चाहिए। इसका अर्थ होगा आदमी का पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक

और नैतिक विकास। इस प्रकार शिक्षा सर्वथा उदार होनी चाहिए।

२ दूसरे, शिक्षा व्यावसायिक होनी चाहिए, इससे हर लड़का या लड़की अपनी जीविका कमाने योग्य हो जाना चाहिए।

३ तीसरे, आधुनिक लोकतन्त्रीय युग में शिक्षा का लक्ष्य नागरिकता का प्रशिक्षण देना भी होना चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा नागरिक को उपयोगी बनाने में सिर्फ एक घटक होगी। आदमी उपयोगी नागरिक या अच्छा नागरिक तभी कहलाएगा जब उसमें कुछ नागरिक गुण होंगे।

**शिक्षा की मंजिलें**—बच्चे के जीवन को मोटे तौर से तीन मुख्य अवस्थाओं में बांटा जा सकता है —

(१) बाल्यकाल—५ या ६ वर्ष की आयु तक।

(२) किशोरावस्था—१२ से १४ वर्ष तक की आयु तक।

(३) तरुणावस्था—१४ से १८ वर्ष तक की आयु तक।

**बालकों की शिक्षा**—बाल्यावस्था में बच्चा घरों और नर्सरी स्कूलों में शिक्षित किया जा सकता है। इस अवस्था में बच्चे को ठीक स्वास्थ्य बनाए रखने के अलावा, अच्छा चरित्र निर्माण करने की आवश्यकता होती है। उसकी आदतें, शिष्टाचार और रुचियां इस समय बनाई जाती हैं। छोटे बच्चों के लिए बुद्धि के प्रशिक्षण का महत्व गौण है पर उसकी जानकारी का दायरा अधिक से अधिक विस्तृत हो सकता है।

**बालकों की शिक्षा में घर का स्थान**—आदर्श घर बच्चे के लिए सर्वोत्तम विद्यालय है। बच्चा प्रेम से अधिक सीखता है और बच्चे से उसके अपने माता पिता के अलावा कोई और आदमी अधिक प्रेम से व्यवहार नहीं कर सकता। पर प्रेम के साथ-साथ बच्चे की प्रकृति को ठीक ठीक समझना चाहिए और उचित प्रकार का अनुशासन रहना चाहिए बिना अनुशासन का बहुत अधिक अनुराग बच्चे को बिगाड़ देगा। इसी प्रकार बहुत अधिक अनुशासन बच्चे में स्वयं कर्तृत्व और मौलिकता की वृद्धि को रोक देता है। यह बड़े महत्व की बात है कि माता पिता को अपने बच्चों पर आगे में व हर न हो जाना चाहिए। बच्चे में अनुकरण की बहुत प्रवृत्ति होती है। माता-पिता को उन सब कामों से भी बचना चाहिए जिनसे उनके बच्चों पर गलत असर पड़ सकता है। इस प्रकार बच्चों का प्रशिक्षण बड़ा कठिन काम है। उनकी प्रकृति को ठीक से समझना भी आसान काम नहीं। इसलिए बच्चे की उचित शिक्षा के लिए होशियारी से काम करने की जरूरत है। सामान्यतया माता पिता का व्यस्त जीवन उन्हें अपने बच्चों की ओर ध्यान नहीं देने देता। इसीलिए बच्चों की शिक्षा सारी या कम से कम कुछ हद तक, नर्सरी स्कूलों में होनी चाहिए।

**नर्सरी स्कूल**—नर्सरी स्कूलों के खिलाफ एक यही बात कही जा सकती है कि उनकी शिक्षा बड़ी खर्चीली है और उनमें माता पिता जैसा अनुराग नहीं हो सकता। अन्यथा, नर्सरी स्कूलों की पद्धति राष्ट्र के लिए बड़ी लाभदायक है। बच्चों की कुछ आवश्यकताएं घर की अपेक्षा स्कूल में बहुत अच्छी तरह पूरी हो सकती हैं। खेलने के लिए खुली हवा और उचित तथा सन्तुलित खुराक स्कूल में बहुत अच्छी तरह मिल

सकती है। शोर करने की आजादी बच्चो के लिए बडी आवश्यक है। घरो मे शोर करने वाले बच्चो को बडे आदमी बडी मुसीबत समझते है बच्चे की पूर्ण वृद्धि के लिए लगभग उसी उम्र के बच्चो का साथ भी परम आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति धनी माता-पिता भी नही कर सकते। अन्तिम बात यह है कि बच्चों के सीखने और मनोरंजन के लिए उचित वातावरण नर्सरी स्कूलो में बनाया जा सकता है। इस प्रकार घर की शिक्षा की पूर्ति नर्सरी स्कूलो में शिक्षा देकर करनी चाहिए।

दूसरी मंजिल—स्कूलो में शिक्षा—बर्ट्रेण्ड रसल के अनुसार, ६ वर्ष की आयु तक चरित्र का निर्माण अधिकतर पूरा हो जाता है। उसके बाद बच्चे का बुरे वातावरण से बचाने की ही जरूरत रहती है। बुरे वातावरण मनुष्य के चरित्र को उसके जीवन की किसी भी मंजिल मे प्रभावित कर सकते है। स्कूल की शिक्षा के तीन मुख्य पहलू है, अर्थात् बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक।

**बौद्धिक**—दूसरी मंजिल में पहले तो बौद्धिक प्रगति पर जोर देना चाहिए। *छात्रों को सब तरह का ज्ञान पाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यौन विषयो का* ज्ञान भी उनसे छिपाना नही चाहिए। कुछ गुण, जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए बिल्कुल आवश्यक है, छात्रो में पैदा करने चाहिए। उदाहरणार्थ धैर्य, उद्योग, एकाग्रता, यथार्थता और खुले मस्तिष्क से विचार करना। गणित, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, आरम्भिक अर्थशास्त्र, स्वास्थ्य शास्त्र या हाईजीन और आरम्भिक विज्ञान की शिक्षा इस उम्र में सब छात्रों के लिए आवश्यक समझी जाती है।

शारीरिक—बुद्धि का प्रशिक्षण तब तक अधूरा रहेगा, जब तक साथ ही शरीर को भी प्रशिक्षित न किया जाए। स्वस्थ मन के लिए स्वस्थ शरीर परम आवश्यक है। कोई भी अच्छी शिक्षा प्रणाली कसरत और खेल कूद के महत्व को कम नही समझ *सकती। खेल और कूद से जहा स्वास्थ्य अच्छा रहता है, वहा छात्रो में कई नागरिक* गुण भी पैदा होते है। अनुशासन, नेतृत्व, सहयोग और खिलाड़ीपन आदि गुण खेल के मैदान में ही अच्छी तरह सीखे जाते है। प्राचीन ग्रीस में जिमनास्टिक और सैनिक प्रशिक्षण शिक्षा के महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। आज के जमाने में भी सैनिक प्रशिक्षण का महत्व अधिकाधिक समझा जा रहा है। विश्वविद्यालय सैनिक प्रशिक्षण दल और राष्ट्रीय सैन्य शिक्षार्थी दल फिर सामने आ रहे है।

नैतिक—नैतिक शिक्षा शारीरिक और बौद्धिक शिक्षा से निकट सम्बन्ध रखती है। इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। छात्रो को अपने साथियो के साथ व्यवहार करते हुए आत्म नियन्त्रण, ईमानदारी, सहिष्णुता, न्याय, सम्मान, और दया की शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार, किसी शिक्षा प्रणाली से सिर्फ किताबी कीडे न पैदा होने चाहिए। निरी बौद्धिक शिक्षा छात्र के और पहलूओ को दबाकर सिर्फ एक पहलू को विकसित करती है। दूसरे शब्दो मे, शिक्षा उदार होनी चाहिए, जिसका लक्ष्य छात्र के सब पहलूओ का विकास करना हो।

व्यावसायिक शिक्षा—सामाजिक जीवन मे आर्थिक बातो का महत्व बढ जाने

के कारण सब देशों में लोकमत व्यावसायिक शिक्षा के अधिक पक्ष में होता जाता है। यह कहा जाता है कि निरी किताबी शिक्षा अधिकतर छात्रों के लिए शुष्क और अरुचिकर होती है। यह आदमी को जीवन में किसी व्यवसाय के लिए भी तैयार नहीं करती और इस तरह बेकारी और गरीबी बढ़ाने वाली बताई जाती है। इसलिए, बहुत से लोग यह कहते हैं कि पढ़ाई किसी बुनियादी दस्तकारी के साथ-साथ चलनी चाहिए। अनुभव से भी यह सिद्ध हुआ है कि अधिकतर छात्रों के लिए किताबी पढ़ाई अरुचिकर होती है और इस तरह राष्ट्रीय ऊर्जा की बड़ी बरबादी होती है। यदि विभिन्न धन्धों, दस्तकारियों या पेशों के लिए छात्रों की रुचि का पता लगाने का यत्न किया जाए तो बड़ा अच्छा हो। यह सच है कि १४ वर्ष की आयु तक प्रत्येक बच्चे को किताबी शिक्षा मिलनी चाहिए, पर इस अवस्था में छात्र की रुचि का पता लगा लेना चाहिए और किताबी पढ़ाई के साथ-साथ उसे किसी खास दस्तकारी, व्यापार या पेशे में, जो उसकी रुचि और योग्यता के अनुसार हो, डाल देना चाहिए। किसी खास विषय का विशेष प्रशिक्षण बाद में, उस प्रयोजन के लिए बनाए गए विशेष शिक्षा केन्द्रों में दिया जा सकता है। जिन छात्रों में किताबी शिक्षा की रुचि दिखाई दे, उन्हें विश्वविद्यालय में भी उसी में चलने देना चाहिए। हर सूरत में शिक्षा का काम १८ या २० वर्ष की आयु तक पूरा हो गया कहा जा सकता है।

व्यावसायिक या शिल्पिक शिक्षा व्यक्ति के दृष्टिकोण से ही आवश्यक नहीं, बल्कि यह देश की आर्थिक प्रगति के लिए भी परम आवश्यक है। बड़े पैमाने के उद्योग मुख्यतः कुशल श्रमिक नियमित रूप से मिलते रहने पर निर्भर होते हैं। टैकनिकल शिक्षा में वाणिज्यिक और कृषि की शिक्षा भी शामिल है।

तीसरी मंजिल उच्च शिक्षा—विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा सिर्फ उन्हें दी जानी चाहिए जो इसके उपयुक्त हों। बर्ट्रेंड रसल के अनुसार विश्वविद्यालयों के दो प्रयोजन होने चाहिए :—

१ कानून, चिकित्सा आदि कुछ पेशों के लिए पुरुषों और स्त्रियों को प्रशिक्षित करना।

२. तात्कालिक उपयोगिता का बिना विचार किये ज्ञान और गवेषणा के मार्ग पर बढ़ते जाना।

इस प्रकार विश्वविद्यालय कुछ थोड़े से चुने हुए छात्रों के लिए उपयोगी होंगे। कुछ लोग उच्च शिक्षा की बुराई करते हैं और इसे बिल्कुल बेकार बताते हैं। पर हमें याद रखना चाहिए कि उच्च शिक्षा का अपना ही मूल्य है। यह हमारे दृष्टिकोण और मन को विस्तृत करती है, आत्मा को समृद्ध करती है और मन को शान्ति देती है। बिना उच्च शिक्षा के विश्व के रहस्य हमारे लिए रहस्य ही बने रहेंगे। विज्ञान, कला और दर्शन की कोई तरक्की नहीं हो सकेगी। इसके बिना आदमी प्रकृति का स्वामी होने के बजाय दास होगा।

नागरिकता के लिए शिक्षा—स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय के जीवन का

एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य सामाजिक और नागरिक प्रशिक्षण के लिए अवसर प्रस्तुत करना होना चाहिए। किताबी शिक्षा के अलावा जो नागरिकों के तर्क और आलोचना के गुणों का विकास करती है, नागरिकता के प्रशिक्षण में पाठ्येतर कार्यों (extracurricular activities) के महत्त्व को भुलाना नहीं चाहिए। १२ वर्ष की आयु तक बागवानी, लोक-नृत्य, अभिनय खेल, बसन्त यात्रा और गाँव की चीजें सबसे अधिक उपयुक्त हैं। इसके बाद की उम्र में स्काउटिंग, वाद विवाद, नाटक, सहकारी सोसाइटियां, ग्राम सुधार सोसाइटियां और ऐसी ही अन्य सामाइटियां बनाने की शिक्षा छात्रों को मिलनी चाहिए। पाठ्येतर कार्यों में छात्रों का खाली समय में लाभ का काम मिल जाता है। लाभ इस अर्थ में होता है कि इनमें आदमी के व्यक्तित्व में वृद्धि होती है। छात्रों की परिषदें और विधान सभाएं छात्रों को स्वशासन का प्रशिक्षण देती हैं। उन्हें नेतृत्व के प्रशिक्षण के अलावा, आत्म नियमन, सहयोग और स्वय-कर्तृत्व की शिक्षा मिलती है। पत्रिकाएं और वाद-विवाद सभाएं लिखने और बोलने में आत्माभिव्यक्ति का विकास करती हैं। यात्राओं से शरीर बनता है, ज्ञान की वृद्धि होती है और उत्सुकता का निवारण होता है। मञ्च और समाज संगठन और प्रबन्ध की पर्याप्त शिक्षा देती हैं। उनसे स्वय कर्तृत्व, मिलनसारी, सहयोग और कानून के लिए सम्मान का भी विकास होता है। हमने पहले बताया है कि नागरिकता के लिए होने वाले प्रशिक्षण में खेल-कूद का क्या महत्त्व है। सामाजिक सेवा-संगठन, निस्वार्थ सेवा और मानव बन्धुता का पाठ पढ़ाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कई नागरिक गुण पैदा होते हैं और नागरिकता की उत्तम शिक्षा मिलती है।

**प्रौढ़ शिक्षा**—प्रौढ़ शिक्षा का लक्ष्य राज्य के प्रत्येक सदस्य को दक्ष और उपयोगी नागरिक बनाना है। प्रौढ़ों को शिक्षित करने की आवश्यकता लोकतन्त्रीय राज्य में और भी अधिक है, क्योंकि इसकी सफलता और दक्षता इसके लोगों के ज्ञान पर निर्भर है। शिक्षा लोगों के दृष्टिकोण को बड़ा करके उनकी बुद्धि तथा तर्कशक्ति को तेज करके उन्हें उपयोगी नागरिक बनाती है। इसके अलावा प्रौढ़ों को शिक्षित करने का लक्ष्य उन्हें सिर्फ साक्षर बना देना नहीं होना चाहिए। उनकी शिक्षा क्रियात्मक भी होनी चाहिए। यह उन्हें अपनी सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को हल करने के योग्य बनाने वाली होनी चाहिए। प्रौढ़ शिक्षा में चित्र, मैजिक लैंटन, सिनेमा, ग्रामोफोन और रेडियो आदि दृश्य और यान्त्रिक साधन बड़े सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

प्रौढ़ शिक्षा नई पीढ़ी की शिक्षा के लिए भी सहायक होती है। अनपढ़ माता-पिता अपने बच्चों की शिक्षा का महत्त्व नहीं समझ सकते। वे प्रायः जान-बूझकर उन्हें स्कूल नहीं भेजते। जब वे स्वयं शिक्षा पाते हैं, तब ही उन्हें अपने बच्चे के लिए इसकी उपयोगिता का पता चलता है।

**राज्य और शिक्षा**—१९वीं सदी के शुरू तक शिक्षा को बिल्कुल निजी मामला समझा जाता था। अपनी शिक्षा के लिए हर आदमी खुद जिम्मेदार था। राज्य अपने नागरिकों को शिक्षित करने की कोई जिम्मेदारी नहीं समझता था। उन दिनों शिक्षा का

प्रबन्ध या तो धार्मिक संस्थाओं अर्थात् चर्चों, मठों, मसजिदों, और मंदिरों या कुछ धनी व्यक्तियों द्वारा, जो धर्मार्थ विद्यालय खोलते थे, किया जाता था। आज के जमाने में शिक्षा पाने का अधिकार आदमी का महत्वपूर्ण अधिकार है। मंगलकारी राज्य होने के नाते राज्य को अपने नागरिकों को शिक्षा देने के लिए जिम्मेदार माना जाता है। इसी विचार के कारण आजकल प्रायः सब उन्नत देशों में मुफ्त और अनिवार्य आरम्भिक शिक्षा दी जाती है।

लोकतन्त्र में नागरिकों की शिक्षा राज्य के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। कोई लोकतन्त्रीय राज्य, जिसके नागरिक शिक्षित और प्रबुद्ध नहीं, दक्षतापूर्वक नहीं चल सकता। निम्नलिखित कारणों से शिक्षा राज्य की जिम्मेवारी बनती जा रही है —

१ जैसा कि ऊपर बताया गया है, लोकतन्त्रीय राज्य की दक्षता के लिए छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, सब नागरिकों की शिक्षा आवश्यक है। अतः राज्य उनकी शिक्षा किन्हीं व्यक्तियों पर या निजी संस्थाओं पर नहीं छोड़ सकता। यदि इसे निजी संस्थाओं पर छोड़ दिया जाए तो शिक्षा के भारी खर्च के कारण गरीब नागरिकों को अपने बच्चों को शिक्षित करने का मौका नहीं मिलेगा। इसके अलावा कुछ अनपढ़ माता-पिता शिक्षा का महत्व शायद कभी भी न समझें। ऐसे लोगों को भी अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिए मजबूर करना होगा।

२ दूसरी बात यह है कि देश भर में स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय बनाने का खर्च इतना अधिक है कि कोई एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह शिक्षा के लिए आवश्यक धन नहीं जुटा सकता।

इन कारणों से आज के जमाने में शिक्षा का बोझ राज्य उठाता है। आजकल राज्य या तो अपने रुपये से स्वयं स्कूल और कालेज खोलकर अथवा निजी तौर से चलाई जा रही शिक्षा संस्थाओं को सहायता देकर शिक्षा को बढ़ावा देता है।

**शिक्षा का महत्व**—शिक्षा व्यक्ति के विकास और समाज की तरक्की के लिये सबसे पहले जरूरी है। संक्षेप में शिक्षा के बिना अच्छा जीवन असम्भव है। व्यक्ति के लिए अच्छे जीवन का अर्थ है, उसके ऊंचे या युक्तियुक्त जीवन का विकास। शिक्षा मनुष्य को अपने पाशविक भावों को तर्क द्वारा दबाने में सहायता देती है। यह उसका ज्ञान बढ़ाती है, उसका दृष्टिकोण विस्तृत करती है, उसकी बुद्धि तीव्र करती है, और उसकी सोचने और तर्क करने की शक्ति बढ़ाती है। शरीर सम्बन्धी शिक्षा से मनुष्य अच्छा स्वास्थ्य बना सकता है। नैतिक और सामाजिक शिक्षा चरित्र को ठीक रूप देती है। शिक्षा के बिना मानसिक शान्ति और आत्मिक सुख मिलना असम्भव है।

शिक्षा गरीबी, रोग और बेकारी को हटाने में भी मदद करती है। यह कृषि, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य की तरक्की कराती है इससे नागरिक को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का सही ज्ञान होता है, और इस प्रकार वह अपने सामाजिक और राजनैतिक जीवन को सुधारता है। विज्ञान, कला, दर्शन, और साहित्य की महान रचनाएं शिक्षा के

बिना कभी नहीं बन सकती थी। इस प्रकार, शिक्षा संस्कृति और सभ्यता, दोनों, की तरक्की के लिए आवश्यक है। संक्षेप में यह मनुष्य जाति की प्रगति, समृद्धि और सुख की कुंजी है।

## सारांश

*शिक्षा किसे कहते हैं*—व्यक्ति की शिक्षा सीखने और भूलने की जीवन भर की प्रक्रिया है। इसमें ये तीन बातें आती हैं (१) उसके स्वाभाविक विकास के बजाए विमर्शित प्रशिक्षण। (२) अपने समाज के आदर्शों का प्रशिक्षण। (३) न केवल उसके बौद्धिक गुणों का, बल्कि उसके शारीरिक और नैतिक गुणों का भी विकास।

**शिक्षा के लक्ष्य**—(१) यह बिलकुल उदार होनी चाहिए और इसका लक्ष्य व्यक्ति का पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक विकास होना चाहिए। (२) साथ-साथ, इसका व्यावसायिक आधार भी होना चाहिए। (३) आज के जमाने में शिक्षा का लक्ष्य *नागरिकता की शिक्षा देना भी होना चाहिए।*

**शिक्षा की मंजिलें**—(१) ५ या ६ साल की उम्र तक शिक्षा का लक्ष्य ठीक स्वास्थ्य और चरित्र का निर्माण तथा बच्चे की जानकारी का दायरा बढ़ाना चाहिए। इस अवस्था में बौद्धिक प्रशिक्षण का गौण महत्व है। बच्चों की उचित शिक्षा में घर और नर्सरी स्कूल दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है।

(२) ६ और १४ वर्ष की आयु के बीच स्कूलों की शिक्षा बिल्कुल उदार होनी चाहिए। छात्रों को सब तरह का ज्ञान हासिल करने के लिए उत्साहित करना चाहिए, पर वे निरे किताबी कीड़े ही न बन जाएं। कसरत और खेलकूद भी शिक्षा के वैसे ही महत्वपूर्ण भाग हैं। इसके अलावा चरित्र के उचित प्रशिक्षण के बिना शिक्षा अधूरी रहेगी।

पर इन दिनों उदार शिक्षा बिल्कुल नाकाफी समझी जाती है। यह व्यावसायिक शिक्षा के साथ जुड़ी हुई होनी चाहिए, जिससे शिक्षा पूरी होने के बाद आदमी आसानी से जीविका कमा सके। इसके अलावा, किताबी शिक्षा हर विद्यार्थी के लिए उपयुक्त नहीं। हो सकता है कि यदि उसे कोई दस्तकारी सीखने का मौका दिया जाए तो वह चमक जाए। आधुनिक औद्योगिक समाजों में व्यावसायिक या शिल्प सम्बन्धी शिक्षा का महत्व बहुत अधिक है।

(३) विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली उच्च शिक्षा, विज्ञान, कला और दर्शन की तरक्की के लिए बहुत आवश्यक है। पर यह सिर्फ उनके लिए होनी चाहिए जिनकी इसमें रुचि हो।

**नागरिकता की शिक्षा**—लोकतन्त्र के युग में यह बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। स्कूलों, कालिजों और विश्वविद्यालयों में, पढ़ाई के अलावा, किये जाने वाले काम नागरिकता की शिक्षा देते हैं। इन कामों से सहयोग, मिलनसारी, सहिष्णुता, अनुशासन, स्वयं कर्तव्य, नेतृत्व, प्रशासन, स्वशासन, सार्वजनिक भाषण कला, और सामाजिक सेवा की शिक्षा मिलती है।

**राज्य और शिक्षा**—किसी समय शिक्षा को व्यक्ति का निजी मामला समझा जाता था। पर अब यह राज्य की जिम्मेदारी है क्योंकि आजकल राज्य लोकतन्त्रीय और मंगलकारी राज्य हैं। लोकतन्त्रीय राज्य जनता का सेवक है। इसे अपने स्वामियों को शिक्षित करना पड़ता है। राज्य की रक्षा के लिए भी आवश्यक है कि इसके नागरिक शिक्षित हों। हो सकता है कि कोई आदमी इतना गरीब हो कि वह शिक्षा पर खर्च न कर सके। इसलिए राज्य को उसे शिक्षित करना चाहिए। इसके अलावा शिक्षा के आवश्यक व्यय भी राज्य ही अधिक अच्छी तरह कर सकता है।

**शिक्षा का महत्व**—यह मनुष्य की पशुवृत्ति को रोकती है और उसके बौद्धिक अंश का विकास करती है। सामाजिक जीवन में शिक्षा गरीबी, बीमारी और बेरोजगारी को दूर करने में मदद देती है। यह आर्थिक उन्नति में भी सहायता देती है। सामाजिक और राजनैतिक जीवन को यह अधिक सौहार्दपूर्ण बनाती है। संक्षेप में शिक्षा मानव जाति की उन्नति और सुख की कुंजी है।

## प्रश्न

## QUESTIONS

१ शिक्षा किसे कहते हैं ? इसका लक्ष्य क्या होना चाहिए ?

1. What is 'education'? What should be its aim ?

२. शिक्षा में माता-पिता का क्या स्थान है ?

2 What is the role of parents in education ?

३. शिशुओं और बड़ी उम्र के बच्चों को किस तरह की शिक्षा की जरूरत होती है ?

3 What type of education do infants and children of schoolgoing age require ?

४. व्यावसायिक शिक्षा के पक्ष में युक्तियां दीजिए।

4 *Make out a case for vocational education*

५. लोकतन्त्र के नागरिक के लिए शिक्षा का क्या महत्व है ?

5. What is the importance of education for a citizen of democracy ?

६ आज के नागरिक को किस प्रकार की शिक्षा चाहिए ?

6 What type of education does a citizen of today require ?

७ भारत में स्त्री शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के पक्ष में युक्तियां दीजिए ?

7 Make out a case *for female and adult education in India*

८ शिक्षा राज्य की जिम्मेदारी क्यों होनी चाहिए ?

8 Why should education be a responsibility of the state ?

पर ही किसी दावे को समाज द्वारा अधिकार माना जाएगा—

१. यह युक्ति-युक्त दावा होना चाहिए।

२ दावा ऐसा होना चाहिए कि उसे नैतिक दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता हो। चोरी करने, शराब पीने, गाली देने और हत्या या आत्महत्या करने के दावों को नैतिक दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। दूसरी ओर, आदमी जीने का, शिक्षा पाने का, और काम करने का दावा नैतिक रूप में कर सकता है।

३ दावा स्वार्थपूर्ण न होना चाहिए, पर ऐसा होना चाहिए कि इसकी पूर्ति से व्यष्टि और समाज दोनों को लाभ हो। यह समाज द्वारा सामाजिक रूप में स्वीकृत होना चाहिए। उदाहरण के लिए, किसी आदमी का आत्महत्या करने का दावा स्वार्थ-पूर्ण दावा है। आत्महत्या आदमी को सब चिन्ताओं और परेशानियों से छुटकारा दे सकती है। पर यह समाज को उन लाभों से वंचित कर देगी, जो उसे इसके जीवन से मिलते। इसी प्रकार, भीख मांगने का अधिकार किसी को नहीं हो सकता, क्योंकि भिखारी समाज पर बोझ है और वह सामाजिक जीवन में कुछ भी योगदान नहीं करता।

४ उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि वह दावा जो अपने से संबंधित कर्तव्य को नहीं स्वीकार करता, अधिकार नहीं माना जा सकता। यह खोखला दावा होगा।

५ जो दावा अधिकार माना जाता है वह सब जगह लागू हो सकना चाहिए। समाज के लिए यह असम्भव है कि वह अलग-अलग आदमियों की अवस्था में अलग-अलग दावों को माने। लोगों के कुछ सामान्य दावों को भी अधिकार माना जा सकता है। अधिकारों का उपभोग सब नागरिकों द्वारा समान रूप से किया जाना चाहिए।

**क्या किसी अधिकार के लिए राज्य की स्वीकृति आवश्यक है?**—अधिकारों के लिए राज्य की स्वीकृति परम आवश्यक नहीं है। वे भी अधिकार हो सकते हैं जिन्हें नैतिक दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता है और जिन्हें समाज स्वीकार करता है। साथ ही, यदि राज्य भी उन्हें मान ले और अपने कानूनों का हिस्सा बना ले तो अधिकारों का बल बढ़ जाएगा। उस अवस्था में लोग अपने अधिकारों का उपभोग अधिक पक्के तौर से कर सकेंगे।

**अधिकारों का वर्गीकरण**—अधिकारों को मोटे तौर से नैतिक और वैधिक (legal) अधिकारों में बांटा जाता है।

**नैतिक अधिकार**—यदि किसी आदमी के दावे नैतिकता के आधार पर हैं और वे सिर्फ समाज द्वारा माने जाते हैं तो वे नैतिक अधिकार कहलाएंगे। नैतिक अधिकारों के पीछे जो अनुशास्ति या बल है, वह लोकमत है, राज्य का प्राधिकार नहीं। नैतिक अधिकार **स्थितिज अधिकार** (potential rights) भी कहलाते हैं। उनमें अपने को राज्य से भी स्वीकार कराने की शक्ति नहीं होती। जो राज्य जनता का मित्र और शुभाकांक्षी होने का दावा करता है वह उनके उन दावों की उपेक्षा नहीं कर सकता जो नैतिकता और लोकमत के आधार पर हैं। इसलिए सब नैतिक अधिकारों में

बाद में वैधिक अधिकार बनने की प्रवृति होती है। भारत में शिक्षा प्राप्ति का अधिकार अभी नैतिक अधिकार है। पर अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस आदि अन्य राज्यों में यह वैधिक अधिकार है। भारत में भी कुछ समय बाद यह वैधिक अधिकार बन जाएगा।

**वैधिक अधिकार**—वैधिक अधिकार वे अधिकार हैं जो राज्य द्वारा अभिस्वीकृत और प्रवर्तित किये जाते हैं। उनके पीछे राज्य का बल होता है। राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकार इसके कानूनों का अंग बन जाते हैं। उनका अतिक्रमण करने पर वैसा ही दंड दिया जाता है जैसा कानून का अतिक्रमण करने पर। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि सब वैधिक अधिकार नैतिक दृष्टि से उचित ठहराये जा सकते हो। उदाहरण के लिए, यह संदिग्ध है कि आजकल असीमित वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार नैतिक दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता है। नागरिक शास्त्र में हमें अधिकतर वैधिक अधिकारों पर विचार करना है।

वैधिक अधिकारों को फिर जानपद और राजनैतिक अधिकारों में बाटा जा सकता है।

**जानपद अधिकार**—जानपद अधिकारों का सम्बन्ध लोगों के जीवन और सम्पत्ति से है। वे सामाजिक जीवन की आरम्भिक शर्तों की पूर्ति की व्यवस्था करते हैं। उनके बिना सभ्य जीवन सम्भव नहीं। उनमें जीवन और सम्पत्ति का अधिकार, संविदा करने का अधिकार, पूजा और धर्म का अधिकार, बोलने का, मत रखने का और इकट्ठे होने का अधिकार, आदि आते हैं।

**राजनैतिक अधिकार**—राजनैतिक अधिकार जानपद अधिकारों से पृथक् होते हैं। प्रत्येक राज्य में अन्यदेशीयों को राजनैतिक अधिकार निषिद्ध होते हैं। पर वह उन्हें जानपद अधिकार दे सकता है। इन अधिकारों का उपभोग सिर्फ नागरिकों द्वारा किया जाता है, और ये अधिकार नागरिकों को राज्य के अन्य सब सदस्यों से पृथक् करते हैं। राजनैतिक अधिकार नागरिक को अपने राज्य के मामलों में हिस्सा लेने और उन्हें विनियमित करने के योग्य बनाते हैं। पर इन अधिकारों का पूरा और वास्तविक उपभोग सरकार के लोकतंत्रीय ढांचे में ही सम्भव है। राजनैतिक अधिकारों में ये अधिकार शामिल हैं —

(क) सार्वजनिक प्रश्नों पर चर्चा करने के लिए शान्तिपूर्वक इकट्ठे होने का अधिकार।

(ख) सरकार से अपने कष्टों को दूर करने के लिये अलग-अलग या सामूहिक रूप में प्रार्थना करने का अधिकार।

(ग) मत देने का अधिकार।

(घ) चुनाव के लिए खड़े होने का अधिकार।

(ङ) कोई सरकारी पद धारण करने का अधिकार।

## क्या नैसर्गिक या प्राकृतिक अधिकार जैसी कोई चीज होती है ?

पहले यह कहा जाता था कि कुछ अधिकार मनुष्य को निसर्गतः प्राप्त हैं। मनुष्य उन्हें लेकर ही पैदा हुआ था, और वे उसकी प्रकृति का वैसे ही हिस्सा हैं जैसे उसकी त्वचा का रंग। इन अधिकारियों को समाज और राज्य से भी अधिक प्रबल कहा जाता था। राज्य या समाज भी आदमी को उसके नैसर्गिक अधिकारों से व्यक्ति वंचित नहीं कर सकता। इन अधिकारों को तब तक कम भी नहीं किया जा सकता जब तक व्यक्ति स्वयं राज्य को ऐसा करने का अधिकार न दे। इन नैसर्गिक और असंक्राम्य अधिकारों को संक्षेप में 'जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति' कहते थे।

नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धान्त १७ वीं और १८वीं शताब्दी में बहुत प्रचलित था। समाजसंविदा सिद्धान्त के लेखकों ने इसे लोकप्रिय बनाया। पर आजकल यह सिद्धान्त नहीं माना जाता। जैसे कि हम पहले देख चुके हैं आज आदमी को समाज से स्वतन्त्र कोई अधिकार नहीं है। इसके अलावा कुछ अधिकार नैसर्गिक रूप में परस्पर विरोधी हैं। उदाहरण के लिए, स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार। इसके अलावा, नैसर्गिक अधिकारों की कोई ऐसी सूची भी नहीं जिस पर सब सहमत हों।

**मूल अधिकारों का अर्थ**—कुछ अधिकार प्रत्येक नागरिक के विकास के लिए मौलिक महत्व के माने जाते हैं। आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्यों में इन अधिकारों को कभी-कभी संविधान का हिस्सा बना लिया जाता है और मूल अधिकारों का नाम दिया जाता है।

प्रायः संविधान में, जो देश का सर्वोच्च कानून होता है परिवर्तन के लिए लम्बी-चौड़ी और विशेष प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। जब अधिकार इसका हिस्सा बन जाते हैं, तब सरकार के लिए उन्हें कानून के सामान्य तरीके से कम करना या छीनना कठिन हो जाता है। बहुमत पदारूढ़ होने पर अल्पमत को उसके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता। इस प्रकार, संविधान का हिस्सा बन जाने पर इन अधिकारों का बल बढ़ जाता है पर मूल शब्द का यह अर्थ न समझना चाहिए कि यह अधिकार अनतिक्रम्य (inviolate) या निरुपाधि (absolute) हो जाते हैं।

अधिकारों के साथ कर्त्तव्य अपने आप आ जाते हैं—हम सबमें यह प्रवृत्ति है कि हम अपने अधिकारों पर जोर देते हैं और अपने कर्त्तव्यों की परवाह नहीं करते। पर हमें याद रखना चाहिए कि अधिकार और कर्त्तव्य एक साथ रहते हैं। कोई अधिकार बिना कर्त्तव्य के नहीं हो सकता। प्रत्येक अधिकार के साथ एक कर्त्तव्य जुड़ जाता है। अधिकार और कर्त्तव्य एक सिक्के के दो पार्श्वों की तरह हैं, जिन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यदि मुझे कोई चीज दान का अधिकार है, तो मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं दूसरों का भी वह अधिकार स्वीकार करूँ। यह सामाजिक व्यवहार का सरल लेकिन पहला नियम है। दूसरों से वह व्यवहार करो, जो तुम अपने से कराना चाहते हो।

सन्तान पैदा करने की आजादी है। यह अधिकार मानव वंश को आगे बढ़ाने के लिए बहुत आवश्यक है।

**स्वतन्त्रता का अधिकार**—स्वतन्त्रता का अधिकार जीवन के अधिकार का एक आवश्यक भाग है। बिना स्वतन्त्रता के जीवन अर्थहीन हो जाता है। स्वतन्त्रता का अधिकार बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण अधिकार है। इसके अन्तर्गत, अन्य कई अधिकार आते हैं, जैसे उपासना की स्वतन्त्रता-चलने-फिरने और साहचर्य की स्वतन्त्रता, विचार और भाषण की स्वतन्त्रता पेशे की स्वतन्त्रता। हम इन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

**उपासना की स्वतंत्रता**—यह एक आधुनिक अधिकार है। आधुनिक राज्य लौकिक या धर्म निरपेक्ष ( secular ) राज्य है। यह किसी भी धर्म से अपने आपको नहीं जोड़ता। उपासना के अधिकार में सब नागरिकों का अपनी इच्छा के अनुसार धर्म को मानने, उस पर आचरण करने और उसका प्रचार करने की आजादी ध्वनित होती है। यदि धार्मिक आचरण के साथ कोई आर्थिक या राजनैतिक गतिविधि भी सम्बन्धित है, तो इन गतिविधियों को विनियमित और अवरुद्ध करना राज्य के लिए पूर्णतया उचित होगा।

**अबाध संचालन का अधिकार**—इस अधिकार के अनुसार नागरिक को राज्य के क्षेत्र में कहीं भी आने-जाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसमें यह बात भी आ जाती है कि कोई व्यक्ति दोषपूर्णतया गिरफ्तार या निरुद्ध नहीं किया जाना चाहिए। यह अधिकार भी अपरिसीमित नहीं है। सरकार युद्ध के दिनों में या राष्ट्रीय आपात के समय नागरिकों के घूमने फिरने की आजादी पर बहुत सी पाबन्दियां लगा सकती है।

**संविदा करने का अधिकार**—इसका अर्थ यह है कि हर नागरिक को दूसरे नागरिक के साथ संविदा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। संविदा कारबार और सामाजिक संगठन को दृढ़ करती है, और इसलिए समाज की प्रगति के लिए बहुत आवश्यक है। पर राज्य कुछ प्रकार की संविदाएं करने की इजाजत नहीं दे सकता। उदाहरण के लिए, अपने आपको बेचकर दास बनाने की, या दासों का व्यापार करने की, या ऐसी संविदाएं करने की इजाजत नहीं दे सकता, जिसमें रिश्वत देनी होती है। न राज्य ऐसी संविदाएं करने दे सकता है, जिनसे उसकी सुरक्षा को खतरा हो।

**साहचर्य का अधिकार**—हम देख चुके हैं कि आदमियों को अपनी अनेक तरह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साहचर्यों की आवश्यकता होती है। साहचर्य बनाना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और रुचि के अनुसार साहचर्य बनाने के लिए स्वतन्त्र न हो तो उसका पूर्ण विकास संभव नहीं। निस्सन्देह, ऐसे किसी साहचर्य को नहीं रहने दिया जा सकता जिसका लक्ष्य राज्य का तख्ता पलटना हो।

**बोलने, छापने और इकट्ठा होने का अधिकार**—बोलने के अधिकार का अर्थ यह है कि हर आदमी को सरकारी दखल से आजाद रहते हुए सोचने की और सार्वजनिक रूप में अपनी राय जाहिर करने की आजादी है। सरकार की नीतियों और कार्यों की

आलोचना भी इसमें आ जाती है। फिर, बोलने के द्वारा ही हम दूसरों की राय और अनुभव से लाभ उठाते हैं। इस प्रकार, स्वतन्त्र भाषण का अधिकार समाज की स्वस्थ प्रगति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर सामाजिक व्यवस्था के हित की दृष्टि से इस अधिकार पर भी राज्य के कानून ऐसी बात कहने पर दण्ड देते हैं, जिससे सार्वजनिक नैतिकता दूषित होती हो, या लोगों को बदनाम किया जाता हो, या लोगों को अपराध के लिए भड़काया जाता हो, या राज्य के विरुद्ध द्रोह फैलाया जाता हो। पर, ऐसी पाबन्दियों का अभिप्राय वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कम करना नहीं है। वे पाबन्दियाँ दूसरों की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने के लिए और राज्य की स्थायिता की रक्षा के लिए लागू की जाती हैं।

प्रेस या समाचार-पत्र के अधिकार का अर्थ यह है कि जो बात मनुष्य विधिपूर्वकतया बोल सकता है, उसे प्रकाशित करने का उसे अधिकार। यह अधिकार बोलने के अधिकार में से ही निकलता है। प्रबुद्ध लोकमत बनाने में प्रेस बहुत महत्त्वपूर्ण काम करता है। बोलने के अधिकार पर जो परिसीमाएं हैं, वे छापने के अधिकार पर भी लागू होती हैं।

**सम्पत्ति का अधिकार**—सम्पत्ति का अधिकार आदमी का बहुत पुराना अधिकार है। तथ्य तो यह है कि राज्य का निर्माण ही लोगों की सम्पत्ति की रक्षा के लिए किया गया था। अपनी वस्तुओं का यथेच्छ उपयोग और उपभोग भी इस अधिकार के अन्तर्गत आता है। इसका यह भी अर्थ है कि आदमी उपहार या विनिमय द्वारा अपनी सम्पत्ति देने के लिए स्वतन्त्र है। कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति नागरिक के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र और पूर्ण विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। पर वैयक्तिक सम्पत्ति के असीमित सञ्चय के अधिकार पर आजकल समाजवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण आपत्ति उठाई जा रही है।

**संस्कृति और भाषा का अधिकार**—यह अधिकार किसी देश के अल्पसंख्यकों के लिए विशेष महत्त्व का है। प्रत्येक अल्पसंख्यक वर्ग को लोकतन्त्रीय देश में अपनी भाषा और संस्कृति के विकास के लिए स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

**शिक्षा पाने का अधिकार**—यह एक आधुनिक अधिकार है। १५० वर्ष पहले शिक्षा का एक वैयक्तिक मामला समझा जाता था। आजकल अपने नागरिकों को शिक्षा की सुविधाएं देने के लिए राज्य को जिम्मेदार माना जाता है। लोकतन्त्र के नागरिकों के लिए शिक्षा बहुत जरूरी है। यह उनकी समझने की शक्ति को बढ़ाती है और उनका दृष्टिकोण विस्तृत करती है।

**काम करने का अधिकार**—यह भी एक आधुनिक अधिकार है। इसका अर्थ यह है कि हर नागरिक को बेरोजगारी से बचाया जाए। यह राज्य की जिम्मेदारी मानी जाती है कि वह हर नागरिक के लिए काम की व्यवस्था करे। इस अधिकार में यह बात भी ध्वनित है कि हर मजदूर को निर्दिष्ट-मजदूरी निश्चित रूप से मिलनी चाहिए। उसकी मजदूरी इतनी होनी चाहिए कि वह अपने रहन-सहन का स्तर न्याय-संगत रूप से सुविधाजनक रख सके।

**कानून के सामने बराबरी का अधिकार**—इस अधिकार के अनुसार कानून हर नागरिक के लिए बराबर होना चाहिए और उसे जन्म, धन, रंग, मूलवंश, धर्म या लिंग का कोई ध्यान न करना चाहिए।

**मत देने का अधिकार**—मत देने का अधिकार लोकतन्त्र का फल है। लोकतन्त्रीय राज्य के प्रत्येक नागरिक को अपनी सरकार के चुनने में हिस्सा लेने का मौका होना चाहिए। इसी कारण राज्य के हर वयस्क सदस्य को मत देने का अधिकार दिया जाता है। इस अधिकार के उपभोग के आजकल एकमात्र अपवाद अवयस्क, दिवालिए, अपराधी और अन्यदेशीय हैं।

**सरकारी पद धारण करने का अधिकार**—जिन नागरिकों को मत देने का अधिकार है, उन सबको जन्म, धन, रंग, मूलवंश, धर्म या लिंग के भेदभाव के बिना, राज्य के अधीन पदधारण करने का भी अधिकार है।

**याचिका देने का अधिकार**—किसी राज्य के सब सदस्यों का एक विशेष अधिकार है अपने कष्टों के निवारण के लिए सरकार को याचिका देना।

**भारतीय नागरिकों के अधिकार**—उपर्युक्त सब अधिकार सब लोकतन्त्रीय राज्यों में नागरिकों को मिल जाने आवश्यक नहीं। भारत में अब तक शिक्षा पाने का अधिकार और रोजगार पाने का अधिकार राज्य द्वारा स्वीकार नहीं किए गए हैं। इसका कारण यह है कि हमारे राज्य के वित्तीय समाधन अभी बड़े सीमित हैं। अब तक सरकार के लिए यह सम्भव नहीं कि वह भारत की विशाल आबादी के लिए *आवश्यक संख्या में स्कूल खोल सके। न हमारा राज्य, जिसकी आर्थिक अवस्था पिछड़ी* हुई है, सब नागरिकों को रोजगार की ही गारन्टी दे सकता है। तो भी ब्रिटिश शासन के दिनों की तुलना में औसत भारतवासी को आजकल बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हैं। ब्रिटिश शासन में मत देने का अधिकार जनता के सिर्फ थोड़े से हिस्से को दिया गया था। बोलने की, साहचर्य बनाने की, सम्मेलन की, और प्रेस की आजादी भी बहुत सीमित थी। राज्य के कुछ ऊंचे और महत्त्वपूर्ण पद भारतवासियों के लिए बिल्कुल बंद थे। अन्य पदों में भी रायसाहबों आदि के और धनी आदमियों के लड़कों को पहले लिया जाता था। स्वतन्त्र भारत में सब नागरिकों को समान रूप से ये अधिकार हैं। गरीब से गरीब नागरिक को भी राज्य के ऊंचे से ऊंचे पद पर पहुंचने में कोई रुकावट नहीं है।

**नागरिकता के कर्तव्य**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कर्त्तव्य अधिकारों के साथ अवश्य जुड़े रहते हैं। यदि कोई आदमी अपने अधिकारों के साथ-साथ अपने *कर्त्तव्यों को नहीं पहचानता वह अच्छा नागरिक नहीं कहला सकता।* अधिकारों का आराम से उपभोग करना, यह बात और भी आवश्यक कर देता है कि हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।

अधिकारों की तरह कर्त्तव्य भी वैधिक और नैतिक होते हैं। नैतिक कर्त्तव्य हमारी नैतिक समझ के कारण हमारे पर आते हैं। उदाहरण के लिए हमारे ऊपर यह नैतिक कर्त्तव्य है कि हम अपने मतों का ईमानदारी से प्रयोग करें। जब कोई कर्त्तव्य

लिए सदा तैयार रहना चाहिए। संक्षेप में, जिस आदमी को उसकी सहायता की आवश्यकता हो, और जो उसके पास हो, उसे सहायता देना उसका कर्तव्य है।

## सारांश

अधिकार किसे कहते हैं—लास्की ने अधिकारों की यह परिभाषा की है कि "सामाजिक जीवन की वे अवस्थाएं जिनके बिना कोई भी आदमी अपना अधिकतम विकास नहीं कर सकता।" इसका अर्थ यह है कि समाज को आदमी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए कुछ सुविधाओं का गारण्टी देनी होगी। ऐसी अवस्थाओं और सुविधाओं को हम अधिकार कहते हैं।

इस प्रकार अधिकार सामाजिक जीवन का एक परिणाम है। कोई भी स्वार्थपूर्ण, अयुक्तियुक्त और अनैतिक दावा अधिकार नहीं बन सकता। हर एक अधिकार के साथ एक कर्तव्य जुड़ा रहता है।

कोई दावा अधिकार तभी बन सकता है जब समाज ने उसका अनुमोदन कर दिया हो। हम समाज से स्वतन्त्र अधिकारों का दावा नहीं कर सकते। राज्य द्वारा स्वीकृति आवश्यक नहीं, यद्यपि कानून की शक्ति अधिकारों का बल बढा देती है।

(१) नैतिक अधिकार—यदि किसी आदमी का दावा नैतिकता के आधार पर है और वह सिर्फ राज्य द्वारा स्वीकृत किया जाता है तो उसे नैतिक अधिकार कहा जाएगा। उनके पीछे एकमात्र ताकत लोकमत है। लोकमत का बल नैतिक अधिकारों को वैधिक अधिकारों में बदलवाने की प्रवृत्ति रखता है।

(२) वैधिक अधिकार—वैधिक अधिकार वे अधिकार हैं जिन्हें राज्य स्वीकार और परिवर्तित करता है। उनके अतिक्रमण पर राज्य दंड देता है।

वैधिक अधिकारों को जानपद और राजनैतिक अधिकारों में बांटा जा सकता है। जानपद अधिकारों में जीवन, सम्पत्ति, साहचर्य, संविदा और उपासना आदि के अधिकार शामिल हैं। राजनैतिक अधिकारों में स्वतन्त्र रूप से भाषण और विचार प्रकाशन, सम्मेलन, याचिका, मतदान और राज्य के अधीन पदधारण के अधिकार शामिल हैं।

नैसर्गिक या प्राकृतिक अधिकार या जन्मजात अधिकार कोई चीज नहीं होती। सारे समाज के हित की दृष्टि से किसी भी अधिकार को सीमित किया जा सकता है।

जो अधिकार संविधान का हिस्सा बना दिये जाते हैं, उन्हें और भी अधिक बल प्राप्त हो जाता है और वे मूल अधिकार कहलाने लगते हैं।

अधिकार कर्तव्यों को ध्वनित करते हैं—कोई अधिकार ऐसा नहीं जिसके साथ कर्तव्य न जुड़ा हो। अधिकार और कर्तव्य एक सिक्के के दो पार्श्वों की तरह हैं, जो हमेशा साथ रहते हैं। यदि क का एक अधिकार है तो ख का यह कर्तव्य है कि वह उस अधिकार का सम्मान करे। फिर ख का अधिकार क का कर्तव्य भी है। यदि क को एक अधिकार प्राप्त है तो उसका कर्तव्य है कि वह ख के वैसे ही अधिकार का आदर करे। क का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने अधिकार का प्रयोग ईमानदारी से और समाज तथा राज्य के सर्वोत्तम हित की दृष्टि से करे। अन्तिम बात यह है कि राज्य के

प्रति, जो हमारे अधिकारों को गारण्टी देता है और रक्षा करता है, हम में से हरेक कुछ कर्त्तव्य हैं।

**नागरिक के विशिष्ट अधिकार**—प्रत्येक आधुनिक राज्य के नागरिक को निम्नलिखित जानपद और राजनैतिक अधिकार होते हैं।

जीवन का अधिकार, जिसमें आत्म-रक्षा और सन्तान पैदा करने का अधिकार भी शामिल है, स्वतन्त्रता का अधिकार, इच्छानुसार उपासना का अधिकार, निर्बाध घूमने-फिरने का अधिकार, संविदा करने का अधिकार, बोलने का अधिकार, संस्थाएं बनाने का अधिकार, प्रेस की स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्मेलन का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, संस्कृति और भाषा का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, काम का अधिकार, कानून के सामने बराबरी का अधिकार, मत देने का अधिकार, सरकारी नौकर होने का अधिकार, और याचिका देने का अधिकार।

**नागरिकता के कर्त्तव्य**—कर्त्तव्य भी वैधिक और नैतिक होते हैं। नैतिक कर्त्तव्य हमारी नैतिक समझ द्वारा हमारे ऊपर डाले जाते हैं। जब कर्त्तव्य कानून द्वारा विहित हो जाते हैं, तब वे नैतिक कर्त्तव्य बन जाते हैं। नागरिक के वैधिक कर्त्तव्य यह हैं. (१) राज्य के प्रति निष्ठा, (२) राज्य के कानूनों का पालन, (३) राज्य को कर देना, (४) जूरी के रूप में कार्य करना और (५) अपने बच्चों को शिक्षा देना।

नैतिक कर्त्तव्य ये हैं. (१) मत का ईमानदारी से प्रयोग करना, (२) सरकारी पद पर रहते हुए ईमानदारी और (३) सामाजिक सेवा।

## प्रश्न
## QUESTIONS

१ अधिकार किसे कहते हैं? किसी दावे के अधिकार बनने के लिए कौन-कौन सी शर्तें आवश्यक हैं?

1 What is a 'Right'? What conditions are necessary for a claim to become a right?

२ वैधिक और नैतिक कर्त्तव्यों में स्पष्ट रूप से भेद कीजिए। क्या किसी अधिकार के लिए राज्य की स्वीकृति आवश्यक है?

2 Distinguish clearly between legal and moral rights Is state recognition necessary for a right?

३ "अधिकार कर्त्तव्यों को ध्वनित करते हैं" इसकी व्याख्या और विवेचना करो। (प० वि० अप्रैल, १९४८, ५०)

3 "Rights imply duties" Explain and discuss.(P U April 48 & 50)

४ 'अधिकार' और 'कर्त्तव्य' शब्दों की व्याख्या कीजिए। किसी आधुनिक राज्य के नागरिकों को प्राप्त कुछ अधिकारों का उल्लेख कीजिए। (प० वि० अप्रैल, १९४९)

या

आधुनिक राज्य में किसी नागरिक के महत्त्वपूर्ण अधिकार और कर्त्तव्य कौन से हैं? (पं० वि० सितम्बर, १९५१)

4 Explain the terms 'Rights' and 'Duties' Mention some of the rights enjoyed by citizens of a modern state (P U, April, 1949)

*Or*

What are the important rights and duties of a citizen in a modern state ? (P U Sept , 1950)

५. अधिकार की परिभाषा कीजिए। आपकी राय में आधुनिक राज्य को किन अधिकारों को गारण्टी देनी चाहिए ? (प० वि० सितम्बर, १९५१)

5 Give definition of 'right'. What rights in your opinion should be guaranteed by the state (P U Sept , 1951)

६. अधिकारों की परिभाषा करो ? जानपद अधिकारों, राजनैतिक अधिकारों और नैसर्गिक अधिकारों से आप क्या समझते हैं ? (प० वि० अप्रैल, १९५२)

6 Define 'Rights' What do you understand by Civil Rights, Political Rights and Natural Rights ? (P.U April, 1952)

७ राज्य के प्रति नागरिकों के क्या कर्त्तव्य हैं ? (प० वि० अप्रैल, १९५३)

7 What are the obligations of the citizens towards the state ? (P U April, 1953)

८. अधिकारों की परिभाषा करो ? क्या आदमी को राज्य के ऊपर कोई अधिकार प्राप्त हो सकता है ? (प० वि० अप्रैल, १९५४)

8. Give a definition of Rights Can a man possess rights against the state ? (P U April, 1954)

अध्याय : : १४

# विधि, स्वाधीनता और समता—अपराध और दण्ड

## विधि या कानून

**विधि का अर्थ और प्रकृति**—'विधि' शब्द उन नियमों का निर्देश करता है जो मानवीय क्रियाओं के पथ प्रदर्शन के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य की सामाजिक प्रकृति यह चाहती है कि वह अपने अन्य साथी मनुष्यों से संघर्ष से बचने के वास्ते आचरण के कुछ नियमों पर चले। यदि इन नियमों का सम्बन्ध मनुष्य की आंतरिक प्रेरक भावनाओं से है और वे उसके अन्तःकरण की चीज़ हैं, तो वे नियम नैतिक नियम कहलाते हैं। यदि वे सिर्फ़ उसकी बाह्य क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं तो वे सामाजिक या राजनैतिक नियम होते हैं।

राजनैतिक नियमों और सामाजिक नियमों में अन्तर है। यदि कोई आदमी सामाजिक नियम को न माने तो उसके काम को समाज बुरा कहता है, पर इसके परिणामस्वरूप उसे कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता। पर राजनैतिक नियम का अतिक्रमण करने पर दण्ड मिलता है। इन राजनैतिक नियमों को ही विधि या कानून कहते हैं। *राजनैतिक नियम या विधियाँ राज्य द्वारा बनायी जाती हैं और उनके पीछे उसका प्राधिकार होता है।* हालैंड ने राजनैतिक नियम या विधि की यह परिभाषा की है कि 'बाहरी मानवीय क्रिया का व्यापक नियम, जो सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता द्वारा लागू किया जाता है।" नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के रूप में हमारा वास्ता इसी प्रकार के नियम, अर्थात् विधि, से है। राजनैतिक नियमों, अर्थात् विधियों, के बारे में निम्नलिखित बातें ध्यान रखनी चाहिए —

(१) विधि राज्य का एक आदेश है, जो इसकी सर्वोच्च सत्ता से समर्थित होता है। इस अर्थ में विधि रूढ़ि (custom) से भिन्न है। रूढ़ि के पीछे सिर्फ़ लोकमत का बल होता है। राज्य के क्षेत्र में मौजूद सब आदमियों, समूहों और साहचर्यों को इसके आदेशों का पालन करना चाहिए। उसकी ओर से आज्ञा का पालन न किए जाने पर राज्य दण्ड देता है।

(२) राज्य के अलावा और कोई प्राधिकरण विधि जारी नहीं कर सकता। *विधि सर्वोच्चता का फल है और सर्वोच्चता सिर्फ़ राज्य को प्राप्त है।*

(३) कोई विधि स्वयं राज्य पर बन्धनकारी नहीं होती। राज्य किसी भी

समय विधि विधि को संशोधित या निरस्त (repeal) कर सकता है।

(४) विधि मनुष्यों की सिर्फ बाहरी क्रियाओं को विनियमित करती है और साधारणतया क्रिया के प्रेरक भावों पर विचार नहीं करती।

**विधि के स्रोत**—राज्य की ही तरह विधि भी इतिहास की ही उपज है। यह विकास की अनेक मंजिलों में से गुजरी है और कई कारकों ने इसके विकास में योग दिया है। ये सब कारक विधि के स्रोत कहलाते हैं। पर यह याद रखना चाहिए कि बाहरी मानवीय आचरण के नियमों का स्रोत चाहे कुछ भी हो, पर यदि उन नियमों को सर्वोच्च प्रभु की मंजूरी प्राप्त न हो तो उन्हें विधि का बल नहीं मिल सकता। विधि के स्रोत निम्नलिखित बताए जा सकते हैं :—

**रूढ़ि**—रूढ़ि विधि के सबसे पुराने स्रोतों में से एक है। रूढ़ि। आचरण के वे नियम हैं जो किसी समाज में आदत के कारण या किसी उपयोगिता की दृष्टि से व्यापक रूप से स्वीकार कर लिए जाते हैं। राज्य इन नियमों को बनाने में कोई हिस्सा नहीं लेता। वे आम प्रयोग और स्वीकृति के कारण बढ़ते हैं और समाज में फैलते हैं। पहले के राज्यों में रूढ़ियाँ ही एक मात्र विधियाँ थीं। आज भी प्रत्येक राज्य में उसकी विधि प्रणाली का बहुत बड़ा हिस्सा रूढ़ि पर आधारित है। पर प्रत्येक रूढ़ि विधि प्रणाली के अन्तर्गत नहीं आती। राज्य सिर्फ ऐसी रूढ़ियों को स्वीकृत करता है जो समाज के जीवन के लिए उपयोगी और सुविधाजनक पाई जाती हैं।

**धर्म**—पहले के अविकसित समाजों में जीवन के सब नियमों के पीछे धर्म का आदेश होता था और रूढ़ि तथा धर्म को एक दूसरे से मिला दिया जाता था। मुस्लिम राज्यों की विधियाँ कुरान से निकली हैं। ईसाई विधि और हिन्दू विधि भी बहुत हद तक अपने धर्म ग्रंथों से निकली हैं।

**न्यायिक निश्चय**—गैटल के अनुसार, राज्य का जन्म विधि के स्रष्टा के रूप में नहीं हुआ, बल्कि रूढ़ि के निर्वाचन कर्ता और लागू करने वाले के रूप में हुआ। समाज की परिस्थितियाँ बदल जाने पर कोई रूढ़ि प्राय कुछ स्थितियों और अवस्थाओं की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण पाई गई। ऐसी परिस्थितियों में न्यायाधीश किसी मौजूदा रूढ़ि का निर्वचन इस तरह करके कि कोई खास मामला उसके अन्तर्गत आ जाए, कभी कभी अपने विनिश्चयों के द्वारा नई विधियाँ पैदा कर देते थे। जहाँ कोई रूढ़ि नहीं थी, वहाँ न्याय और साम्य (Equity) के सिद्धान्त लागू किये जाते थे। इंग्लैंड में सारी की सारी रूढ़ि विधि इसी प्रकार पैदा हुई।

**वैज्ञानिक भाष्य**—बहुत से देशों में महान विधि शास्त्री हुए हैं। उनके ग्रन्थों में महान विधि सम्बन्धी सिद्धान्त और अभिमत (opinions) हैं। इन अभिमतों का समय समय पर वकीलों और न्यायाधीशों पर बड़ा असर पड़ा है। इस प्रकार उन्होंने विधि प्रणाली को एक रूप दिया है।

**विधान (Legislation)**—आधुनिक काल में विधियाँ मुख्यत विधान

मण्डलों द्वारा अधिनियमित की जाती है। तथ्य तो यह है कि आज विधानमण्डल विधि के एक मात्र स्रोत बनते जाते हैं। रूढ़ियों को भी सुनिदिष्ट लिखित विधियों का रूप दिया जा रहा है।

विधि के प्रकार—गैटल के अनुसार विधि को निम्नलिखित वर्गों में बाटा जा सकता है :—

१. वैयक्तिक विधि (Private law) जो एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति के सम्बन्धों को विनियमित करता है।

२. लोकविधि, जो राज्य के साथ व्यक्ति के सम्बन्धों को विनियमित करती है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय विधि, जो एक राज्य के साथ दूसरे राज्य के सम्बन्धों को विनियमित करती है।

१ वैयक्तिक विधि—वैयक्तिक विधि के अधीन किसी मामले में, निजी व्यक्ति पक्ष होते हैं। राज्य सिर्फ निर्णायक के रूप में कार्य करता है। राज्य व्यक्तियों के सब सम्बन्धों को विनियमित नहीं करता। यह सिर्फ उन सम्बन्धों को विनियमित करता है जो सार्वजनिक महत्व के हैं। सारे को सारी व्यवहार विधि (Civil law) इस वर्ग के अन्तर्गत आती है।

२. लोक विधि—लोक विधि के अधीन मुकद्दमें में एक पक्ष राज्य होता है। यह विधि एक तो राज्य के संगठन और कार्यों के सम्बन्ध में होती है, और दूसरे यह राज्य और उसके नागरिकों के सम्बन्ध विनियमित करती है।

लोक विधि के फिर ये उपविभाग किए जा सकते हैं —

(क) सांविधानिक विधि (Constitutional law)—सांविधानिक विधि सामान्यविधि से सर्वथा भिन्न होती है। यह सरकार की संरचना, परिचालन, कार्यों और शक्तियों की परिभाषा करती है। विधानमण्डल, जो सामान्य विधि बनाता है, स्वयं सांविधानिक विधि से पैदा होता है।

(ख) प्रशासनीय विधि—लोक विधि का यह भाग विधि को लागू करने वाले अंगों के कार्य क्षेत्र को निर्धारित करता है। यह आदमी को यह भी बताता है कि यदि कार्यपालिका द्वारा उसके अधिकारों का अतिक्रमण किया जाए तो उसके पास क्या उपचार है।

(ग) दण्ड विधि—यह लोक विधि की एक शाखा है जो व्यष्टि या व्यष्टियों के उन कार्यों को निषिद्ध करती है, जो राज्य के अधिकारों का अतिलंघन करते हैं। अपराध राज्य के विरुद्ध जुर्म है। राज्य दण्डविधि के अनुसार अपराधी पर अपराध के लिए मुकद्दमा चलाता है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय विधि—यह एक राज्य के साथ दूसरे राज्य के सम्बन्धों को विनियमित करती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि न तो अधिनियमित की जाती है, और न किसी सर्वोच्च न्यायाधिकरण द्वारा प्रवर्तित की जाती है। इसके पीछे विभिन्न राज्यों

में मौजूद लोकमत ही होता है। यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने से इनकार करदे तो उसे दण्ड नहीं मिलेगा।

## विधि और नैतिकता का सम्बन्ध

विधि और नैतिकता का एक दूसरे से निकट सम्बन्ध है, दोनों में बहुत सी बातों में भेद भी है। पहले हम विधि और नैतिकता में भेद करने वाली बातों पर विचार करेंगे।

भेद करने वाली बातें—विधि और नैतिकता अन्तर्वस्तु, पृष्ठबल और सुनिश्चितता (contents, sanction and definiteness) में एक दूसरे से भिन्न हैं। जहां तक अन्तर्वस्तु और अभिक्षेत्र (scope) का सम्बन्ध है, विधि मनुष्य के सिर्फ बाहरी कार्यों से सम्बन्ध रखती है और इसे उसके विचारों, प्रेरक भावों और आशयों से कोई वास्ता नहीं। विधि विचारों और प्रेरक भावों पर तब ही विचार करती है, जब वे क्रियाओं में दिखाई देते हैं। झूठ बोलना नैतिक दृष्टि से बुरा है, *पर विधि में यह तब ही बुरा है जब न्यायालय में शपथ लेकर बोला जाए। गुस्सा* करना अनैतिक है, पर विधि में यह तभी बुरा है, जब मैं गुस्से में किसी को चोट पहुँचाऊं। नैतिकता के अनुसार चोरी की बात सोचना भी गलत है, पर विधि किसी आदमी को तभी दण्डित करेगी, जब वह वास्तव में चोरी करे।

जहाँ तक पृष्ठबल (sanction) में भेद का सम्बन्ध है, विधि सरकार द्वारा लागू की जाती है और इसके अपालन पर दण्ड दिया जाता है। इसके पीछे बल की सत्ता है। नैतिकता के नियम का अतिक्रमण करने पर शारीरिक दण्ड या जुर्माना नहीं होता। अनैतिक कार्य पर समाज अधिक से अधिक, आलोचना कर सकता है। नैतिकता के पीछे सिर्फ लोकमत की ताकत है।

तीसरे, विधि स्वरूप में सुनिश्चित और सार्वत्रिक होती है। विधि एक समान सब पर लागू होती है। दूसरी ओर, नैतिकता स्वरूप में अनिश्चित और व्यष्टिगत होती है। यह अलग-अलग व्यष्टि के साथ अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए, एक आदमी रिश्वत लेने को सर्वथा अनैतिक मान सकता है, और दूसरा इसे स्वीकार करने को सर्वथा उचित समझ सकता है।

चौथे, नैतिक विधियां या नियम सही और गलत, न्याय तथा अन्याय, के निरपेक्ष मानदण्ड बनाते हैं, पर विधि सामयिक औचित्य (expediency) के मानदण्ड पर चलती है। जिस काम का विधि निषेध करती है, हो सकता है कि वह अनैतिक कार्य न हो, पर वह जनता के मंगल और क्षेम के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए, तेज मोटर चलाना अनैतिक नहीं है, पर वह विधि द्वारा निषिद्ध है।

विधि और नैतिकता का सम्बन्ध—विधि और नैतिकता इन दोनों का उद्गम एक था। प्राचीन काल के समाजों में नैतिक नियमों और सामाजिक

आचरण के नियमों में कोई भेद नहीं किया जाता था। धीरे-धीरे उनमें भेद किया जाने लगा। अनेक भेदों के होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध आज भी बड़ा घनिष्ठ बना हुआ है। राज्य की विधियों के लिए आवश्यक है कि वे नैतिक नियमों के विपरीत न हों। उनके सफलतापूर्वक पालन के लिए यह आवश्यक है कि वे लोगों में मौजूद नैतिकता के मानदण्ड के विरुद्ध न हों। उदाहरण के लिए, शराब पीने के विरुद्ध बनाई गई विधि का उन देशों में पालन होना कठिन है जिनमें शराब पीने की आदत लोगों में बहुत आम है, पर विधियाँ नैतिकता का औचित्य मानदण्ड बनाने में भी बड़ा कार्य करती हैं। किसी जमाने में सती प्रथा और बाल विवाह बहुत आम चीज थीं। कानून बन जाने पर ही ये प्रथाएँ रुकीं।

## स्वतन्त्रता या स्वाधीनता

**स्वतन्त्रता किसे कहते हैं**—स्वतन्त्रता का शब्दार्थ है जो कुछ आदमी चाहे वह करने की आजादी, पर ऐसी स्वतन्त्रता असम्भव है। हम कुछ नियमों के बिना इकट्ठे नहीं रह सकते और नियमों का मतलब है हमारे कार्यों पर रुकावटें। इस प्रकार शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवन तभी सम्भव है, यदि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ निर्धारित स्वतन्त्रता हो। दूसरी ओर, यदि हर आदमी अपनी इच्छानुसार काम करना चाहे, तो लोगों में लड़ाइयाँ भी होती हैं। इसलिए स्वतन्त्रता का अर्थ है सब कुछ करने की आजादी बशर्ते कि इससे दूसरों की आजादी को हानि न पहुँचे।

**स्वाधीनता के प्रकार**—स्वाधीनता शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है इसलिए इसके अर्थ को साफ तौर से समझने के लिए हमें इसके अनेक अर्थों में भेद करना चाहिए।

**प्राकृतिक या नैसर्गिक स्वाधीनता**—अवरोध या नियन्त्रण से आजादी को नैसर्गिक स्वाधीनता कहते हैं। यह मनुष्य के अपनी इच्छा के अनुसार काम करने के असली अधिकार को बताती है पर ऐसी स्वाधीनता सिर्फ जंगली पशुओं में है। कहा जाता है कि यह अवस्था समाज संविदा सिद्धान्त की काल्पनिक निसर्गावस्था में मनुष्यों में भी मौजूद थी। यह स्वाधीनता समाज में रहते हुए मनुष्यों में कभी नहीं हो सकती। नैसर्गिक स्वाधीनता का विचार सुनने में बड़ा आकर्षक लगता है, पर व्यवहार में यह कभी भी नहीं आ सकता। यदि इसे व्यवहार में लाया जाय तो सबसे सबल आदमी को ही ऐसी स्वाधीनता मिल सकती है। अन्य लोग इस एक आदमी के गुलाम मात्र होंगे, और उन्हें कोई स्वाधीनता नहीं होगी। फिर सबसे सबल आदमी को भी नैसर्गिक स्वाधीनता स्थायी रूप से प्राप्त नहीं हो सकती। यह उसे तब तक ही मिल सकती है, जब तक कोई अधिक बलवान आदमी उसे न मिले। इस प्रकार नैसर्गिक स्वाधीनता सब के लिए नहीं हो सकती।

**नागरिक स्वाधीनता**—नैसर्गिक स्वाधीनता से विपरीत नागरिक स्वाधीनता वह स्वाधीनता है जो मनुष्य को समाज में मिलती है। यह स्वाधीनता मात्रा में

सीमित हो सकती है, पर यह वास्तविक, स्थायी, और समाज के सब सदस्यों के लिए समान होती है। यह सब के लिए वास्तविक, स्थायी, और समान इस कारण होती है क्योंकि इसका उपभोग विधि के संरक्षण में किया जाता है। इस प्रकार नागरिक स्वाधीनता राज्य द्वारा जनित और रक्षित होती है।

नागरिक स्वाधीनता राज्य द्वारा स्वीकृत और प्रवर्तित अधिकारों के कुल योग को कहते हैं। जीवन और सम्पत्ति का अधिकार नागरिक स्वाधीनता के उदाहरण हैं।

**राजनैतिक स्वाधीनता**—राजनैतिक स्वाधीनता का अर्थ है नागरिकों को सरकार के चुनाव और परिचालन में हिस्सा लेने की आजादी। इसमें मत देने का अधिकार, चुने जाने का अधिकार, सरकारी पद धारण करने का अधिकार, और सरकार की नीति पर आजादी से विचार करने और उसकी आलोचना करना शामिल है।

**सांवैधानिक स्वाधीनता**—यदि स्वाधीनता की, संविधान द्वारा, सरकार की दस्तन्दाजी से भी रक्षा की जाती है तो इसे सांवैधानिक स्वाधीनता कहते हैं।

**आर्थिक स्वाधीनता**—आर्थिक स्वाधीनता का अर्थ है अभाव से छुटकारा। आर्थिक स्वाधीनता के बिना, और सब प्रकार की स्वाधीनता निरर्थक हो जाती है। आजादी तब तक वास्तविक नहीं हो सकती जब तक आदमी को जीवन धारण की आवश्यकताएँ मिलनी सुनिश्चित न हों। हर आदमी को बेरोजगारी से बचाना चाहिए। उसे निर्वाह मजदूरी भी सुनिश्चित रूप से मिलनी चाहिए।

**राष्ट्रीय स्वाधीनता**—यह एक राष्ट्रीयता में आबद्ध लोगों के लिए आजाद, अनाश्रित और सर्वोच्च राज्य को सूचित करती है। राष्ट्रीय स्वाधीनता अन्य सब प्रकार की स्वाधीनता के अस्तित्व और पूर्ण उपभोग के लिए परम आवश्यक है। यह नागरिक, राजनैतिक और आर्थिक स्वाधीनता का मूल है।

**विधि और स्वाधीनता का सम्बन्ध**—जब से राज्य का जन्म हुआ है, तब से ही विधि और स्वाधीनता की समस्या एक महत्त्वपूर्ण विषय रही है। व्यष्टिवादी, अराजकतावादी, सिंडिकेलिस्ट और बहुत से अन्य मतधारियों का यह कहना है कि स्वाधीनता और विधि में सामंजस्य नहीं हो सकता। ऊपरी दृष्टि से देखने वाले को भी विधि और स्वाधीनता शब्द एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होंगे, क्योंकि विधि का मतलब है अवरोध लगाना, और स्वाधीनता का अर्थ है अवरोधों का न होना। पर यदि हम स्वाधीनता का अर्थ नागरिक स्वाधीनता लगाएँ तो विरोध शीघ्र ही *खत्म हो जाएगा। यदि विधि और स्वाधीनता एक दूसरे के विरोधी होते तो राज्य* कभी का खत्म हो गया होता। यह तथ्य ही कि यह इतने समय तक कायम रहा है और अब भी कायम है, प्रदर्शित करता है कि दोनों में कोई विरोध नहीं है।

विधि और स्वाधीनता परस्पर विरोधी तो हैं ही नहीं। ये असल में सहसम्बन्धी हैं। तथ्यतः नागरिक स्वाधीनता विधि द्वारा पैदा की गई है। विधि सिर्फ नैसर्गिक

स्वाधीनता की शत्रु है। हम पहले ही देख चुके हैं कि नैसर्गिक स्वाधीनता कोई स्वाधीनता नहीं, क्योंकि यह अधिकतर काल्पनिक और अस्थायी है। यह सिर्फ थोड़े से लोगों के लिए है। जो चीज वास्तविक, स्थायी और पक्की है वह नागरिक स्वाधीनता है। विधि ही नागरिक स्वाधीनता को वास्तविक और स्थायी बनाती है। नागरिक स्वाधीनता सीमित प्रकार की स्वाधीनता हो सकती है और इसके अन्तर्गत वह सब आजादी है, जो मनुष्य और समाज के पूर्ण और चतुर्मुखी विकास के लिए वाछनीय है। आदमी समाज और राज्य के सदस्य के रूप में जिन अनेक अधिकारों का उपभोग करता है, वे विधि की देन हैं। ये अधिकार आदमी को दूसरे लोगों के व्यक्तित्व के विकास में बिना बाधा डाले अपने व्यक्तित्व का विकास करने की पूरी स्वाधीनता देते हैं। विधि न हो तो आदमी के व्यक्तित्व का विकास तो हो ही नहीं सकता, उसके जीवन को भी हमेशा खतरा बना रहेगा। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विधि स्वाधीनता की मित्र है।

पर इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि विधि सदा स्वाधीनता की मित्र होती है। जहां सरकार और समाज का गठन सचमुच लोकतंत्रीय होता है, वहां यह निश्चित रूप से स्वाधीनता की मित्र होती है, पर जिन देशों में सरकार अन्य-देशीय होती है, उनमें विधि स्वाधीनता की मित्र नहीं होती। विधि और स्वाधीनता का उन समाजों में भी मेल नहीं बैठता जहां शासन एक या कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में होता है।

विधि और स्वाधीनता के संबंध के प्रसंग में दो बातें और याद रखनी चाहिए, प्रथम तो विधि द्वारा नागरिकों पर लगाए गए अवरोध सब आदमियों के लिए समान होने चाहिए और पूर्ण निष्पक्षता से लागू किए जाने चाहिए। दूसरी बात यह कि ये अवरोध युक्तियुक्त होने चाहिए और समाज को उनके औचित्य का विश्वास होना चाहिए। ये बातें न होने पर विधि और स्वाधीनता में मेल नहीं रह सकता। उस अवस्था में लोग विधि को बार बार चुनौती देंगे।

## समता

समता एक और शब्द है जिसे प्रायः लोग गलत रूप में समझते हैं। यह कहना तो ठीक है कि सब मनुष्यों को जन्म से पांच इंद्रियां मिलती हैं। उनमें शारीरिक अंग, इच्छाएं, वासनाएं और मानसिक योग्यताएं भी एक-सी ही मालूम होती हैं। इसलिए इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सब आदमियों के साथ एक-सा व्यवहार होना चाहिए। पर समता का यह विचार अतिरंजित विचार है और इसका तथ्यों से मेल नहीं बैठता। संसार में कोई दो वस्तुएं एक-सी नहीं होतीं। मनुष्य भी अपने शारीरिक और मानसिक गुणों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि मनुष्यों में एक प्रकार की नैसर्गिक विषमता है। इन नैसर्गिक विषमताओं को दूर कर देना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, चाहे वह इसके लिए

कितना भी यत्न करे। पर नैसर्गिक विषमताओं के अलावा मनुष्यकृत विषमताएं भी हैं जिन्हें मनुष्यों द्वारा हटाया जा सकता है। जन्म, धन-दौलत, मूलवंश, (race), धर्म, रंग, जाति या वर्ण, और लिंग के भेद भाव पर आधारित विषमताएं मनुष्यकृत विषमताएं हैं।

इस प्रकार नागरिक शास्त्र में जब हम समता की बात कहते हैं तब इससे हमारा अभिप्राय मनुष्यकृत विषमताओं को खत्म करना ही होता है। नागरिक शास्त्र में हमारी समता की अवधारणा यह मानकर चलती है कि प्रकृति द्वारा जनित विषमताएं सदा बनी रहेंगी। समता शब्द को जिस रूप में अब हम समझते हैं, उसमें इसका अर्थ होगा :—

(१) विधि के समक्ष समता।

(२) एक-सी अर्हताओं वाले सब आदमियों को और किसी बात का विचार किए बिना समान अवसर देना।

यह निस्संदेह सच है कि समान अवसर दिए जाने के बाद कुछ लोग अपनी नैसर्गिक योग्यता द्वारा औरों से बहुत आगे बढ़ जाएंगे। समान अवसर का अर्थ एक ही व्यवहार नहीं है।

## स्वाधीनता और समता में सम्बन्ध

यदि स्वाधीनता का अर्थ नैसर्गिक स्वाधीनता हो और समता का अर्थ व्यवहार, कार्य और पुरस्कार की अभिन्नता हो, तो स्वाधीनता और समता एक दूसरे के विरोधी होंगे। नैसर्गिक स्वाधीनता समता की विरोधी है क्योंकि यह सबके लिए समान नहीं हो सकती। इसी प्रकार सब व्यक्तियों की योग्यता अर्हता पर बिना विचार किए सीधी समानता का अर्थ वास्तव में योग्य व्यक्तियों को स्वाधीनता से वंचित करना होगा क्योंकि उस अवस्था में मूर्ख और बुद्धिमान को समान पुरस्कार मिलेगा पर जिन अर्थों में स्वाधीनता और समता शब्दों को नागरिक शास्त्र में प्रयुक्त किया जाता है, उन अर्थों में ये एक दूसरे की विरोधी नहीं। जन्म, धन-दौलत, मूलवंश, धर्म, जाति या वर्ण, रंग और लिंग पर आधारित मनुष्यकृत विषमताओं को हटाना और इन बातों का बिना विचार किए सब आदमियों को समान अवसर देना लोगों की स्वाधीनता में वृद्धि करता है। फिर, नागरिक शास्त्र में समता का जो अवधारण है उसका लक्ष्य उन लोगों को समान करना नहीं है जो निसर्गतः असमान हैं या जिनमें अलग-अलग अर्हताएं और योग्यताएं हैं। इसलिए इसका लक्ष्य वस्तुतः समर्थ लोगों की स्वाधीनता को कम करना नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वाधीनता और समता एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं।

## अपराध और दण्ड

अपराध और इनके दण्ड की समस्या सब युगों और सब देशों में रही है, चाहे वह काल या देश कितना ही अच्छा रहा हो। इसका कारण यह तथ्य है कि गलती

स्वाधीनता की शत्रु है। हम पहले ही देख चुके हैं कि नैसर्गिक स्वाधीनता कोई स्वाधीनता नहीं, क्योंकि यह अधिकतर काल्पनिक और अस्थायी है। यह सिर्फ थोड़े से लोगों के लिए है। जो चीज वास्तविक, स्थायी और पक्की है वह नागरिक स्वाधीनता है। विधि ही नागरिक स्वाधीनता को वास्तविक और स्थायी बनाती है। नागरिक स्वाधीनता सीमित प्रकार की स्वाधीनता हो सकती है और इसके अन्तर्गत वह सब आजादी है, जो मनुष्य और समाज के पूर्ण और चतुर्मुखी विकास के लिए वाञ्छनीय है। आदमी समाज और राज्य के सदस्य के रूप में जिन अनेक अधिकारों का उपभोग करता है, वे विधि की देन हैं। ये अधिकार आदमी को दूसरे लोगों के व्यक्तित्व के विकास में बिना बाधा डाले अपने व्यक्तित्व का विकास करने की पूरी स्वाधीनता देते हैं। विधि न हो तो आदमी के व्यक्तित्व का विकास तो हो ही नहीं सकता, उसके जीवन को भी हमेशा खतरा बना रहेगा। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विधि स्वाधीनता की मित्र है।

पर इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि विधि सदा स्वाधीनता की मित्र होती है। जहां सरकार और समाज का गठन सचमुच लोकतन्त्रीय होता है, वहा यह निश्चित रूप से स्वाधीनता की मित्र होती है, पर जिन देशों में सरकार अन्य-देशीय होती है, उनमें विधि स्वाधीनता की मित्र नहीं होती। विधि और स्वाधीनता का उन समाजों में भी मेल नहीं बैठता जहां शासन एक या कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में होता है।

विधि और स्वाधीनता के संबंध के प्रसंग में दो बातें और याद रखनी चाहिए; प्रथम तो विधि द्वारा नागरिकों पर लगाए गए अवरोध सब आदमियों के लिए समान होने चाहिए और पूर्ण निष्पक्षता से लागू किए जाने चाहिए। दूसरी बात यह कि ये अवरोध युक्तियुक्त होने चाहिए और समाज को उनके औचित्य का विश्वास होना चाहिए। ये बातें न होने पर विधि और स्वाधीनता में मेल नहीं रह सकता। उस अवस्था में लोग विधि को बार बार चुनौती देंगे।

## समता

समता एक और शब्द है जिसे प्रायः लोग गलत रूप में समझते हैं। यह कहना तो ठीक है कि सब मनुष्यों को जन्म से समान इन्द्रियां मिलती हैं। उनमें शारीरिक अंग, इच्छाएं, कामनाएं और मानसिक योग्यताएं भी एक-सी ही मालूम होती हैं। इसलिए इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सब आदमियों के साथ एक-सा व्यवहार होना चाहिए। पर समता का यह विचार अतिरंजित विचार है और इसका तथ्यों से मेल नहीं बैठता। संसार में कोई दो वस्तुएं एक-सी नहीं होतीं। मनुष्य भी *अपने शारीरिक और मानसिक गुणों में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इस प्रकार, हम* यह कह सकते हैं कि मनुष्यों में एक प्रकार की नैसर्गिक विषमता है। इन नैसर्गिक विषमताओं को दूर कर देना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, चाहे वह इसके लिए

कितना भी यत्न करे। पर नैर्सर्गिक विषमताओं के अलावा मनुष्यकृत विषमताएं भी है जिन्हें मनुष्यों द्वारा हटाया जा सकता है। जन्म, धन दौलत, मूलवंश, (race), धर्म, रंग, जाति या वर्ण, और लिंग के भेद भाव पर आधारित विषमताएं मनुष्यकृत विषमताएं है।

इस प्रकार नागरिक शास्त्र में जब हम समता की बात कहते हैं तब इससे हमारा अभिप्राय मनुष्यकृत विषमताओं को खतम करना ही होता है। नागरिक शास्त्र में हमारी गणना की अवधारणा यह मानकर चलती है कि प्रकृति द्वारा जनित विषमताएं सदा बनी रहेगी। समता शब्द को जिस रूप में अब हम समझते हैं, उसमें इसका अर्थ होगा :—

(१) विधि के समक्ष समता।

(२) एक-सी अर्हताओं वाले सब आदमियों को और किसी बात का विचार किए बिना समान अवसर देना।

यह निस्सदेह सच है कि समान अवसर दिए जाने के बाद कुछ लोग अपनी नैसर्गिक योग्यता द्वारा औरों से बहुत आगे बढ़ जाएंगे। समान अवसर का अर्थ एक ही व्यवहार नही है।

## स्वाधीनता और समता में सम्बन्ध

यदि स्वाधीनता का अर्थ नैसर्गिक स्वाधीनता हो और समता का अर्थ व्यवहार कार्य और पुरस्कार की अभिन्नता हो, तो स्वाधीनता और समता एक दूसरे के विरोधी होंगे। नैसर्गिक स्वाधीनता समता की विरोधी है क्योंकि यह सबके लिए समान नही हो सकती। इसी प्रकार सब व्यक्तियों की योग्यता अर्हता पर बिना विचार किए सीधी समानता का अर्थ वास्तव में योग्य व्यक्तियों को स्वाधीनता से वंचित करना होगा क्योंकि उस अवस्था में मूर्ख और बुद्धिमान को समान पुरस्कार मिलेगा पर जिन अर्थों में स्वाधीनता और समता शब्दों का नागरिक शास्त्र में प्रयुक्त किया जाता है, उन अर्थों में ये एक दूसरे की विरोधी नहीं। जन्म, धन-दौलत, मूलवंश, धर्म, जाति या वर्ण, रंग और लिंग पर आधारित मनुष्यकृत विषमताओं को हटाना और इन बातों का बिना विचार किए सब आदमियों को समान अवसर देना लोगों की स्वाधीनता में वृद्धि करता है। फिर, नागरिक शास्त्र में समता का जो अवधारण है उसका लक्ष्य उन लोगों को समान करना नहीं है जो निसर्गतः असमान है या जिनमें अलग-अलग अर्हताएं और योग्यताएं है। इसलिए इसका लक्ष्य वस्तुतः समर्थ लोगों की स्वाधीनता को कम करना नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वाधीनता और समता एक दूसरे की विरोधी नहीं है।

## अपराध और दण्ड

अपराध और इसके दण्ड की समस्या सब युगों और सब देशों में रही है, चाहे वह काल या देश कितना ही अच्छा रहा हो। इसका कारण यह तथ्य है कि गल्ती

करना मनुष्य का स्वभाव है। कभी-कभी अच्छे चरित्र और आदर्शो वाला आदमी भी अपराध कर देता है इसका कारण यह है कि औसत आदमी के लिए कानून के बारे में सब कुछ जानना कठिन है। पर कानून का अज्ञान कोई दलील नहीं। इसलिए जो आदमी भी अपराध करता है, चाहे वह जानते हुए करे या अनजाने हुए, उसे दण्डित होना पड़ेगा।

अपराध की समस्या से राज्य, समाज और व्यष्टि, सबका गहरा सम्बन्ध है। अपराध के बार-बार होने से राज्य के गौरव, समाज की शान्ति और व्यष्टि की स्वाधीनता की हानि पहुँचती है। इसके अलावा, अपराध की अधिकता इन तीनो पर कलंक है। यह कहा जा सकता है कि अपराधो को रोकने की जिम्मेदारी राज्य की है। पर हमें यह याद रखना चाहिए कि यदि समाज और व्यष्टि राज्य की सहायता न करें तो अकेला राज्य अपराध को नहीं रोक सकता।

अपराध किसे कहते हैं—राज्य की विधि का या सर्वोच्च प्रभु के समादेश (command) का अतिक्रमण अपराध कहलाता है। राज्य सर्वोच्च प्रभु के रूप में अपने सदस्यों की बाह्य क्रियाओं को विनियमित करने के लिए कुछ समादेश देता है। नियत सीमा से परे व्यष्टि का कोई भी कार्य निश्चित रूप से अपराध माना जाएगा।

पाप किसे कहते हैं—अपराध और पाप में अन्तर है। इन दोनो मे तीन भेद हैं।

(१) अपराध किसी विधि का अतिक्रमण है और पाप किसी नैतिक उपदेश का अतिक्रमण है।

(२) अपराध का परिणाम राज्य द्वारा शारीरिक दण्ड या जुर्माना होता है। अपराध करने पर इसी लोक में आदमी को दण्ड मिलता है। दूसरी ओर, यदि कोई पाप साथ ही कोई अपराध भी न हो तो उसका कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता। पाप का दण्ड परलोक से सम्बन्ध रखता है।

(३) यद्यपि अधिकतर अपराध पाप भी होते हैं, तो भी दोनो एक ही बात नहीं हैं। तेज मोटर चलाना अपराध हो सकता है, पर यह पाप नहीं।

अपराधों के कारण—सब अपराधो का मूल आनुवंशिकता (heredity) या वातावरण या दोनों के प्रभाव में ढूंढा जा सकता है। कुछ लोग जन्म से अपराध कर्त्ता होते हैं। उन्हें अपने माता-पिता से अपराध की प्रवृत्ति खून में ही मिलती है। कुछ लोग जन्म से अपराध करने वाले नहीं होते, पर बुरे वातावरण के प्रभाव से अपराधी बन जाते है। उनका पालन पोषण बुरा हो सकता है, या वे बुरी संगत या परिस्थितियों में पड गए हो सकते हैं। कुछ अपराधियों में दोनो प्रभाव काम कर रहे हो सकते हैं। इसलिए यह कहना गलत है कि अपराध अपराधी की प्रकृति के कारण ही होता है। दूसरी ओर, अपराधो के अनेक कारणो का सावधानी से विश्लेषण करने से हमें पता चलेगा कि वातावरण का प्रभाव आनुवंशिकता से

भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अधिकतर अपराधी अपने वातावरण के शिकार हो जाते हैं।

**आनुवंशिकता**—आनुवंशिकता अपराधियों के वंशजों में ही अपराध का कारण होती है। बच्चे में अपने अपराधी माता पिता से कुछ मानसिक और शारीरिक असामान्यताएं आती हैं। इन असामान्यताओं से बच्चे में भी अपराध की भावना का विकास होने में सुविधा होती है। पर यह कहना सही नहीं कि अपराधी का पुत्र हमेशा अपराधी ही होगा। अच्छे वातावरण में रहने में आनुवंशिक प्रभाव दबे रह सकते हैं।

**वातावरण**—वातावरण आदमी के जीवन में बचपन से लेकर बड़ी उम्र तक बहुत महत्त्वपूर्ण असर डालते हैं। प्रथम तो परिवारों में बच्चों के पालन-पोषण पर बहुत कुछ निर्भर है। लाड प्यार करने वाले माता पिता प्राय अपने बच्चे को बिगाड़ देते हैं। बच्चे पर बाहरी प्रभाव बहुत जल्दी पड़ता है और उसमें अनुकरण की प्रवृत्ति भी बहुत होती है। वह अपने माता-पिता की सब आदतें और क्रियाएं सीख लेता है। *यही कारण है कि अपराधी माता पिता के बच्चे मुश्किल से ही अच्छे नागरिक बन सकते हैं।*

दूसरे, वातावरण में वे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव भी शामिल हैं जो समाज व्यक्ति पर डालता है। सामाजिक रूढ़ियां का जुल्म, गंदी गरीब बस्तियों का जीवन, गरीबी और बेरोजगारी इन सबका परिणाम अपराध होता है। विधवा विवाह पर रोक, दहेज प्रथा और जात पाति के बन्धन सामाजिक अत्याचार के उदाहरण हैं। जब किसी आदमी को गरीबी भूख और उसके परिणामस्वरूप मौत का सामना करना पड़ता है, तब ही वह कोई भी अपराध कर सकता है। शराब पीने और जुआ खेलने की बुरी आदतें भी अपराध को बढ़ावा देती हैं। अन्तिम बात यह है कि किसी अन्यदेशीय सरकार की राजनैतिक अधीनता अच्छे से अच्छे लोगों से भी कानून भंग कराती है।

**दण्ड और उसके सिद्धान्त**—राज्य समाज में शांति रक्षा के लिये विधि के अतिक्रमण पर दण्ड देता है। यदि अपराधियों को दण्ड न दिया जाय तो व्यक्तियों के अधिकार और स्वाधीनता सुरक्षित नहीं रह सकते। फिर यदि अपराधों पर दण्ड *न दिया जाय तो दूसरे लोगों को अपराध करने के लिए बढ़ावा मिलेगा।* हमें याद रखना चाहिए कि अपराध की प्रवृत्ति हम सब में है पर हम दण्ड के भय से अपराध नहीं करते। यदि ऐसा भय न हो तो कोई भी अपराध करने में संकोच नहीं करेगा। सब लोग राज्य की सत्ता का निरादर करने लगेंगे और उसके गौरव को बड़ी हानि पहुँचेगी। इसलिए, विधि के अतिक्रमण पर दण्ड देना बिल्कुल आवश्यक है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि दण्ड की प्रकृति कैसी होनी चाहिए।

दण्ड की प्रकृति और प्रयोजन के बारे में तीन प्रमुख दृष्टिकोण या सिद्धान्त हैं —

(१) प्रतिशोधात्मक दण्ड का सिद्धान्त।

(२) प्रतिरोधक दण्ड का सिद्धान्त ।

(३) सुधारात्मक दण्ड का सिद्धान्त ।

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त—दण्ड के बारे में यह सबसे पुराना सिद्धान्त है। प्रतिशोध का अर्थ है बदला। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड देने के पीछे प्रयोजन यह था कि अपराधी द्वारा किए गये अपराध के लिए उससे बदला लिया जाय। आँख के बदले आँख, दांत के बदले दांत, का सूत्र इस सिद्धान्त के प्रयोजन को बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट करता है। पहले जमाने में, जब राज्य अभी शैशव अवस्था में ही था, अपराध एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध किया गया दोष माना जाता था और पीड़ित व्यक्ति को दूसरे से बदला लेने की आजादी थी। सैक्सन कालीन इंग्लैंड में हत्यारे को मृतक के आश्रितों को उसकी कीमत चुकानी पड़ती थी। धीरे-धीरे अपराध राज्य के विरुद्ध किया गया दोष भी माना जाने लगा। राज्य अपराधी को दण्ड देने लगा और पीड़ित व्यक्ति का कोई हाथ न रहा। राज्य के दण्ड के पीछे भी बदले का ही विचार था, क्योंकि अपराध को राज्य का अपमान माना जाता था। अपराधी को दण्ड देकर राज्य के लिए अपनी मर्यादा बनाए रखना जरूरी था।

प्रतिशोध वाला विचार राज्य द्वारा दिए गए दण्ड में आज भी मौजूद है। पर यह तथ्य देखते हुए कि आज राज्य मंगलकारी राज्य है, यह विचार प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। अपराधियों से बदला लेना राज्य को शोभा नहीं देता। बदला लेना अनैतिक है। राज्य सबका शुभचिन्तक है, इस नाते उसे अपराधियों के कल्याण पर भी विचार करना चाहिए। प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त अपराधी के कल्याण की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

प्रतिरोधक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य, सबसे पहले, अपराधी को वैसा अपराध या गुनाह करने से रोकना होना चाहिए। दूसरे, अपराधी को दिया गया दण्ड ऐसा होना चाहिए जो समाज के अन्य सदस्यों के दिल में भय पैदा करदे, या दूसरे शब्दों में, अपराधी को दिया गया दण्ड उदाहरण रूप होना चाहिए जिससे दूसरे लोग वह अपराध करने से डरें। पिछले जमाने में निर्दिष्ट या अपराधी को पत्थर आदि से मार कर खत्म कर डालने और सूली पर चढ़ाने जैसे दण्डों के पीछे और आजकल फांसी की सजा के पीछे यह प्रतिरोधक सिद्धान्त ही काम करता है। प्राचीन और मध्य कालीन युगों में अनेक प्रकार के अमानवीय दण्ड दिये जाते थे। सूली पर चढ़ाने और पत्थरों से मार डालने के अलावा कान, नाक, हाथ और पैर काट डालना, आँखें निकाल लेना, अपराधी को हाथी के पैरों तले कुचलवा देना, आदि पाशविक दण्ड दिये जाते थे, जो मनुष्य ने लोगों के मन में भय पैदा करने के लिए निकाले थे। ऐसे अधिकतर अमानवीय दण्ड आज के जमाने में नहीं हैं क्योंकि आज के जमाने में इन्हें सब जगह बुरा समझा जाता है।

प्रतिरोधक दण्ड के सिद्धान्त में ये कमियां हैं

१. इसके तर्क के अनुसार, यह होना चाहिए कि कोई अपराध जितनी अधिक बार होता हो उसकी सजा उतनी ही अधिक होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि यदि चोरियां हत्याओं की अपेक्षा अधिक होती हैं तो हत्याओं की अपेक्षा चोरियों के लिए अधिक दण्ड मिलना चाहिए। यह बात स्पष्ट तौर से बेहूदा है। हमें किसी अपराध की गम्भीरता में जिस अधिकार का अतिक्रमण किया गया है, उसके महत्त्व के अनुसार नापनी चाहिए। जीवन का अधिकार सम्पत्ति के अधिकार की अपेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हत्या के लिए बड़ी सजा होनी चाहिए।

२. इस प्रकार, यह सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि यदि एक बार कोई अपराध होता है तो और लोग भी वह अपराध करेंगे। पर ऐसा मान लेना अकारण है। कुछ अनिश्चित भयों से बचने मात्र के लिए अपराधी को भारी दण्ड देना न्याय विरुद्ध है।

३. प्रतिरोधक सिद्धान्त अपराध के लिए अपराध का सारा दोष अपराधी पर डालता है। यह अपराध में वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा करता है।

४. *यह सिद्धान्त एक अपराधी को एक साध्य का साधन बनाता है और वह* साध्य है दूसरों के सामने उदाहरण पेश करना। पर अपराधी को अपने आप में एक साध्य मानना चाहिए, किसी साध्य का साधन नहीं।

५. प्रतिरोधक दण्ड से अपराधी के और पक्का हो जाने की सम्भावना रहती है।

सुधारात्मक सिद्धान्त—अन्य दो सिद्धान्तों के मुकाबिले में यह सिद्धान्त मानव प्रकृति के विषय में अधिक आशावादी विचार रखता है। उसके अनुसार अधिकतर अपराधी प्रकृति से बुरे नहीं होते, बल्कि परिस्थितियों और वातावरण के कारण बुरे हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक अपराधी के कल्याण पर बल देते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, यदि कोई अपराधी बार-बार अपराध कार्य करके अन्यथा सिद्ध न कर दे तो उसे समाज के हाथ से निकल गया नहीं मानना चाहिए। यह कष्ट देने की बुराई करता है और अपराधी के लिए सहानुभूति रखने को कहता है। अपराधी को समाज के लिए फिर शान्तिपूर्ण नागरिक बनाने की कोशिश करनी चाहिए। यह सिद्धान्त अपराध को एक रोग मानता है और मरीज की तरह अपराधी का इलाज होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए जेलों की जगह हस्पताल और सुधारालय होने चाहिए। इस सिद्धान्त में तर्कसंगत विश्वास का यह अर्थ भी होगा कि एक अपराध का दण्ड दो अपराधियों के लिए एक होना आवश्यक नहीं। जिसने पहली बार अपराध किया है उससे, अभ्यस्त अपराधी की अपेक्षा, अधिक नरमी से बर्ताव होना चाहिए।

प्रतिरोधात्मक और प्रतिरोधक सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया के रूप में सुधारात्मक सिद्धान्त बड़ा स्वागत योग्य है। जेलों की अवस्थाओं में आमूलचूल परिवर्तन

(२) प्रतिरोधक दण्ड का सिद्धान्त ।

(३) सुधारात्मक दण्ड का सिद्धान्त ।

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त—दण्ड के बारे में यह सबसे पुराना सिद्धान्त है। प्रतिशोध का अर्थ है बदला। इस प्रकार उस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड देने के पीछे प्रयोजन यह था कि अपराधी द्वारा किए गये अपराध के लिए इससे बदला लिया जाय। आँख के बदले आँख, दांत के बदले दांत, का सूत्र इस सिद्धान्त के प्रयोजन को बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट करता है। पहले जमाने में, जब राज्य अभी शैशव अवस्था में ही था, अपराध एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध किया गया दोष माना जाता था और पीड़ित व्यक्ति को दूसरे से बदला लेने की आजादी थी। सैक्सन कालीन इंग्लैंड में हत्यारे को मृतक के आश्रितों को उसकी कीमत चुकानी पड़ती थी। धीरे-धीरे अपराध राज्य के विरुद्ध किया गया दोष भी माना जाने लगा। *राज्य अपराधी को दण्ड देने लगा और पीड़ित व्यक्ति का कोई हाथ न रहा।* राज्य के दण्ड के पीछे भी बदले का ही विचार था, क्योंकि अपराध को राज्य का अपमान माना जाता था। अपराधी को दण्ड देकर राज्य के लिए अपनी मर्यादा बनाए रखना जरूरी था।

प्रतिशोध वाला विचार राज्य द्वारा दिए गए दण्ड में आज भी मौजूद है। पर यह तथ्य देखते हुए कि आज राज्य मंगलकारी राज्य है, यह विचार प्रतिष्ठा *नहीं पा सकता। अपराधियों से बदला लेना राज्य को शोभा नहीं देता। बदला लेना* अनैतिक है। राज्य सबका शुभाकांक्षी है, इस नाते उसे अपराधियों के कल्याण पर भी विचार करना चाहिए। प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त अपराधी के कल्याण की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

प्रतिरोधक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का लक्ष्य, पहले, अपराधी को वैसा अपराध या गुनाह करने से रोकना होना चाहिए। दूसरे, अपराधी *को दिया गया दण्ड ऐसा होना चाहिए जो समाज के अन्य सदस्यों के दिल में भय पैदा* कर दे, या दूसरे शब्दों में, अपराधी को दिया गया दण्ड उदाहरण रूप होना चाहिए जिससे दूसरे लोग वह अपराध करने से डरें। पिछले जमाने में लिंचिंग या अपराधी को पत्थर आदि से मार कर खत्म कर डालने और सूली पर चढ़ाने जैसे दण्डों के पीछे और आजकल फांसी की सजा के पीछे यह प्रतिरोधक सिद्धान्त ही काम करता है। प्राचीन और मध्य कालीन युगों में अनेक प्रकार के अमानवीय दण्ड दिये जाते थे। सूली पर चढ़ाने और पत्थरों से मार डालने के अलावा कान, नाक, हाथ और पैर काट डालना, आँखें निकाल लेना, अपराधी को हाथी के पैरों तले कुचलवा देना, आदि पाशविक दण्ड दिये जाते थे, जो मनुष्य ने लोगों के मन में भय पैदा करने के लिए निकाले थे। ऐसे अधिकतर अमानवीय दण्ड आज के जमाने में नहीं हैं क्योंकि आज के जमाने में इन्हें सब जगह बुरा समझा जाता है।

प्रतिरोधक दण्ड के सिद्धान्त में ये कमियां हैं

१. इसके तर्क के अनुसार, यह होना चाहिए कि कोई अपराध जितनी अधिक बार होता हो उसकी सजा उतनी ही अधिक होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि यदि चोरियां हत्याओं की अपेक्षा अधिक होती हैं तो हत्याओं की अपेक्षा चोरियों के लिए अधिक दण्ड मिलना चाहिए। यह बात स्पष्ट तौर से बेहूदा है। हमें किसी अपराध की गम्भीरता में जिस अधिकार का अतिक्रमण किया गया है, उसके महत्त्व के अनुसार नापनी चाहिए। जीवन का अधिकार सम्पत्ति के अधिकार की अपेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए हत्या के लिए बड़ी सजा होनी चाहिए।

२. इस प्रकार, यह सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि यदि एक बार कोई अपराध होता है तो और लोग भी वह अपराध करेंगे। परन्तु ऐसा मान लेना अकारण है। कुछ अनिश्चित भयों से बचने मात्र के लिए अपराधी को भारी दण्ड देना न्याय विरुद्ध है।

३. प्रतिरोधक सिद्धान्त अपराध के लिए अपराध का सारा दोष अपराधी पर डालता है। यह अपराध में वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा करता है।

४. यह सिद्धान्त एक अपराधी को एक साध्य का साधन बनाता है और वह साध्य है दूसरों के सामने उदाहरण पेश करना। पर अपराधी को अपने आप में एक साध्य मानना चाहिए, किसी साध्य का साधन नहीं।

५. प्रतिरोधक दण्ड से अपराधी के और पक्का हो जाने की सम्भावना रहती है।

सुधारात्मक सिद्धान्त—अन्य दो सिद्धान्तों के मुकाबिले में यह सिद्धान्त मानव प्रकृति के विषय में अधिक आशावादी विचार रखता है। उसके अनुसार अधिकतर अपराधी प्रकृति से बुरे नहीं होते, बल्कि परिस्थितियों और वातावरण के कारण बुरे हो जाते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक अपराधी के कल्याण पर बल देते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई अपराधी बार बार अपराध कार्य करे अन्यथा सिद्ध न कर दे तो उस समाज के हाथ से निकल गया नहीं मानना चाहिए। यह कष्ट देने की बुराई करता है और अपराधी के लिए सहानुभूति रखने को कहता है। अपराधी को समाज के लिए फिर शान्तिपूर्ण नागरिक बनाने की कोशिश करनी चाहिए। यह सिद्धान्त अपराध को एक रोग मानता है और मरीज की तरह अपराधी का इलाज होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए जेलों की जगह हस्पताल और सुधारालय होने चाहिए। इस सिद्धान्त में तर्कसंगत विश्वास का यह अर्थ भी होगा कि एक अपराध का दण्ड दो अपराधियों के लिए एक होना आवश्यक नहीं। जिसने पहली बार अपराध किया है उससे, अभ्यस्त अपराधी की अपेक्षा, अधिक नरमी से बर्ताव होना चाहिए।

प्रतिशोधात्मक और प्रतिरोधक सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया के रूप में सुधारात्मक सिद्धान्त बड़ा स्वागत योग्य है। जेलों की अवस्थाओं में आमूलचूल परिवर्तन

होना चाहिए और उन्हें अधिक अच्छा बनाया जाना चाहिए। अपराधी को उसके जेल जीवन में उचित प्रशिक्षण द्वारा सुधारने की कोशिश करनी चाहिए। पर सुधारात्मक सिद्धान्त भी कमियों से रहित नहीं है।

१. सुधार निस्सन्देह दण्ड देने में एक महत्त्वपूर्ण घटक होना चाहिए, पर सुधार पर ही सारा जोर डालना समाज के हितों की उपेक्षा करना है। अपराधी अपने गैर-जिम्मेदार व्यवहार के लिए समाज के प्रति भी उत्तरदायी है।

२. यह भी याद रखना चाहिए कि यदि अपराधी में अपने को सुधारने की इच्छा न हो तो सुधार के प्रयत्नों से कोई नैतिक विकास नहीं हो सकता।

३. यह विश्वास कि वातावरण या समाज अपराध के लिए अधिक दोषी है, आक्षेप से रहित नहीं। इसका विरोधी विश्वास कि अपराध अधिकतर अपराधी की विकृत प्रकृति और अनुशासनहीनता का परिणाम है, उतना ही प्रबल है।

४ उसी अपराध के लिए अलग-अलग दण्ड देना व्यवहार्य नहीं। कानून सब के लिए एक होना चाहिए। तब जजों को अत्यधिक विवेकाधिकार देना पड़ेगा और वे प्रलोभनों में अधिक फँसने की स्थिति में होंगे।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि दण्ड के तीनों सिद्धान्तों में सचाई का कुछ-कुछ अंश है। दण्ड के सच्चे सिद्धान्तों में तीनों सिद्धान्तों का उचित मिश्रण होना चाहिए। दण्ड के निम्नलिखित लक्ष्य उचित होंगे

१. दण्ड प्रथम तो, अपराध का निवारक होना चाहिए, पर वह अमानवीय न होना चाहिए। अनावश्यक रूप से कठोर दण्ड अधिक पक्के अपराधी पैदा करने लगते हैं। दण्ड किए गये अपराध के अनुपात में होना चाहिए। यह अतिक्रमित किए गये अधिकार के महत्व के अनुसार होना चाहिए।

२. दण्ड को एक लक्ष्य का साधन मानना चाहिए। जो लक्ष्य सिद्ध करना अभीष्ट है, उसमें अपराधी का कल्याण और सार्वजनिक शान्ति बनाए रखना भी शामिल होना चाहिए। अपराधी का सुधार वैसा ही महत्त्वपूर्ण है, जैसा विधि व्यवस्था को बनाए रखना।

## सारांश

### विधि

**विधि का अर्थ और प्रकृति**—हालैण्ड ने राजनैतिक विधि की यह परिभाषा की है "बाहरी मानवीय क्रिया का वह व्यापक नियम, जो सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता द्वारा लागू किया जाता है।" इस प्रकार विधि राज्य का एक आदेश है जो उसकी सर्वोच्च सत्ता द्वारा समर्थित होता है। विधि के अतिक्रमण पर राज्य दण्ड देता है। राज्य के अलावा और कोई सत्ता विधि जारी नहीं कर सकती। स्वयं राज्य अपनी विधि से बद्ध नहीं होता।

**विधि के स्रोत**—रूढ़ि विधि के सबसे पुराने स्रोतों में से है। बहुत सी रूढ़ियाँ

आजकल के जमाने में रूढ़ि बन गई । हिन्दुओं मुसलमानों और ईसाइयों की विधियां उनकी धार्मिक पुस्तकों से निकली थीं। आज के जमाने में विधि की अस्पष्ट बातों पर न्यायालयों के विनिश्चय और विधान मण्डलों द्वारा अधिनियमित (enacted) संविधियां (statutes) विधि के मुख्य स्रोत हैं।

विधि के प्रकार विधियों का पहले इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है —

१. वैयक्तिक विधि, जो एक आदमी और दूसरे आदमी के सम्बन्धों को विनियमित करती है।

२. लोक विधि, जो व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों को विनियमित करती है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय विधि, जो एक राज्य और दूसरे राज्य के सम्बन्धों को विनियमित करती है।

लोक विधि का फिर यह वर्गीकरण किया जा सकता है

(१) सर्वधानिक विधि, (२) प्रशासनीय विधि, (३) दण्ड विधि।

**विधि और नैतिकता का सम्बन्ध, दोनों में भेद करने वाली बातें**—(१) विधि सिर्फ बाहरी कार्यों से सम्बन्ध रखती है। नैतिकता प्रेरक भावों और आशयों को भी देखती है।

(२) विधि के अतिक्रमण का परिणाम शारीरिक दण्ड या जुर्माना होता है। किसी अनैतिक कार्य की समाज द्वारा आलोचना भर की जा सकती। (३) विधि सुनिश्चित और स्वरूप में सार्वजनिक होती है। नैतिकता अस्पष्ट और वैयक्तिक होती है। (४) विधि सामयिक औचित्य के मानदण्ड के अनुसार चलती है। नैतिकता गलत और सही के निरपेक्ष मानदण्ड बनाती है।

**सम्बन्ध बताने वाली बातें**—(१) विधि और नैतिकता दोनों का उद्गम एक था। (२) राजनैतिक विधियों की स्थायिता उनके नैतिक होने पर भी निर्भर है। (३) विधियाँ भी प्रायः नैतिकता को लागू करती हैं।

**स्वाधीनता स्वाधीनता किसे कहते हैं**—नागरिक शास्त्र में स्वाधीनता से हमारा मतलब है सब कुछ करने की आजादी बशर्ते कि यह दूसरों की आजादी को हानि न पहुँचाये। इसका अर्थ अवरोध का अभाव नहीं है।

**स्वाधीनता के प्रकार**—(१) नैसर्गिक स्वाधीनता—अवरोध मुक्ति के अर्थ में जो स्वाधीनता होती है, वह नैसर्गिक स्वाधीनता कहलाती है। ऐसी स्वाधीनता समाज में सम्भव नहीं यह काल्पनिक, अवास्तविक और अस्थायी होती है। (२) नागरिक स्वाधीनता—यह वह स्वाधीनता है जो समाज में मनुष्य को प्राप्त होती है। यह वास्तविक, स्थायी और सबके लिए समान होती है, क्योंकि यह विधि द्वारा रक्षित होती है। (३) राजनैतिक स्वाधीनता—इसका अर्थ है सरकार चुनने और चलाने में हिस्सा लेने की आजादी (४) सांविधानिक स्वाधीनता। (५ आर्थिक स्वाधीनता-

इसका अर्थ है अभाव से छुटकारा। (६) राष्ट्रीय स्वाधीनता।

विधि और स्वाधीनता का सम्बन्ध—अपने शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से ये परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं। व्यष्टिवादी, अराजकतावादी और सिंडिकेलिस्ट यह मानते हैं कि स्वाधीनता और विधि में समन्वय नहीं किया जा सकता। पर वास्तव में विधि स्वाधीनता की मित्र है। विधि नैसर्गिक स्वाधीनता की शत्रु है पर यह अधिकारों के रूप में नागरिक स्वाधीनता की गारन्टी और रक्षा करती है। दूसरी ओर, डिक्टेटरशाही और साम्राज्यवादी राज्य की विधि स्वाधीनता की शत्रु होती है। विधि का स्वाधीनता से समन्वय करने के लिए यह आवश्यक है कि लोग विधि को युक्तियुक्त समझते हों और इसे पूर्ण निष्पक्षता से लागू किया जाना चाहिए।

समता—नागरिक शास्त्र में समता शब्द के ये अर्थ हैं —

(१) विधि के समक्ष समता। (२) एक-सी अर्हता के सब लोगों को जन्म धन-दौलत, कुलीनता, धर्म, रंग, जाति या वर्ण और लिंग पर बिना विचार किए समान अवसर देना।

निस्संदेह समान अवसर दिये जाने के बाद कुछ लोग अपनी नैसर्गिक योग्यता द्वारा औरों से आगे बढ़ जाएंगे। समान का अर्थ एक व्यवहार नहीं।

स्वाधीनता और समता का सम्बन्ध—शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से ये दोनों परस्पर विरोधी प्रतीत होंगी। पर समता के ऊपर बताये गये अर्थ को देखते हुए समता और नागरिक स्वाधीनता में कोई विरोध नहीं दिखाई देगा। तथ्य तो यह है कि समता का उपर्युक्त अवधारण उन बहुत अधिक लोगों के लिए स्वाधीनता को जन्म देता है, जो धन, जन्म, लिंग, कुलीनता आदि की निर्योग्यताएँ भोगते थे। दूसरी ओर, समता का हमारा अवधारण उन लोगों की स्वाधीनता से वंचित नहीं करता जिन्हें प्रकृति ने अधिक अच्छी स्थिति में रखा है।

अपराध और दंड—राज्य, समाज और व्यष्टि इन तीनों का अपराध की समस्या में गहरा वास्ता है। अपराध की अधिकता इन तीनों पर कलंक है।

अपराध किसे कहते हैं—राज्य की विधि के किसी अतिक्रमण को अपराध कहा जाता है। यद्यपि अधिकतर अपराध पाप भी होते हैं, तो भी दोनों बातें अभिन्न नहीं। पाप किसी नैतिक उपदेश के अतिक्रमण को कहते हैं। अपराध करने पर राज्य द्वारा इसी दुनिया में शारीरिक दण्ड दिया जाता है या जुर्माना किया जाता है। पाप का कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलता और इसका दण्ड परलोक में मिलता है।

अपराध के कारण—सब अपराधों का मूल आनुवंशिकता का या वातावरण का या दोनों का प्रभाव होता है। आनुवंशिकता अपराधियों के बच्चों की अवस्था में ही अपराध का कारण होती है। अधिकतर अपराधी अपने वातावरण के कारण अपराधी बनते हैं। बुरी सामाजिक रूढ़ियाँ, खराब आदतें, गरीबी और बेरोजगारी

लोगों को अपराध करने के लिए मजबूर करती है।

दण्ड और उसके सिद्धान्त—लोगों के अधिकारों और स्वाधीनता को सुरक्षित करने के लिए अपराध का दण्ड अवश्य दिया जाना चाहिए। दण्ड के तीन प्रमुख सिद्धान्त ये हैं —

१. प्रतिशोधात्मक दण्ड का सिद्धान्त—'आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत' के सूत्र से इसका प्रयोजन अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

२. प्रतिरोधक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड न केवल ऐसा होना चाहिए कि वह अपराधी को फिर वैसा ही अपराध करने से रोके बल्कि समाज के अन्य सदस्यों के मन में आतंक पैदा करने वाला भी होना चाहिए।

३. सुधारात्मक सिद्धान्त यह सिद्धान्त अपराध को रोग मानता है। और रोगों की तरह इसका भी इलाज होना चाहिए और जेलों की जगह हस्पताल और सुधारालय होने चाहिए।

इन सिद्धान्तों में से कोई भी अकेला काफी नहीं। इन सबमें सत्य का कुछ अंश है। उचित दण्ड ऐसा होना चाहिए कि वह अमानवीय न हो, पर अपराध को रोक दे। दण्ड का लक्ष्य अपराधी का कल्याण और सार्वजनिक शान्ति बनाए रखना, ये दोनों ही होने चाहिए।

## प्रश्न

## QUESTIONS

१. विधि की परिभाषा करो। इसके स्रोत और प्रकार कौन कौन से हैं?
(प० वि० १९५२)

1 Define 'Law' What are its sources and kinds?
(P U 1952)

२. विधि की परिभाषा करो। किसी नागरिक को अच्छी विधियां बनवाने और बुरी विधियां खत्म कराने के लिए कौनसे साधन अपनाने चाहिए।
(प० वि० सितम्बर, १९५१)

2 Define 'Law What means should a citizen adopt, to get good laws made and bad laws modified? (P U Sep 1951)

३. विधि और नैतिकता में क्या सबन्ध है?

3 What is the relation between law and morality

४. स्वाधीनता शब्द से आप क्या समझते हैं? विधि और स्वाधीनता में क्या सबन्ध है? (प० वि० १९५१)

4 What do you understand by the term 'Liberty'? What is the relation between 'Law and Liberty? (P U April 1951)

५ स्वाधीनता की परिभाषा करो। इसके कौन-कौन से प्रकार हैं?

5 Define 'Liberty'. What are its various kinds?

६ समता शब्द से आप क्या समझते हैं? समता और स्वाधीनता में क्या सम्बन्ध है?

अध्याय : १५

# सरकार—विधानांग, कार्यांग, न्यायांग

सरकार किसे कहते हैं—राज्य अमूर्त होता है और वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता। इसलिए इसे अपने काम कराने के लिए किसी मूर्त अभिकर्त्ता की जरूरत होती है। सरकार राज्य का वह अभिकर्त्ता है जिसके जरिये इसकी सत्ता का प्रकाशन होता है, और इसका प्रयोजन पूरा होता है। सरकार के विविध अंग इस काम में राज्य की सहायता करते हैं। राज्य की इच्छा विधानांग में रूप ग्रहण करती और अभिव्यक्त होती है। यह कार्यांग द्वारा अमल में लाई जाती है और न्यायांग द्वारा प्रवर्तित (enforced) कराई जाती है।

**सरकार के अंग**—आधुनिक सरकार के कार्य प्रायः तीन भागों में बंटे हुए हैं अर्थात् विधायक, कार्यात्मक और न्यायिक। इन तीन कार्यों के करने के लिए तीन ही अंग हैं। वे हैं विधानांग, कार्यांग और न्यायांग। जैसा ऊपर कहा गया है, विधानांग सरकार का वह अंग है जिसके जरिये राज्य की इच्छा रूप ग्रहण करती और अभिव्यक्त होती है। यह विधियां बनाता है। कार्यांग इन विधियों को लोगों पर लागू करने के लिए है। न्यायांग यह सुनिश्चित करने के लिए है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति इन विधियों का ठीक-ठीक पालन करे।

**विभिन्न अंगों का आपेक्षिक महत्त्व**—तीनों अंग अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से प्रत्येक शासन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इसके बावजूद शासन के विभिन्न रूपों में किसी एक अंग को सामान्यतः औरों से ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। निरंकुश राजतन्त्रों और तानाशाही शासनों में कार्यांग (राजा और तानाशाह) सर्वोच्च होते हैं। संघात्मक (Federation) के अतिरिक्त अन्य लोकतन्त्रों में विधानांग को ऊँची स्थिति प्राप्त होती है। संघानों में न्यायिक उच्चता का सिद्धान्त चलता है, यद्यपि स्विट्जरलैंड इस नियम का अपवाद है।

## विधानांग—विधानांग के कार्य

**विधान**—विधानांग का सबसे महत्त्वपूर्ण काम विधियाँ बनाना है। नई विधियाँ बनाने के अलावा विधानांग मौजूदा विधियों का संशोधन और निरसन (repeal) भी करता है। कार्यांग और न्यायांग विधानांग द्वारा बनाई गयी विधियों

को लागू करते हैं और उनका निर्वचन (Interpret) करते हैं। इस अर्थ में ही विधानांग सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। यदि विधियाँ बनायी न जाएं तो उन्हें लागू और प्रवर्तित कैसे किया जा सकता है। कुछ विधान मंडलों को, जैसे ब्रिटिश संसद, सांविधानिक विधि बनाने और संशोधित करने की भी शक्तियाँ हैं।

वित्त का नियन्त्रण—आधुनिक काल में विधानांग का दूसरा महत्त्वपूर्ण काम राज्य के वित्तों का नियंत्रण करना है। लोकतन्त्र के युग में यह स्वाभाविक बात है कि विधानमंडल में लोगों के जो प्रतिनिधि हैं, उनकी आवाज न केवल विधियाँ बनाने में, बल्कि वित्त में भी अंतिम होनी चाहिए। उन्हें ही यह निश्चय करना चाहिए कि वे कौन से कर देंगे और उनसे होने वाली आमदनी कैसे खर्च की जाएगी। इस प्रकार, सरकार के वार्षिक बजट पर विधान-मंडल विचार करता है और उसका अनुमोदन करता है। इसे नये कर लगाने और पुराने कर बदलने या खत्म करने की शक्ति होती है। कार्यांग के विविध विभागों के खर्च की मंजूरी भी यह देता है। इस प्रकार विधानांग का सरकार के रुपये पर पूरा नियंत्रण होता है।

कार्यांग पर नियंत्रण—लोकतंत्रों में कार्यांग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। शासन के राष्ट्रपतीय रूप में, जैसा कि यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में है, यह जिम्मेदारी प्रत्यक्ष है, पर शासन के संसदीय रूप में, जैसा कि भारत और इंग्लैंड में है, यह जिम्मेदारी विधानमंडलों में, जनता के प्रतिनिधियों की मारफत, परोक्ष है। विधान-मंडल मंत्रियों और उनके अधीन विभागों पर सख्त निगरानी रखता है। इसके सदस्यों को किसी भी मंत्री के विभाग के मामलों में आवश्यक पूछताछ करने के लिए उससे प्रश्न करने का अधिकार है। विधान मंडल मंत्रियों के आचरण की निंदा करके उनकी स्थापनाओं को अस्वीकार करके और उनके विरुद्ध सीधे अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें इस्तीफा देने को मजबूर कर सकता है।

अन्य कार्य—विधानमण्डल कुछ अन्य कार्य भी करता है, अर्थात् निर्वाचन संबंधी, न्यायिक और कार्यांगीय (Executive)। विधान मंडल अपने कार्य संचालन और कार्यवाही के लिए स्वयं अपने नियम बनाते हैं। वे अपने सदस्यों की अर्हता निर्धारित करते हैं, और चुनावों संबंधी विवादों का फैसला भी करते हैं। विधान मण्डलों को मंत्रियों पर महाभियोग लगाने (impeaching) और उनकी जाँच करने (trying) की शक्ति होती है और उन न्यायाधीशों को बर्खास्त करने की भी शक्ति होती है जो भ्रष्टाचार के दोषी पाए जाएँ। यूनाइटेड स्टेट्स में नियुक्तियों के मामले में और संधियों पर हस्ताक्षर करने में राष्ट्रपति के साथ-साथ सिनेट की भी शक्ति है। कुछ राज्यों में राज्य का अध्यक्ष भी विधान मण्डल द्वारा निर्वाचित होता है।

विधान मण्डल का गठन—विधान मण्डल एकसदनी या एकघरे और द्विसदनीय या दोघरे (unicameral or bicameral) होते हैं, अर्थात् उनमें एक

सदन या दो सदन होते हैं। आजकल अधिकतर विधान मण्डलों में दो सदन होते हैं, अर्थात् प्रथम सदन या लोक सभा और द्वितीय सदन या राज्य सभा।

द्वितीय सदन—द्वितीय सदन या तो आनुवंशिक या नामजद या निर्वाचित या अंशत नामजद और अंशत निर्वाचित होते हैं। इंग्लैण्ड की लार्ड सभा दुनिया का एकमात्र आनुवंशिक द्वितीय सदन है। विभिन्न देशों के दूसरे अधिकतर द्वितीय सदन अंशत परोक्ष निर्वाचन और अंशत नामजदगी से बने हुए हैं।

आनुवंशिक, नामजद और परोक्षत निर्वाचित द्वितीय सदनों को प्रथम सदनों की अपेक्षा, जो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होते हैं, कम शक्तियां होती हैं। यूनाइटेड स्टेट्स की सैनेट, जो द्वितीय सदन है, ऐसा एकमात्र द्वितीय सदन है, जिसे प्रथम सदन से अधिक शक्तियां प्राप्त हैं। इसका कारण यह है कि सैनेट प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित निकाय है, और वहां सरकार विधान मण्डल के प्रति उत्तर दायी नहीं।

द्वितीय सदनों के अंग प्रायः सामान्यतया स्थायी निकाय हैं। वे जहां नामजद और निर्वाचित हैं, वहां भी उनके सारे सदस्य कभी नये नहीं होते। प्रत्येक दो या तीन वर्ष बाद उनके एक तिहाई सदस्य बारी-बारी निवृत्त होते हैं और उनके स्थान पर नये सदस्य आ जाते हैं।

सब जगह द्वितीय सदन अधिक उम्र के लोगों का सदन भी है। द्वितीय सदन की सदस्यता के लिए अर्हता की आयु सामान्यतया प्रथम सदन वाली आयु की अपेक्षा ऊंची होती है।

प्रथम सदन—प्रथम सदन सब जगह एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। देश को निर्वाचन क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र विभिन्न देशों में प्रचलित चुनाव की विभिन्न रीतियों के अनुसार एक या अधिक सदस्य चुनता है। चुनाव दलीय आधार पर होते हैं। २५ वर्ष की या ऐसी ही आयु के सब नागरिकों को चुनाव में खड़े होने का अधिकार होता है। प्रथम सदनों की अवधि सामान्यतया ४ से ५ वर्ष तक होती है। उनके आकार भी अलग-अलग होते हैं पर सदन बहुत बड़ा न होना चाहिए। प्रथम सदन में किसी भी अवस्था में ५०० से अधिक सदस्य नहीं होने चाहिएं।

प्रथम सदन जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। इस नाते उसे द्वितीय सदन की अपेक्षा साधारणतया अधिक शक्तियां होती हैं। इसे धन संबंधी मामलों में प्राय अनन्य (exclusive) नियंत्रण प्राप्त होता है। जहां शासन में मंत्रिमण्डल प्रणाली प्रचलित है, वहां प्रधान मंत्री प्रथम सदन का सदस्य होता है। मंत्रिमण्डल दूसरे सदन की अपेक्षा इस सदन की इच्छाओं की अधिक परवाह करता है, क्योंकि यह जनता का प्रतिनिधि सदन है और मंत्रि परिषद इसके प्रति उत्तरदायी है।

इस पृष्ठभूमि में अब हम विधान मण्डल की एकसदनी और द्विसदनी प्रणालियों के गुण-दोषों पर विचार करेंगे।

बचाती है। यदि सिर्फ एक सदन हो तो सम्भव है कि वह शक्ति के मद में भर जाए। तब हो सकता है कि वह डिक्टेटर की तरह व्यवहार करे। इस प्रकार, यदि विधायक शक्ति को दो सदनों में बाँट दिया जाए तो जनता को अधिक स्वाधीनता प्राप्त होगी।

**निहित स्वार्थों के प्रतिनिधान के लिए आवश्यक**—कुलीन तंत्र या अल्पतंत्र से जब लोकतंत्र में परिवर्तन होता है, तब कुछ निहित स्वार्थों को प्रतिनिधान देने के लिए द्वितीय सदन की आवश्यकता होती है। बड़े-बड़े जमींदारों और उद्योगपतियों को, जिनके निहित स्वार्थ हैं कानून बनाने में जनता के प्रतिनिधियों के साथ साझी बना लेना चाहिए। इंग्लैण्ड में लार्ड सभा इसी तरह बनी।

**पेशों के आधार पर प्रतिनिधान के लिए आवश्यक है**--प्रथम सदन में प्रतिनिधान क्षेत्रीय आधार पर होता है पर प्रतिनिधान की यह विधि पेशेवार प्रतिनिधान के प्रतिपादकों को सन्तुष्ट नहीं करती। इस प्रकार, द्वितीय सदनों का विभिन्न पेशों, यथा किसानों, जमींदारों, पूँजीपतियों और मजदूरों, को प्रतिनिधान देने के लिए उपयोग किया जा सकता है।

**अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधान के लिए आवश्यक**—उन अल्पसंख्यकों को, जिन्हें आम चुनावों में प्रथम सदन में स्थान पाने का कोई मौका नहीं है, विशेष प्रतिनिधान दिया जा सकता है।

**द्वितीय सदनों के विपक्ष में युक्तियाँ**—द्विसदनी प्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया बढ़ती जाती है। कहा जाता है कि द्वितीय सदनों के लाभ सिर्फ ऊपरी और अवास्तविक हैं। द्वितीय सदन के विपक्ष में ये युक्तियाँ हैं —

**ये प्रतिक्रियावादी निकाय हैं**—कहा जाता है कि द्वितीय सदन प्रतिक्रियावादी निकाय होते हैं। उनमें साधारणतया रूढ़िवादी दृष्टिकोण के बड़ी उम्र के लोग या निहित स्वार्थों के प्रतिनिधि होते हैं। ये दोनों सामाजिक और आर्थिक जीवन में परिवर्तन का विरोध करते हैं और इस प्रकार प्रगति के मार्ग में बाधा बन जाते हैं।

**दो सदन होने से एकता नष्ट हो जाती है**—द्विसदनी विधान मण्डल उस घर के समान है जिसमें फूट पड़ी हुई हो। कहा जाता है कि दो सदन होने से बार-बार गतिरोध होते हैं। विधायक कार्यवाही असम्भव हो जाती है, और प्रगति रुक जाती है। लोगों के लिए अपनी इच्छा को एक रूप देना और उसे अभिव्यक्त करना भी कठिन हो जाता है।

**अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधान के लिए आवश्यक नहीं**—यदि अधिकार पत्र (Bill of rights) के रूप में अल्पसंख्यकों के हितों की संविधान में उचित रीति से रक्षा की गई हो तो उनके द्वितीय सदनों में प्रतिनिधान की जरूरत नहीं रहेगी।

**द्वितीय सदन व्यर्थ होते हैं**—अन्तिम बात यह है कि कहा जाता है कि द्वितीय

सदन बिल्कुल अनावश्यक होते हैं। उनकी जल्दबाजी में विधान बनाने से बचने के लिए भी आवश्यकता नहीं। विधेयक को विधि बनाने से पहले अनेक मंजिलों में से गुजरना पड़ता है और इस प्रकार पास होने में उसे बहुत समय लगता है। इसके कई पठन ( reading ) होते हैं और इस पर पूरी तरह चर्चा होती है। इसके अतिरिक्त, आजकल लोकमत विधान मण्डलों के ऊपर काफी नियंत्रण रखता है। एक सदन के जुल्म का भय भी इसी कारण नहीं होना चाहिए।

निष्कर्ष—द्वितीय सदनों के पक्ष में चाहे जो कुछ कहा जाए, पर अधिकतर राज्यों में द्विसदनी विधान मण्डल हैं। अब तक किसी राज्य ने अपने द्वितीय सदन को खत्म करने का गम्भीरता से विचार नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि द्वितीय सदन अवश्य कुछ उपयोगी कार्य कर रहे हैं। अब हम यह मानते हैं कि आदर्श द्वितीय सदन में निम्नलिखित बातें होनी चाहिए—

(१) द्वितीय सदन न तो सारा आनुवंशिक होना चाहिए और न सारा प्रत्यक्ष निर्वाचित। यह थोड़ा परोक्ष निर्वाचित और थोड़ा नामजद होना चाहिए। परोक्ष निर्वाचन इसे प्रथम सदन की अपेक्षा कमजोर बनाए रखेगा। नामजदगी से कुछ अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधान सुनिश्चित हो जाएगा और योग्य व्यक्तियों की सहायता मिल सकेगी।

(२) इसकी शक्तियाँ प्रथम सदन की शक्तियों के समान नहीं होनी चाहिए। यह मुख्यतः मंत्रणादाता और पुनरीक्षक ( Revising ) निकाय होना चाहिए।

(३) इसमें बड़ी उम्र के और अनुभवी लोग होने चाहिए।

सब विधान मण्डलों की कुछ सामान्य विशेषताएँ किसी विधान मण्डल की बैठक सारे साल नहीं होती। विधान मण्डलों के सत्र वर्ष में दो बार होते हैं। साधारणतया विधान मण्डल का आह्वान (Summoning), सत्रावसान (Prorogation) और विघटन राज्य के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। पर यूनाइटेड स्टेट्स और स्विट्जरलैंड में, संविधान-द्वारा निश्चित तिथियों पर उनकी बैठक होती है और वे अपने आपको विघटित कर लेते हैं। विधान मण्डल के प्रत्येक सदन में कार्यसंचालन एक सभापति या अध्यक्ष द्वारा किया जाता है जो साधारणतया स्वयं सदन द्वारा निर्वाचित होता है। सदन के सब सदस्य बोलने के लिए उसकी इजाजत लेते हैं, और वे अपने भाषण और प्रश्न उसे ही सम्बोधित करते हैं। तथ्य तो यह है कि सदन में कोई भी बात उसकी इजाजत के बिना नहीं की जा सकती।

सदन के कार्य-सञ्चालन के नियम साधारणतया सदन द्वारा ही बनाए जाते हैं। विधान मण्डल का प्रत्येक सदन अपने आप को समितियों के रूप में बाँट लेता है। जो कानून सदन में समक्ष विचार के लिए आते हैं वे बारीकी से जाँच करने के लिए इन समितियों को भेजे जाते हैं। इन समितियों में सदन के सब दलों को प्रतिनिधान मिलता है, पर समिति का सभापति साधारणतया बहुसंख्यक दल का होता है। सदन के विचार के लिए विधेयक कार्यपालिका द्वारा (जहाँ शासन की मंत्रिमंडलीय

प्रणाली है वहाँ) या इसके किसी सदस्य द्वारा पुरःस्थापित किए जा सकते हैं। सब विधेयकों के साधारणतया तीन पठन होते हैं। विधेयकों पर मतदान दलीय आधार पर होता है। यदि कोई विधेयक तीसरे पठन में पास हो जाता है, तो यदि दूसरा सदन है, तो यह उसे भेजा जाता है। अन्यथा यह सीधे ही राज्य के अध्यक्ष के पास हस्ताक्षर के लिए जाता है। उसके हस्ताक्षर के बाद कोई विधेयक अन्तिम रूप से विधि बन जाता है। विधान मण्डलों के सदस्यों को भाषण की स्वतन्त्रता और गिरफ्तारी से रक्षा आदि के रूप में कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त होते हैं।

## कार्यांग या कार्यपालिका

कार्यांग या कार्यपालिका की रचना—मोटे तौर से कहा जाए तो कार्यांग या कार्यपालिका में न्यायांग और विधानांग के अफसरों को छोड़ कर राज्य के और सब अफसर शामिल हैं। इस अर्थ में सरकार की प्रशासन शाखा के सब कर्मचारी—राजा या राष्ट्रपति से लेकर चपरासी तक सब के सब—कार्यांग या कार्यपालिका के अंग हैं। पर नागरिक शास्त्र में कार्यांग या कार्यपालिका शब्द राज्य के अध्यक्ष और उसके मन्त्रियों पर लागू होता है।

कार्यांग के प्ररूप—विविध राज्यों के कार्यांगों को निम्नलिखित रीति से वर्गबद्ध किया जा सकता है।

राजनैतिक और स्थायी—यह भेद सब राज्यों में कार्यांग के दो भागों पर लागू होता है। राज्य के अध्यक्ष या। और उसके मन्त्री राजनैतिक कार्यांग हैं। वे राजनैतिक कहे जाते हैं क्योंकि वे अधिकतर चुनाव के द्वारा ही पद ग्रहण करते हैं, और हर चुनाव पर बदलते रहते हैं। राज्य की नीतियाँ कार्यांग का यही भाग बनाता है।

स्थायी कार्यांग में विभिन्न कार्यपालक विभागों के स्थायी कर्मचारी होते हैं। कार्यांग के इस भाग को जानपद सेवा (Civil Service) भी कहते हैं। इसमें सचिव, अधीक्षक, सहायक और लिपिक या क्लर्क शामिल हैं। राजनैतिक कार्यांग द्वारा निर्धारित नीति को स्थायी कार्यपालिका व्यवहार में लाती है।

आनुवंशिक, निर्वाचित और नामजद—कार्यपालिकाओं में यह विभेद राज्य के अध्यक्ष को नियुक्त करने की विधियों पर आधारित है। यदि वह राजा है तो कार्यपालिका आनुवंशिक कहलाएगी। इंगलैण्ड में राजा आनुवंशिक होता है। यदि राज्य का अध्यक्ष प्रत्यक्षतः या परोक्षतः निर्वाचित होता है तो कार्यपालिका निर्वाचित होगी। जिस राज्य में कार्यपालिका का अध्यक्ष निर्वाचित होता है, वह गणराज्य कहलाता है। भारत एक गणराज्य है। राज्य का अध्यक्ष नामजद भी हो सकता है, जैसे उदाहरण के लिए कनाडा का गवर्नर जनरल। अंग्रेजों के जमाने में भारत का गवर्नरजनरल भी नामजद होता था।

वास्तविक और नाममात्र—यह प्रभेद शासन के संसदीय रूप की कार्यपालिका पर ही लागू होता है। इसमें राज्य का अध्यक्ष नाममात्र कार्यपालिका

होता है और मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका होता है। राज्य का अध्यक्ष, चाहे वह राजा हो या राष्ट्रपति, सिर्फ कागजी शक्तियाँ रखता है। शासन उसके नाम पर किया जाता है, पर कार्यपालिका की शक्तियों का प्रयोग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। इसलिए इस शासन प्रणाली में वास्तविक कर्ता-धर्ता उत्तरदायी मन्त्री होते हैं। राज्य के अध्यक्ष को कोई वास्तविक अधिकार नहीं होता। वह सिर्फ नाममात्र होता है।

**संसदीय और प्रधानीय या राष्ट्रपतीय**—यह प्रभेद कार्यपालिका और विधायिका के सम्बन्ध की प्रकृति पर आधारित है। यदि कार्यपालिका विधान मण्डल में से चुनी जाती है और अपने सब कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी है तो वह संसदीय कार्यपालिका कहलाती है। जहाँ शासन गणतन्त्रीय हो और कार्यपालिका विधान मण्डल के नियन्त्रण से आजाद हो, वहाँ वह प्रधानीय या राष्ट्रपतीय कार्यपालिका कहलाती है।

**एक शक्ति और बहुशक्ति**—यदि कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग की अन्तिम जिम्मेवारी एक आदमी पर हो तो वह एकशक्ति कार्यपालिका कहलाएगी। पर वास्तविक व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग कई व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, भारत में संघ सरकार की कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग की सारी जिम्मेवारी राष्ट्रपति की है, पर वास्तविक व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग केन्द्रीय सरकार के मन्त्री करते हैं। जहाँ कार्यपालिका की शक्तियों की अन्तिम जिम्मेवारी व्यक्तियों के किसी निकाय पर होती है, वहाँ कार्यपालिका बहुशक्ति कार्यपालिका कहलाएगी। स्विट्जरलैंड में संघानीय परिषद, यानी फेडरल कौंसिल, जिसमें सात आदमी होते हैं, बहुशक्ति कार्यपालिका का एक उदाहरण है।

**कार्यपालिका के कार्य**—एक राज्य और दूसरे राज्य के कार्यपालक कार्यों में कोई एकरूपता नहीं होती। मोटे तौर से कहा जाय तो कार्यपालिका निम्नलिखित कार्य करती है :—

**प्रशासन**—कार्यपालिका का मुख्य कार्य विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधियों को अमल में लाना है। इस प्रयोजन के लिए कार्यपालिका कई विभागों में बाँटी जाती है, और इनमें से प्रत्येक विभाग प्रशासन की एक शाखा के लिए जिम्मेवार होता है। कार्यपालिका पर यह देखने की भी जिम्मेवारी है कि कोई आदमी विधि का अतिक्रमण न करे। पुलिस, जिसका काम विधि-व्यवस्था कायम रखना है, कार्यपालिका का एक हिस्सा है। पुलिस अपराधियों को पकड़ती है, उनका चालान करती है और उन्हें उपयुक्त दण्ड के लिए न्यायपालिका के सामने उपस्थित करती है।

कार्यपालिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रशासनीय कार्य भीतरी तथा बाहरी मामलों में राज्य की नीति निर्धारित करना है।

कार्यपालिका अपने विभिन्न विभागों के सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति,

बरखास्तगी और दैनिक आचरण के नियम भी बनाती है।

**प्रतिरक्षा**—कार्यपालिका का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य के क्षेत्र और आबादी की विदेशी आक्रमणों की से रक्षा करना है। जो विभाग देश की प्रतिरक्षा की व्यवस्था करता है, वह प्रतिरक्षा और युद्ध विभाग कहलाता है। यह विभाग सेनाओं की संख्या और संगठन का निश्चय करता है, और जनरल तथा कमाण्डर नियुक्त करता है।

**विदेशी संबंध**—विदेशी मामलों से सम्बन्ध रखने वाले कार्य राजनयिक कार्य कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत युद्ध की घोषणा और राजनैतिक तथा वाणिज्यिक दोनों प्रकार की सधियों पर हस्ताक्षर करना भी शामिल है। अन्य राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाए रखने के लिए कार्यपालिका उनके साथ राजदूतों का विनिमय करती है। ऐसे मामलों से सम्बन्ध रखने वाले विभाग को परराष्ट्र विभाग कहते हैं।

**वित्तीय कार्य**—सब सरकारें अपने बहुत तरह के कार्यों की पूर्ति के लिए प्रति वर्ष बड़ी-बड़ी धनराशियां खर्च करती हैं। यह धन उन करों से आता है जो कार्यपालिका द्वारा विधान मण्डल की मंजूरी से लगाये जाते हैं। कार्यपालिका का वह विभाग, जो धन सम्बन्धी कार्य को संभालता है, वित्त विभाग कहलाता है। यह विभाग न केवल विभिन्न विभागों को धन बांटता है, बल्कि लेखा-परीक्षा (audit) द्वारा उनके व्यय को भी विनियमित और नियंत्रित करता है।

**विधायक कार्य**—विधान मण्डल का आह्वान, सत्रावसान और विघटन कार्यपालिका के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। शासन की मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली में विधियों के मसविदे कार्यपालिका के विभिन्न विभागों द्वारा बनाए जाते हैं और विधान मण्डल उनका सिर्फ अनुमोदन या निरनुमोदन (disapproval) कर देता है। कोई भी विधेयक विधि नहीं बन सकता यदि उस पर राज्य के अध्यक्ष के हस्ताक्षर न हों। इसके अलावा, जब विधान मण्डल का सत्र न चल रहा हो, तब विधि बनाने की शक्ति राज्य के अध्यक्ष के हाथ में होती है। कार्यपालिका द्वारा इस तरह बनाई गई विधियां अध्यादेश कहलाती हैं।

**न्यायिक कार्य**—न्यायाधीश कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। सब जगह राज्य के अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह न्यायालयों द्वारा यथाविधि दण्डित गए अपराधियों को क्षमा प्रदान कर सके। यह एक अर्थ में न्यायिक शक्ति है क्योंकि राज्य का अध्यक्ष क्षमा प्रदान करने में अपराधी पर दया दिखाता है, और मामले पर कानूनी आधार पर विचार नहीं करता।

## अच्छी कार्यपालिका के लिए आवश्यक गुण

१. कार्यपालिका में इच्छा की एकता होनी चाहिए और उसके फैसले दृढ़ होने चाहिए।

२. इसका कार्य त्वरित होना चाहिए।

होता है और मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका होता है। राज्य का अध्यक्ष, चाहे वह राजा हो या राष्ट्रपति, सिर्फ कागजी शक्तियाँ रखता है। शासन उसके नाम पर किया जाता है पर कार्यपालिका की शक्तियों का प्रयोग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल द्वारा किया जाता है। इसलिए इस शासन प्रणाली में वास्तविक कर्ता-धर्ता उत्तरदायी मन्त्री होते हैं। राज्य के अध्यक्ष को कोई वास्तविक अधिकार नहीं होता। वह सिर्फ नाममात्र होता है।

संसदीय और अध्यक्षीय या राष्ट्रपतीय—यह भेद कार्यपालिका और विधायिका के सम्बन्ध की प्रकृति पर आधारित है। यदि कार्यपालिका विधान मण्डल में से चुनी जाती है और अपने सब कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी है तो वह संसदीय कार्यपालिका कहलाती है। जहाँ शासन पृथक्करणीय हो और कार्यपालिका विधान मण्डल के नियन्त्रण से आजाद हो, वहाँ वह अध्यक्षीय या राष्ट्रपतीय कार्यपालिका कहलाती है।

एक-शक्ति और बहुशक्ति—यदि कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग की अन्तिम जिम्मेवारी एक आदमी पर हो तो वह एकशक्ति कार्यपालिका कहलाएगी। पर वास्तविक व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग कई व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, भारत में संघ सरकार की कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग की सारी जिम्मेवारी राष्ट्रपति की है, पर वास्तविक व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग केन्द्रीय सरकार के मन्त्री करते हैं। जहाँ कार्यपालिका की शक्तियों की अन्तिम जिम्मेवारी व्यक्तियों के किसी निकाय पर होती है, वहाँ कार्यपालिका बहुशक्ति कार्यपालिका कहलाएगी। स्विट्जरलैंड में सङ्घीय परिषद, यानी फेडरल कौंसिल, जिसमें सात आदमी होते हैं, बहुशक्ति कार्यपालिका का एक उदाहरण है।

कार्यपालिका के कार्य—एक राज्य और दूसरे राज्य के कार्यपालक कार्यों में कोई एकरूपता नहीं होती। मोटे तौर से कहा जाय तो कार्यपालिका निम्नलिखित कार्य करती है—

प्रशासन—कार्यपालिका का मुख्य कार्य विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधियों को अमल में लाना है। इस प्रयोजन के लिए कार्यपालिका कई विभागों में बाँटी जाती है, और इनमें से प्रत्येक विभाग प्रशासन की एक शाखा के लिए जिम्मेवार होता है। कार्यपालिका पर यह देखने की भी जिम्मेवारी है कि कोई आदमी विधि का अतिक्रमण न करे। पुलिस, जिसका काम विधि व्यवस्था कायम रखना है, कार्यपालिका का एक हिस्सा है। पुलिस अपराधियों को पकड़ती है, उनका चालान करती है और उन्हें उपयुक्त दण्ड के लिए न्यायपालिका के सामने उपस्थित करती है।

कार्यपालिका का दूसरा महत्वपूर्ण प्रशासनीय कार्य भीतरी तथा बाहरी मामलों में राज्य की नीति निर्धारित करना है।

कार्यपालिका अपने विभिन्न विभागों के सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति,

कर्मचारियों और दैनिक आचरण के नियम भी बनाती है।

**प्रतिरक्षा**—कार्यपालिका का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य के क्षेत्र और आबादी की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना है। जो विभाग देश की प्रतिरक्षा की व्यवस्था करता है, वह प्रतिरक्षा और युद्ध विभाग कहलाता है। यह विभाग सेनाओं के संख्या और संगठन का निश्चय करता है, और जनरल तथा कमाण्डर नियुक्त करता है।

**विदेशी संबंध**—विदेशी मामलों से सम्बन्ध रखने वाले कार्य राजनयिक कार्य कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत युद्ध की घोषणा और राजनैतिक तथा वाणिज्यिक दोनों प्रकार की संधियों पर हस्ताक्षर करना भी शामिल है। अन्य राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाए रखने के लिए कार्यपालिका उनके साथ राजदूतों का विनिमय करती है। इन मामलों से सम्बन्ध रखने वाले विभाग को परराष्ट्र विभाग कहते हैं।

**वित्तीय कार्य**—सब सरकारें अपने बहुत तरह के कार्यों की पूर्ति के लिए प्रति वर्ष बड़ी-बड़ी धनराशियाँ व्यय करती हैं। यह धन उन करों से आता है जो कार्यपालिका द्वारा विधान मण्डल की मंजूरी से लगाये जाते हैं। कार्यपालिका का वह विभाग, जो धन सम्बन्धी कार्य को सभालता है, वित्त विभाग कहलाता है। यह विभाग न केवल विभिन्न विभागों को धन बाँटता है, बल्कि लेखा-परीक्षा (audit) द्वारा उनके व्यय को भी विनियमित और नियंत्रित करता है।

**विधायक कार्य**—विधान मण्डल का आह्वान, सत्रावसान और विघटन कार्य पालिका के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। शासन की मंत्रिमण्डलीय प्रणाली में विधियों के मसविदे कार्यपालिका के विभिन्न विभागों द्वारा बनाए जाते हैं और विधान मण्डल उनका सिर्फ अनुमोदन या निरनुमोदन (disapproval) कर देता है। कोई भी विधेयक विधि नहीं बन सकता यदि उस पर राज्य के अध्यक्ष के हस्ताक्षर न हों। इसके अलावा, जब विधान मण्डल का सत्र न चल रहा हो, तब विधि बनाने की शक्ति राज्य के अध्यक्ष के हाथ में होती है। कार्यपालिका द्वारा इस तरह बनाई गई विधियाँ अध्यादेश कहलाती हैं।

**न्यायिक कार्य**—न्यायाधीश कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। सब जगह राज्य के अध्यक्ष को यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह न्यायालयों द्वारा यथा-विधि दण्डित गए अपराधियों को क्षमा प्रदान कर सके। यह एक अर्थ में न्यायिक शक्ति है क्योंकि राज्य का अध्यक्ष क्षमा प्रदान करने में अपराधी पर दया दिखाता है, और मामले पर कानूनी आधार पर विचार नहीं करता।

## अच्छी कार्यपालिका के लिए आवश्यक गुण

१. कार्यपालिका में इच्छा की एकता होनी चाहिए और उसके फैसले दृढ़ होने चाहिए।

२. इसका कार्य त्वरित होना चाहिए।

३. इसे अपने निर्णयों और आचरण के बारे में पूर्ण गोपनीयता रखनी चाहिए। वे लोगों को समय से पहले पता न चलने चाहिए।

४. कार्यपालिका को बहुत सी विवेकाधीन शक्तियाँ न देनी चाहिए। अन्यथा इसका परिणाम जुल्म होगा।

५. इसकी अवधि इतनी काफी लम्बी होनी चाहिए कि यह अपने काम में उचित दिलचस्पी ले सके।

६. अच्छी कार्यपालिका का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि वह विधियों को लागू करने में बिल्कुल ईमानदार और निष्पक्ष होनी चाहिए। कार्यपालिका को घूस न लेनी चाहिए या पक्षपात न करना चाहिए।

## न्यायपालिका या न्यायांग

अब न्याय कार्य एक मात्र राज्य का कार्य है। पर यह हमेशा ऐसा नहीं रहा। शुरू में राज्य के न्यायालय आदि के रूप में कोई न्यायिक अंग नहीं होते थे, और न्याय कार्य इसके कार्यों में नहीं माना जाता था। हानि उठाने वाला हानि करने वाले से खुद बदला लेता था। धीरे-धीरे ऐसा हुआ कि कोई दोष राज्य के विरुद्ध भी अपराध गिना जाने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे न्याय राज्य के एकाधिकार में आ गया।

न्यायपालिका का महत्व—हम ऐसे समाज की कल्पना कर सकते हैं जिसमें विधि बनाने वाले अंग न हों। वास्तविकता तो यह है कि पूर्णतया परिवर्धित विधान मण्डल अपेक्षया हाल ही में पैदा हुए हैं। वे ५०० या ६०० वर्ष से अधिक पुराने नहीं। विधान मण्डलों की अनुपस्थिति में न्यायालय रूढ़ियों या धार्मिक पुस्तकों के नियम लागू करते थे। इस प्रकार विधान मण्डल इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने न्यायालय। हम ऐसे सभ्य समाज की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें न्यायालय न हों, क्योंकि हम उनकी जगह किसी और सन्तोषजनक चीज की कल्पना नहीं कर सकते। लार्ड ब्राइस के कथन से न्यायपालिका का महत्व अनुभव हो जायगा। उसके अनुसार, 'किसी शासन की श्रेष्ठता की सबसे अच्छी कसौटी इसकी न्यायिक प्रणाली की दक्षता ही है क्योंकि कोई और चीज औसत नागरिक के कल्याण और सुरक्षा से इतना निकट सम्बन्ध नहीं रखती जितना निकट सम्बन्ध यह भावना रखती है कि वह सुनिश्चित और त्वरित न्याय पर भरोसा कर सकता है।'

## न्यायपालिका के कार्य

अपराधियों को दण्डित करती है और विधियों को सर्वाधित करती है—न्यायपालिका का पहला कार्य यह देखना है कि कोई व्यक्ति विधि का अतिक्रमण न करे। यह मौजूदा कानून को अपराध के अलग-अलग मामलों पर लागू करती है और सब कानून तोड़ने वालों को दण्ड देती है, पर किसी कानून को लागू करने में यह फैसला करना न्यायधीश का काम नहीं कि कोई कानून अच्छा है या बुरा, सख्त है या नरम।

उसे तो उसी रूप में कानून को मानना है, जिस रूप में वह है।

*जनता के अधिकारों की रक्षा करती है*—दूसरे यह देखना भी न्यायालयों का कर्तव्य है कि कार्यपालिका विधि को प्रवर्तित कराने में विधि की सीमाओं से परे न चली जाय। यदि वह उससे परे जाती है तो इसका अर्थ हुआ जनता की स्वाधीनता में हस्तक्षेप। न्यायपालिका का कर्तव्य है कि कार्यपालिका की ज्यादतियों से जनता के अधिकारों और स्वाधीनता की रक्षा करे।

नई विधियां बनाती है—विधि का विवेचन करते हुए न्यायपालिका प्राय नई विधि बना देती है। कभी-कभी किसी मामले की कोई खास अवस्था किसी कानून के मौजूदा उपबन्धों में किसी में नहीं आती। ऐसी परिस्थितियों में निकटतम उपबन्ध का निर्वचन इस तरह किया जाता है और उसे इस तरह विस्तृत कर दिया जाता है कि वह उस स्थिति पर लागू हो सके। *न्यायाधीश-निर्मित विधि* प्रत्येक राज्य की विधि प्रणाली का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

न्यायपालिका संविधान की पहरेदार है—जहां शासन का संघात्मक रूप है, वहां न्यायपालिका संविधान के पहरेदार के रूप में कार्य करती है। संघानीय और राज्य सरकारों की वे सब विधियां, जो संविधान के प्रतिकूल जाती हैं न्यायपालिका द्वारा शून्य और अप्रवृत्त घोषित कर दी जाती हैं।

न्यायिक के अलावा अन्य कार्य—बहुत बार न्यायालय कई ऐसे कार्य करते हैं, जो असल में न्यायिक नहीं होते। वे अनुज्ञप्तियां देते हैं, अभिभावक और न्यासी नियुक्त करते हैं, वसीयतें लेते हैं, तलाक मंजूर करते हैं, विवाह प्रमाणित करते हैं, और मृत व्यक्तियों की सम्पदाओं का उनके अवयस्कों के निमित्त प्रबन्ध करते हैं।

मंत्रणा देने सम्बन्धी कार्य—*कार्यपालिका विधि सम्बन्धी किसी प्रश्न पर* न्यायपालिका से परामर्श कर सकती है। ऐसी अवस्था में न्यायालय अन्वीक्षा (trial) की औपचारिकताओं में बिना गये विधि का अर्थ और अपेक्षाएँ घोषित करते हैं। पर ऐसी राय या मंत्रणा खुली अदालत में देनी होगी, गुप्त रूप में नहीं। भारत का उच्चतम न्यायालय मंत्रणा देने का कार्य करता है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता—हम यह देख चुके हैं कि न्यायपालिका विधि और व्यवस्था कायम रखने में तथा जनता की स्वाधीनता कायम रखने में महत्वपूर्ण हिस्सा लेती है। बहुत आवश्यक है कि न्याय जल्दी, दक्षता से और निष्पक्षता से हो। लार्ड ब्राइस ने बहुत ठीक कहा है कि "यदि न्याय-कार्य बेईमानी से किया जाय तो नमक का नमकीनपन ही जाता रहा। यदि उसे कमजोरी या सनक से लागू किया जाए *तो गारण्टियां या व्यवस्था बेकार हो जाती है, क्योंकि अपराधियों को दण्ड की* कठोरता से उतना नहीं दबाया जाता जितना उसकी निश्चितता से। यदि अंधेरे में दीपक बुझ जाए तो कितना अधिक अंधेरा हो जाएगा।" इस प्रकार न्याय को शीघ्र और निष्पक्ष करने के लिए *न्यायाधीश* कार्यपालिका और विधान मण्डल से स्वतन्त्र

३. इसे अपने विनिश्चयों और जाँच-पड़ताल के बारे में पूर्ण गोपनीयता रखनी चाहिए। वे लोगों को समय से पहले पता न चलने चाहिए।

४. कार्यपालिका को बहुत सी विवेकाधीन शक्तियाँ न देनी चाहिए। अन्यथा इसका परिणाम जुल्म होगा।

५. इसकी अवधि इतनी काफी लम्बी होनी चाहिए कि यह अपने काम में उचित दिलचस्पी ले सके।

६. अच्छी कार्यपालिका का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि वह विधियों को लागू करने में बिल्कुल ईमानदार और निष्पक्ष होनी चाहिए। कार्यपालिका को घूस न लेनी चाहिए या पक्षपात न करना चाहिए।

## न्यायपालिका या न्यायांग

अब न्याय कार्य एक मात्र राज्य का कार्य है। पर यह हमेशा ऐसा नहीं रहा। शुरू में राज्य के न्यायालय आदि के रूप में कोई न्यायिक अंग नहीं होते थे, और न्याय कार्य इसके कार्यों में नहीं माना जाता था। हानि उठाने वाला हानि करने वाले से खुद बदला लेता था। धीरे-धीरे ऐसा हुआ कि कोई दोष राज्य के विरुद्ध भी अपराध गिना जाने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे न्याय राज्य के एकाधिकार में आ गया।

**न्यायपालिका का महत्व**—हम ऐसे समाज की कल्पना कर सकते हैं जिसमें विधि बनाने वाले अंग न हों। वास्तविकता तो यह है कि पूर्णतया परिवर्धित विधान मण्डल अपेक्षया हाल ही में पैदा हुए हैं। वे ५०० या ६०० वर्ष से अधिक पुराने नहीं। विधान मण्डलों की अनुपस्थिति में न्यायालय रूढ़ियों या धार्मिक पुस्तकों के नियम लागू करते थे। इस प्रकार विधान मण्डल इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने न्यायालय। हम ऐसे सभ्य समाज की कल्पना नहीं कर सकते, जिसमें न्यायालय न हों, क्योंकि हम उनकी जगह किसी और सन्तोषजनक चीज की कल्पना नहीं कर सकते। लार्ड ब्राइस के कथन से न्यायपालिका का महत्व अनुभव हो जायगा। उनके अनुसार, 'किसी शासन की श्रेष्ठता की सबसे अच्छी कसौटी उसकी न्यायिक प्रणाली की दक्षता ही है क्योंकि कोई और चीज औसत नागरिक के कल्याण और सुरक्षा से इतना निकट सम्बन्ध नहीं रखती जितना निकट सम्बन्ध यह भावना रखती है कि वह सुनिश्चित और त्वरित न्याय पर भरोसा कर सकता है।'

## न्यायपालिका के कार्य

**अपराधियों को दण्डित करती है और विधियों को स्पष्ट करती है**—न्यायपालिका का पहला कार्य यह देखना है कि कोई व्यक्ति विधि का अतिक्रमण न करे। यह मौजूदा कानून को अपराध के अलग-अलग मामलों पर लागू करती है और सब कानून तोड़ने वालों को दण्ड देती है, पर किसी कानून को लागू करने में यह फैसला करना न्यायाधीश का काम नहीं कि कोई कानून अच्छा है या बुरा, सख्त है या नरम।

उसे तो उसी रूप में कानून को मानना है, जिस रूप में वह है।

जनता के अधिकारों की रक्षा करती है—दूसरे यह देखना भी न्यायालयों का कर्तव्य है कि कार्यपालिका विधि को प्रवर्तित कराने में विधि की सीमाओं से परे न चली जाय। यदि वह उससे परे जाती है तो इसका अर्थ हुआ जनता की स्वाधीनता में हस्तक्षेप। न्यायपालिका का कर्तव्य है कि कार्यपालिका की ज्यादतियों से जनता के अधिकारों और स्वाधीनता की रक्षा करे।

नई विधियां बनाती है—विधि का विवेचन करते हुए न्यायपालिका प्राय नई विधि बना देती है। कभी-कभी किसी मामले की कोई खास अवस्था किसी कानून के मौजूदा उपबंधों में किसी में नहीं आती। ऐसी परिस्थितियों में निकटतम उपबन्ध का निर्वचन इस तरह किया जाता है और उसे इस तरह विस्तृत कर दिया जाता है कि वह उस स्थिति पर लागू हो सके। न्यायाधीश-निर्मित विधि प्रत्येक राज्य की विधि प्रणाली का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

न्यायपालिका संविधान की पहरेदार है—जहां शासन का संघानीय रूप है, वहां न्यायपालिका संविधान के पहरेदार के रूप में कार्य करती है। संघानीय और राज्य सरकारों की वे सब विधियां, जो संविधान के प्रतिकूल जाती हैं न्यायपालिका द्वारा शून्य और अप्रवृत्त घोषित कर दी जाती हैं।

न्यायिक के अलावा अन्य कार्य—बहुत बार न्यायालय कई ऐसे कार्य करते हैं, जो असल में न्यायिक नहीं होते। वे अनुज्ञप्तियां देते हैं, अभिभावक और न्यासी नियुक्त करते हैं वसीयतें ख्ते हैं, तलाक मंजूर करते हैं, विवाह प्रमाणित करते हैं, और मृत व्यक्तियों की सम्पदाओं का उनके अवयस्कों के निमित्त प्रबन्ध करते हैं।

मंत्रणा देने सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका विधि सम्बन्धी किसी प्रश्न पर न्यायपालिका से परामर्श कर सकती है। ऐसी अवस्था में न्यायालय अनौपचारिक (राय) की औपचारिकताओं में बिना पड़े विधि का अर्थ और अपेक्षाएं घोषित करते हैं। पर ऐसी राय या मंत्रणा खुली अदालत में देनी होगी, गुप्त रूप में नहीं। भारत का उच्चतम न्यायालय मंत्रणा देने का कार्य करता है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता—हम यह देख चुके हैं कि न्यायपालिका विधि और व्यवस्था कायम रखने में तथा जनता की स्वाधीनता कायम रखने में महत्वपूर्ण हिस्सा लेती है। बहुत आवश्यक है कि न्याय जल्दी, दक्षता से और निष्पक्षता से हो। लार्ड ब्राइस ने बहुत ठीक कहा है कि 'यदि न्याय-कार्य बेईमानी से किया जाय तो नमक का नमकीनपन ही जाता रहा। यदि उसे कमजोरी या सनक से लागू किया जाए, तो गारंटियां या व्यवस्था बेकार हो जाती हैं, क्योंकि अपराधियों को दण्ड की कठोरता से उतना नहीं दबाया जाता जितना उसकी निश्चितता से। यदि अंधेरे में दीपक बुझ जाए तो कितना अधिक अंधेरा हो जाएगा।" इस प्रकार न्याय को शीघ्र और निष्पक्ष करने के लिए न्यायाधीश कार्यपालिका और विधान मण्डल से स्वतन्त्र

**इस सिद्धान्त का मूल्य**—मौनतेस्क्यू का यह कहना सही है कि दो या तीन शक्तियों को एक जगह इकट्ठा कर देना जनता की स्वाधीनता के लिए अहित-कर है। दूसरे, आज के जमाने में शासन कार्य की सब शाखाओं में विशेषीकृत ज्ञान की जरूरत होती है। इस प्रकार शक्तियों और कार्यों का पृथक्करण शासन की दक्षता के लिए भी आवश्यक है।

पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ जब हम शक्तियों के पृथक्करण की बात कहते हैं, तब हमारा आशय बहुत अधिक पृथक्करण से नहीं होता, बल्कि मध्यम पृथक्करण से होता है। मध्यम पृथक्करण का मतलब यह है कि सरकार की तीनों शाखाओं में, जहाँ तक दक्षता के लिए आवश्यक है वहाँ तक, सहयोग रहे। अन्य मामलों में, जहाँ इनमें पृथक्करण वाञ्छनीय है, तीनों अंग एक दूसरे पर रोक के रूप में कार्य कर सकते हैं।

**आलोचना**—शक्तियों के अत्यधिक पृथक्करण के सिद्धान्त की अनेक प्रकार से आलोचना हुई है और आज के जमाने में इसे पसंद नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त पर निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई जाती हैं—

**अत्यधिक पृथक्करण वाञ्छनीय नहीं**—मौनतेस्क्यू ने तीनों शक्तियों का जैसा पृथक्करण किया है, वैसा सरकार के दक्ष सञ्चालन की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं। कुछ पृथक्करण तो दक्षता बढ़ाता है, पर पूर्ण पृथक्करण का परिणाम इसके विपरीत होता है। यह शासन यन्त्र को ठप कर देता है।

**अत्यधिक पृथक्करण असम्भव है**—अत्यधिक पृथक्करण न केवल अवाञ्छनीय है बल्कि यह असम्भव भी है। सरकार एक इकाई है और इसके कार्यों को एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् भागों में बाँट देना असम्भव है।

**अत्यधिक विभाजन कहीं नहीं है**—वास्तविक व्यवहार में शासन के तीनों अंगों में पूर्ण पृथकता कहीं नहीं है। आधुनिक काल में अधिकतर देशों में शासन की मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली है और इस प्रणाली में कार्यांग और विधानांग निकट सहयोग से काम करते हैं। यूनाइटेड स्टेट्स ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण राज्य है, जहाँ शासन शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित कहा जा सकता है। पर यूनाइटेड स्टेट्स में कार्यांग और विधानांग में पूर्ण पृथक्करण नहीं है। तथ्य तो यह है कि मौनतेस्क्यू ने स्वयं अपने इंग्लैण्ड-निवास में इंग्लिश संविधान को गलत रूप में पढ़ा। वहाँ उसके समय भी मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली प्रचलित थी और मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली मौनतेस्क्यू द्वारा सोचे गए शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का निषेध है।

**तीनों अंगों में समता नहीं**—शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त इस कल्पना पर आधारित है कि शासन के तीनों अंग प्रतिष्ठा और शक्ति में समान हैं, पर उनकी समानता सिद्धान्त रूप में ही है। साधारणतया व्यवहार में आजकल विधानांग को अन्य दोनों अंगों से ऊँचा स्थान प्राप्त है।

यह सिद्धान्त पुराना पड़ गया—शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त पुराना पड़ चुका है। यह आजकल के संविधानशास्त्रियों को पसंद नहीं। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाएगी कि पिछले १०० वर्षों में बहुत अधिक संविधान मंत्रिमंडलीय शासन के नमूने पर बनाए गये हैं। दूसरी बात यह कि शासन के किसी अंग द्वारा अपनी शक्ति के दुरुपयोग करने पर प्रबुद्ध लोकमत मौंतेस्क्यू द्वारा सुझाई गई रोकों की अपेक्षा अधिक अच्छी रोक लगा सकता है।

## सारांश

**सरकार किसे कहते हैं**—सरकार राज्य की वह अभिकर्ता है जिसके द्वारा इसके प्राधिकार का प्रयोग होता है और इसका प्रयोजन पूरा किया जाता है।

**सरकार के अंग**—आज के जमाने में प्रत्येक सरकार के तीन अंग होते हैं (१) विधायिका या विधानांग वह अंग है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा रूप ग्रहण करती है और विधियों के रूप में अभिव्यक्त होती है। (२) कार्यांग या कार्यपालिका विधायिका द्वारा बनाई गई विधियों को लागू करती है। (३) न्यायांग या न्यायपालिका यह देखती है कि प्रत्येक व्यक्ति इन विधियों का ठीक-ठीक पालन करे। अपने-अपने स्थान में ये तीनों अंग महत्त्वपूर्ण हैं, पर लोकतंत्रों में (कुछ संघातों को छोड़ कर) विधायिका को ऊँची स्थिति प्राप्त है। संघातों में प्रायः न्यायिक सर्वोच्चता का सिद्धान्त लागू किया जाता है।

## विधायिका

**विधायिका के कार्य**—(१) नई विधियाँ बनाना और प्रचलित विधियों को संशोधित या निरस्त करना। (२) राज्य के वित्तों का नियंत्रण करना। (३) शासन के संसदीय रूप में कार्यपालिका का नियंत्रण करना। (४) अपने कार्य-संचालन और कार्यवाही के लिए नियम बनाना। (५) अपने सदस्यों की अर्हताएं निर्धारित करना। (६) राजद्रोह के अपराधी मंत्रियों और अन्य अधिकारियों पर महाभियोग लगाना। (७) भ्रष्ट न्यायाधीशों की बर्खास्तगी का समर्थन करना।

**विधानमंडल का गठन**—आजकल अधिकतर विधानमण्डल दो सदनों वाले होते हैं। द्वितीय सदन और प्रथम सदन। द्वितीय सदन आनुवंशिक या नामजद या निर्वाचित या अंशतः नामजद और अंशतः निर्वाचित होते हैं। जो विधानमंडल प्रत्यक्ष निर्वाचित होते हैं, उन्हें छोड़कर दूसरे द्वितीय सदनों को साधारणतया प्रथम सदन या लोकसभा की अपेक्षा कम शक्तियाँ होती हैं। प्रथम सदन या लोकसभाएं सब जगह जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित होती हैं। यदि मंत्री विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी हैं तो वे प्रथम सदन के प्रति ही अपनी जिम्मेदारी अनुभव करते हैं। प्रथम सदनों को साधारणतया धन संबंधी मामलों में अनन्य नियंत्रण होता है।

**द्वितीय सदनों की उपयोगिता**—द्वितीय सदनों की उपयोगिता पर प्रायः

## न्यायपालिका या न्यायांग

जनसाधारण की दृष्टि से न्यायपालिका सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। औसत व्यक्ति सरकार की श्रेष्ठता का फैसला इसकी न्यायपालिका से करता है।

**न्यायपालिका के कार्य**—(१) अपराधियों को दण्ड देकर यह जनता से कानूनों का आदर कराती है। (२) यह कार्यपालिका के अनुचित हस्तक्षेप से जनता के अधिकारों की रक्षा करती है। (३) अस्पष्ट विधियों के निर्वचन द्वारा यह नई विधियों को जन्म देती है, जो न्यायाधीश-निर्मित विधि कहलाती है। (४) संघों में न्यायपालिका संविधान के पहरेदार या रक्षक के रूप में काम करती है। (५) विधि सम्बन्धी मामलों में कार्यपालिका के सलाह माँगने पर न्यायपालिका उसे सलाह देती है।

**न्यायपालिका की स्वतन्त्रता**—न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने के लिए निम्नलिखित बातें करनी आवश्यक हैं—(१) न्यायाधीश वकीलों में से छाँटने चाहिएँ। (२) वे नामजद होने चाहिएँ, निर्वाचित नहीं। (३) वे सदाचरण-पर्यन्त अपने पदों पर रहने चाहिएँ और उनकी बर्खास्तगी अकेली कार्यपालिका या विधायिका के हाथ में नहीं होनी चाहिए। (४) उन्हें अच्छा वेतन मिलना चाहिए, और उनके पदधारण काल में उनका वेतन घटाया नहीं जाना चाहिए।

## शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के साथ एक फ्रेंच दार्शनिक मोन्तेस्क्यू का नाम जुड़ा हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार, शासन की तीनों शक्तियाँ एक जगह इकट्ठी हो जाने से जुल्म आता है और उनके पृथक्करण से स्वाधीनता आती है। जनता की स्वाधीनता उस अवस्था में अधिक होगी, यदि प्रत्येक अंग अन्य अंगों के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहता हुआ अपने लिए निर्धारित क्षेत्र में अपनी शक्ति का प्रयोग करे।

**सिद्धान्त का मूल्य**—मोन्तेस्क्यू का यह कहना सही है कि दो या तीन शक्तियों का इकट्ठा हो जाना जनता की स्वाधीनता के लिए अहितकर है। आजकल शासन की दक्षता के लिए यह भी आवश्यक है कि शक्तियों और कार्यों का पृथक्करण हो। पर हमारा आशय सिर्फ मध्यम दर्जे के पृथक्करण से है, पूर्ण पृथक्करण से नहीं। मध्यम दर्जे के पृथक्करण में यह बात आ जाती है कि दक्षता के लिए जहाँ तक आवश्यक है वहाँ तक तीनों शाखाओं में सहयोग हो।

**आलोचना**—(१) अत्यधिक पृथक्करण वांछनीय नहीं। (२) अत्यधिक पृथक्करण असंभव है। (३) अत्यधिक पृथक्करण कहीं नहीं है। (४) तीनों अंगों में कोई समानता नहीं है। (५) यह सिद्धान्त अब पुराना पड़ गया है।

### प्रश्न

१. शासन के मुख्य अंग कौन से हैं? उनके अपने-अपने कार्य बताइए।
(प० वि० अप्रैल, १९४८ और अप्रैल, १९५३)

1. What are the chief organs of Government ? Describe their respective functions (P U. April 1948 and April 1953)

२. सरकार के विभिन्न अंग कौन-कौन से हैं ? उनमें क्या-क्या सम्बन्ध है ?
(पं० वि० सितम्बर, १९५१)

2 What are the different organs of Government ? What is *the relationship between them ?* (P U Sept, 1951)

३ द्विसदनी विधानमण्डल के पक्ष और विपक्ष में क्या-क्या युक्तियाँ हैं ?

3 What are the arguments for and against a bicameral system of legislature ?

४. कार्यपालिका के कार्य और प्रकार क्या-क्या है ?

4- What are the functions and kinds of executive ?

५. लोकतन्त्रीय राज्य में न्यायपालिका के क्या-क्या कार्य हैं ? न्यायपालिका का गठन कैसे होना चाहिए ? इसकी शक्तियाँ क्या होनी चाहिए ?
(प० वि० सितम्बर, १९५३)

5 Describe the functions of the Judiciary in a democratic state ? How should the judiciary be constituted ? What should be its powers ? (P U Sept , 1953)

६. शक्तियों के पृथक्करण का क्या अर्थ है ? किसी सभ्य राज्य में स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना क्यों आवश्यक है ? (प० वि० अप्रैल, १९५२) ।

6. What is meant by 'Separation of Powers' ? Why is an *independent judiciary necessary in a civilised state ?*
(P U April, 1952)

७. शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

7. Critically examine the theory of separation of powers

८. न्यायपालिका का कार्यपालिका और विधायिका से क्या सम्बन्ध होना चाहिए ?

8 What should be the relations of the judiciary with the executive and legislature ?

९. लोकतन्त्रीय राज्य में कार्यपालिका के मुख्य कार्य क्या हैं ? विधान मण्डल के साथ इसके क्या सम्बन्ध हैं ?

9 What are the main functions of the executive in a democratic state ? Describe its relations with the legislature.

अध्याय : १६

# सरकार के रूप—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, लोकतन्त्र, और अधिनायकतन्त्र

पुराना वर्गीकरण—राजनीति विज्ञान के पिता अरस्तू ने सरकारों का वर्गीकरण उन व्यक्तियों की संख्या के अनुसार किया था जिनमें राज्य की सर्वोच्चता की शक्ति निहित होती थी।

इस सिद्धान्त के अनुसार सरकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया गया था—

(१) राजतन्त्र—सर्वोच्च अधिकार एक व्यक्ति में निहित होता था।

(२) कुलीनतन्त्र—सर्वोच्च सत्ता कई (सर्वोत्तम) व्यक्तियों में निहित होती थी।

(३) बहुतन्त्र (Polity)—सर्वोच्च सत्ता बहुत से व्यक्तियों में निहित होती थी।

अरस्तू के अनुसार उपर्युक्त तीन रूप शासन के शुद्ध या सामान्य रूप थे, क्योंकि उनमें एक, कई या बहुत से व्यक्ति सर्वहित की दृष्टि से शासन करते थे। पर इन तीनों में से प्रत्येक रूप का एक भ्रष्ट या विकृत रूप भी था। जब शासन सत्ताधिकारियों के अपने शुद्ध स्वार्थों के लाभ के लिए चलाया जाता था, तब राजतंत्र, कुलीनतंत्र और बहुतन्त्र बिगड़ कर अत्याचारी शासन अल्पतंत्र और लोकतंत्र का रूप ले लेता था। इस प्रकार अरस्तू के अनुसार तीन शुद्ध या सामान्य रूप और तीन भ्रष्ट या विकृत रूप हैं।

| शुद्ध रूप | विकृत रूप |
|---|---|
| (१) राजतन्त्र | (१) अत्याचारी शासन |
| (२) कुलीनतन्त्र | (२) अल्पतन्त्र |
| (३) बहुतन्त्र | (३) लोकतन्त्र |

अरस्तू का यह वर्गीकरण आधुनिक दशाओं के साथ मेल नहीं खाता। आजकल *लोकतन्त्र शासन को सबसे अच्छा और सबसे अधिक पसन्द किया जाने वाला* रूप समझा जाता है। पर अरस्तू ने इसे एक विकृत रूप बतलाया था। इसका अर्थ यह हुआ कि अरस्तू की दृष्टि में न तो इंगलैंड में मौजूदा शासन अच्छा माना जाएगा

और न अमरीका में। आजकल के किसी भी सभ्य देश में सर्वोच्चता किसी एक व्यक्ति या छोटे से वर्ग में निहित नहीं। इंग्लिस्तान में रानी है, पर इस तथ्य से अरस्तू के वास्तविक वर्गीकरण का कोई निर्देश नहीं मिलता और यह आज की सरकारों पर लागू नहीं किया जा सकता।

वर्गीकरण—आज के जमाने में हम सरकारों के दो मोटे भाग कर सकते हैं—

(१) लोकतन्त्र

(२) अधिनायक तन्त्र

चूंकि अधिकतर राज्यों में शासन का लोकतन्त्रीय रूप है और चूंकि वे गठन में एक दूसरे से भिन्न हैं इसलिए लोकतन्त्रों को भी आगे तीन शीर्षकों में रखा जा सकता है—

(१) यह सांवैधानिक राजतन्त्र है या गणतन्त्र ?

(२) यह शासन का ससदीय रूप है अथवा प्रधानीय या राष्ट्रपतीय रूप है ?

(३) यह एकीय (Unitary) रूप है या सविधानीय रूप है।

पर यह याद रखना चाहिए कि कोई सरकार ससदीय और एकीय दोनों हुई भी सांवैधानिक राजतन्त्र हो सकती है। इंग्लैंड में राज्य की अध्यक्ष रानी है, पर उसमें कार्यपालिका ससदीय है और शासन एकीय है। दूसरी ओर, कोई सरकार एक ही समय लोकतन्त्र और अधिनायक तन्त्र नहीं हो सकती। इसी तरह यह एक ही समय प्रधानीय या राष्ट्रपतीय और ससदीय दोनों नहीं हो सकती।

अब हम पुराने वर्गीकरण में से सिर्फ राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र पर तथा नए वर्गीकरण के सब रूपों पर विचार करेंगे।

राजतन्त्र—राजतन्त्र से अरस्तू का आशय राज्य के लोगों के आम हित की दृष्टि से किए जाने वाले एक व्यक्ति के निरकुश शासन से था। राजतन्त्र आनुवंशिक या निर्वाचित या इन दोनों का मेल हो सकता है, पर अधिकतर राजतन्त्र आनुवंशिक ही हुए हैं।

राजतन्त्रों में एक और भेद यह हो गया है कि वे निरकुश राजतन्त्र हो सकते हैं या सवैधानिक राजतन्त्र हो सकते हैं। पूर्ण राजतन्त्र का राजा राज्य के पूर्ण अधिकार का प्रयोग करता है। उनकी इच्छा ही विधि है। भारत में चन्द्रगुप्त, अशोक और अकबर ये सब निरकुश राजा हुए हैं। इसके विपरीत, सांवैधानिक राजा वह है जिसका प्राधिकार सीमित और विधि प्रथा, परम्परा और रूढ़ि द्वारा नियत है। इंग्लैंड की रानी आज सवैधानिक राजा की एक उदाहरण है।

पूर्ण और हितकर राजतन्त्र के बहुत से लाभ बताए जाते हैं। प्राय यह कहा जाता है कि राज्य की शक्ति और ससाधन एक व्यक्ति के हाथ में इकट्ठे हो जाने से निरकुश राजा अपनी प्रजा के लिए बहुत थोड़े समय में जीवन की आदर्श अवस्थाएं पैदा कर सकता है। इस युक्ति के समर्थन में इतिहास से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। अशोक, अकबर, एलिजाबेथ, पीटर महान, ये सब ऐसे ही शासक थे।

उनके शासनकाल में लोगों का जीवन बड़ा सुखी था, पर पूर्ण राजतंत्र के समर्थक यह भूल जाते हैं कि वस्तुतः अच्छे राजाओं के उदाहरण इतिहास में दुर्लभ हैं। दूसरी ओर, इतिहास क्रूर और दुष्ट राजाओं की कहानियों से भरा पड़ा है, जिन्होंने अपनी शक्ति, लिप्सा, शान और विलास के लिए अपनी प्रजा के जीवनों को बरबाद कर दिया। आजकल व्यष्टि स्वाधीनता के प्रेमियों को हितकर राजतंत्र पर भी आपत्ति होगी।

कुलीनतंत्र—कुलीनतंत्र की परिभाषा यह की जा सकती है कि वह शासनतंत्र जिसमें राज्य के अफसरों को चुनने और राज्य की नीतियों के निर्धारण में अपेक्षया थोड़े से नागरिकों की आवाज होती है। ग्रीक लोग इसे सर्वोत्तम व्यक्तियों द्वारा शासन मानते थे। पर यह बात स्पष्ट नहीं है, कि सर्वोत्तम शब्द का अर्थ ज्ञान, शिक्षा, अनुभव, और नैतिक चरित्र की दृष्टि से सर्वोत्तम था या धन, जन्म और सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से सर्वोत्तम था। सर्वोत्तम शब्द का चाहे जो अर्थ हो पर कुलीनतंत्र शासन का वह रूप है, जिसमें मात्रा या संख्या के बजाय श्रेष्ठता को महत्व दिया जाता है। कुलीनतंत्र के प्रेमी लोकतंत्र को अज्ञान का शासन कहते हैं। दूसरी ओर लोकतंत्र के समर्थक कुलीनतंत्र की बुराई करते हैं, क्योंकि इसमें थोड़े से आदमी अपने स्वार्थ के लिए बहुतों का शोषण करते हैं। कुलीनतंत्र का अर्थ कुछ अच्छे शिक्षित और अनुभवी व्यक्तियों का शासन हो, तो भी इसमें शीघ्र ही बिगड़ कर अल्पतंत्र के रूप में अर्थात् कुछ धनी व्यक्तियों के शासन में बदल जाने की प्रवृत्ति होती है। इसके अलावा, यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि सर्वोत्तम कौन है, और उसके लिए क्या कसौटी है।

## लोकतंत्र

लोकतंत्र का अर्थ—हम लोकतंत्र के युग में रहते हैं। लोकतंत्र शासन, राज्य और समाज का एक रूप है।

शासन का रूप—अधिकतर सभ्य राज्यों में शासन का प्रचलित रूप लोकतंत्र है। शासन के एक रूप के तौर पर लोकतंत्र की अनेक तरह परिभाषा की गई है। प्राचीन ग्रीक लोग इसे बहुतों द्वारा शासन के रूप में परिभाषित करते थे। प्रोफेसर सीली ने इसे ऐसा शासन बतलाया है जिसमें प्रत्येक का हिस्सा होता है। लार्ड ब्राइस ने इसे शासन का ऐसा रूप बतलाया है जिसमें प्रत्येक राज्य की शासन शक्ति किसी खास वर्ग या वर्गों में निहित न होकर मुख्यतः सारे समुदाय के सदस्यों में निहित होती है। एक और परिभाषा जो बहुत बार उद्धृत की जाती है अब्राहम लिंकन द्वारा की गई परिभाषा है। उसने 'इसे जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए किया जाने वाला शासन' बताया है। इस प्रकार, लोकतंत्र में राज्य की सर्वोच्च सत्ता सारी जनता में निहित होती है। सब लोगों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शासन में हिस्सा होता है। शासन का यही एक रूप है, जिसमें शासक और शासित में कोई भेद नहीं होता।

**राज्य के रूप में**—लोकतंत्र शासन का ही रूप नहीं है। यह राज्य का और समाज का भी एक रूप है। प्रायः लोकतंत्र इन तीनों का मेल होता है। शासन के लोकतंत्रीय रूप से लोकतंत्रीय राज्य ध्वनित होता है, पर किसी लोकतंत्रीय राज्य में यह आवश्यक नहीं कि सरकार लोकतन्त्रीय ही हो। लोकतन्त्रीय राज्य वह है जिस में सारा समुदाय सर्वोच्च और *नियन्त्रणकारी सत्ता होता है। लोकतन्त्रीय राज्य का* शासन राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या लोकतन्त्र हो सकता है।

**समाज के रूप में**—राज्य के और प्रकार के रूप के अलावा, लोकतंत्र समाज की व्यवस्था का नाम भी है। समाज की व्यवस्था के रूप में लोकतन्त्र अपने सब सदस्यों में समता और बंधुता की भावना ध्वनित करता है। पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि लोकतन्त्रीय समाज, राज्य और सरकार एक साथ ही होंगे। मुसल्मानों में समाज लोकतन्त्रीय था, पर उनकी सरकार निरंकुश राजतन्त्र *थी। आजकल रूस में लोकतन्त्रीय समाज तो है, पर शासन का लोकतन्त्रीय रूप नहीं* है। हिन्दुओं का समाज लोकतन्त्रीय नहीं था, पर प्राचीन हिन्दू भारत में लोकतन्त्रीय राज्य भी थे और सरकारें भी।

**लोकतंत्र के प्रकार**—लोकतंत्र का वर्गीकरण इस तरह किया जा सकता है—

(क) प्रत्यक्ष या सीधा लोकतंत्र।

(ख) *परोक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र।*

**प्रत्यक्ष लोकतंत्र**—प्रत्यक्ष लोकतंत्र में सब नागरिक सभा के रूप में बैठते हैं, और राज्य की इच्छा को रूप देते और अभिव्यक्त करते हैं। वे अपनी ओर से काम करने के लिए प्रत्यायुक्त या प्रतिनिधि नहीं चुनते। जैसा कि इसकी प्रकृति से स्पष्ट हो जाएगा, प्रत्यक्ष लोकतंत्र सिर्फ उन राज्यों में संभव है, जिनकी आबादी बहुत थोड़ी है और जिनकी समस्याएं बहुत थोड़ी तथा सरल हैं। प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्रणाली आधुनिक काल के बड़े और संकुल राज्यों के लिए ठीक नहीं। जहां एक *राज्य की आबादी करोड़ों में है, वहां सब नागरिकों को एक सभा में जमा करना* संभव नहीं। प्राचीन ग्रीस और रोम में, जहां राज्य नगर-राज्य होता था, प्रत्यक्ष *लोकतन्त्र चल सकता था। आजकल प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के एकमात्र उदाहरण स्विट्ज़रलैंड के चार कैन्टन या ज़िले हैं। स्विटज़रलैंड के अन्य कैन्टनों में, जहां प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र है, प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की हानि को पूरा करने के लिए* **रेफरेण्डम या परिपृच्छा** (Referendum) का और **उपक्रमण या प्रारंभण** (Initiative) का प्रयोग किया जाता है। हम इन उपायों के अर्थ और प्रयोजन पर एक बाद के *अध्याय में विचार करेंगे।*

**परोक्ष लोकतंत्र**—आजकल लोकतन्त्र का यही प्ररूप प्रचलित है। परोक्ष *या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र में राज्य की इच्छा जनता द्वारा अपने उन प्रत्यायुक्तों या* प्रतिनिधियों की मार्फ़त अभिव्यक्त की जाती है, जो आम चुनाव में निश्चित अवधि के लिए उनके द्वारा चुने जाते हैं। प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र में भी प्राधिकार का अंतिम

स्रोत जनता ही है, पर यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र से इस बात में भिन्न है कि प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जनता स्वयं उस प्राधिकार का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से और सन्तोषजनक रीति से नहीं कर सकती।

## लोकतन्त्र के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ

### लोकतन्त्र के गुण

✓समता पर आधारित है—लोकतन्त्र ही शासन का एक रूप है जो समता के सिद्धान्त पर आधारित है। प्रथम तो, यह जन्म धन, जाति या वर्ण, रंग, धर्म और लिंग का बिना विचार किए, सब आदमियों के परिवर्धन और सुधार को बराबर महत्व देता है। दूसरे, सब नागरिकों को, चाहे वे बड़े हों या छोटे, धनी हों या गरीब, राज्य के मामलों में बराबर अधिकार होता है। राज्य की विधि सबसे एक सा व्यवहार करती है। सब नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य बराबर हैं। संक्षेप में, लोकतन्त्र इस धारणा पर आधारित है कि राज्य सब नागरिकों का है और कि इसके मामले हर किसी की चिन्ता का विषय हैं। इस प्रकार, यह मनुष्य को उठा कर सबके बराबर कर देता है और किसी से हीन नहीं रहने देता।

✓अधिकतम स्वाधीनता देता है—दूसरे, लोकतन्त्र शासन का एकमात्र रूप है जिसमें आदमी को अधिकतम स्वाधीनता मिल सकती है। *राज्य की सुरक्षा का* ध्यान रखते हुए यह विचार, भाषण, संचरण, और साहचर्य की पूर्ण स्वाधीनता देता है। इतनी अधिक स्वाधीनता शासन के किसी और रूप में संभव नहीं।

✓सम्मति द्वारा शासन—लोकतन्त्र की एक और अच्छी विशेषता यह है कि यह सम्मति द्वारा शासन है। लोग शासन के लिए अनुपयुक्त सरकार के नीचे कष्ट पाने के लिए बाधित नहीं होते। लोकतन्त्र में लोग बिना हिंसा का प्रयोग किए अपनी सरकार बदल सकते हैं। शासन के अन्य किसी रूप में यह सुविधा नहीं। फिर, यह शासन का ऐसा एकमात्र रूप है जिसमें शासक और शासित में कोई भेद नहीं और शासक शासित भी है तथा शासित शासक भी है।

✓यह शिक्षा है—लोकतन्त्र का शिक्षात्मक महत्व भी बड़ा है। राज्य के सामने आने वालों और शासन के संचालन सम्बन्धी बहुत सी समस्याओं के बारे में लोगों को लोकतन्त्र प्रणाली में जितना ज्ञान होता है, उतना शासन के किसी अन्य रूप में नहीं होता। आम चुनाव लोगों में अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलों में लोगों की दिलचस्पी ही नहीं पैदा करते, बल्कि उन्हें इनके बारे में सोचने और तर्क करने के लिए मजबूर करते हैं।

✓चरित्र-निर्माण करता है—लोकतन्त्र का जनता के चरित्र पर ऊँचा उठाने वाला प्रभाव होता है। यह अपने नागरिकों में स्वावलंबन, स्वयंकर्तृत्व, सहयोग, सहिष्णुता और जिम्मेदारी के गुण पैदा करता है। वस्तुतः, लोकतन्त्रीय शासन और समाज आदमी के चतुर्मुखी विकास में सहायक होते हैं।

/ देशभक्ति को बढ़ाता है—लोकतन्त्र आदमी के मन में देशभक्ति या अपने देश का प्रेम बढ़ाता है। इसका कारण यह तथ्य है कि लोकतन्त्र में राज्य और सरकार जनता की होती है।

यह स्थायी होता है—यदि किसी राज्य में शासन का रूप लोकतन्त्रीय है तो क्रान्ति का खतरा बहुत कम हो जाता है। जब लोग आम चुनावों में शांतिपूर्ण तरीके से शासकों को बदल सकते हैं तब उन्हें हिंसक और क्रान्तिकारी विधियों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं। इसके अलावा जनता का उन विधियों को अपनाना जो उन्होंने अपने लिए बनायी हैं, नैतिक दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता। इसलिए, लोकतन्त्र शासन का एक स्थायी रूप है।

## लोकतन्त्र के दोष

लोकतन्त्र की बहुत आलोचना की गई है। इस पर निम्नलिखित आपत्तियाँ उठायी जाती हैं —

(१) कुलीनतन्त्र के प्रेमी लोकतन्त्र को अज्ञानियों का शासन बताते हैं। उनकी मान्यता यह है कि शासन कार्य के लिए विशेष ज्ञान और विशेष प्रशिक्षण चाहिए जो मन्त्रियों तथा जनता के प्रतिनिधियों को प्राप्त नहीं हो सकता। उनके अनुसार, लोकतन्त्र मात्रा या संख्या को अनुचित महत्व देता है और श्रेष्ठता की उपेक्षा करता है। लोकतन्त्र बहुमत का शासन होता है। इसलिए इसमें थोड़े से बुद्धिमान मनुष्यों की अपेक्षा १०० मूर्खों की बात ज्यादा चलेगी।

(२) दूसरी बात यह है कि कहा जाता है कि अधिकतर लोग राज्य के मामलों में बिल्कुल दिलचस्पी नहीं लेते। इस कारण लोकतन्त्र में भी शक्ति का प्रयोग वास्तव में थोड़े से व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है और इस प्रकार अपने वास्तविक संचालन में यह अल्पतन्त्र से अच्छा नहीं।

(३) उपर्युक्त कारण से यह भी कहा जाता है कि लोकतन्त्र में जिस स्वाधीनता और समता का दावा किया जाता है वे सिद्धान्त मात्र हैं, व्यवहार में नहीं आता।

(४) यह भी कहा जाता है कि लोकतन्त्रीय देशों में राजनैतिक दल अपने गलत प्रचार, रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार से जनता को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाते हैं। राजनैतिक नेता लोगों की भावनाएं भड़का कर उनके मत प्राप्त कर लेते हैं और चुने जाने के बाद वे अपनी शक्ति का प्रयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करते हैं। ऐसी अवस्था में जनता का शिक्षण और चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता। मंत्रियों के साथ लोगों का सीधा सम्पर्क होने के कारण अनुशासन शिथिल हो जाता है। लोग मन्त्रियों से वैयक्तिक अनुग्रह की आशा करते हैं, और मन्त्री अपने साथियों और मित्रों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ पाने में मदद करते हैं। इसका परिणाम होता है पक्षपात और भ्रष्टाचार और उससे शासन में अदक्षता पैदा होती है।

(५) लोकतन्त्र शासन का अधिक खर्चीला रूप है। सरकार को चुनावों पर और विधान मंडल के सदस्यों के वेतनों और भत्तों पर बहुत बड़ी धनराशियाँ खर्च करनी पड़ती है।

**लोकतन्त्र का मूल्यांकन**—लोकतन्त्र पर किए गए उपर्युक्त प्रत्येक आक्षेप में कुछ न कुछ सचाई है, पर साथ ही वे आक्षेप बहुत अतिरंजित है। शासन की कोई भी प्रणाली त्रुटिहीन नहीं पर शासन के अन्य रूपों की तुलना में लोकतन्त्र में कम बुराइयाँ है। इसके गुण इसके दोषों की अपेक्षा सुनिश्चित रूप से बहुत अधिक हैं।

हमें याद रखना चाहिए कि लोकतन्त्र शासन का एक कठिन रूप है। इसके दक्ष संचालन के लिए इसे चलाने वाले लोगों में चरित्र और प्रशिक्षण का एक निश्चित स्तर होना चाहिए। लोकतन्त्र की सफलता के लिए कुछ बातों का होना परमावश्यक है। यदि वे बातें हों तो लोकतन्त्र में उन अनेक बुराइयों से नुकसान होने की सम्भावना नहीं रहती जो इसमें बताई जाती हैं।

**लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें सबल और प्रबुद्ध लोकमत**—सबल और प्रबुद्ध लोकमत लोकतन्त्र की सफलता के लिए पहली और सबसे अधिक आवश्यक शर्त है। यह विधानमण्डल के सदस्यों और अन्य सरकारी अफसरों को नियन्त्रित रखने के लिए आवश्यक है। ऐसा न होने पर वे जनसाधारण के हितों की उपेक्षा करके स्वार्थ सिद्धि की दिशा में जाएँगे।

**शिक्षा**—यहां शिक्षा का अर्थ राजनीतिक शिक्षा है, पढ़ाई-लिखाई नहीं, यद्यपि वहां पढ़ाई-लिखाई हो तो और भी अच्छा है। शिक्षा से ही लोगों को जानकारी प्राप्त होती है। उन्हें अपने सामने आनेवाले प्रश्नों और समस्याओं का पता लगता है। ऐसी परिस्थितियों में लोग अपने प्रतिनिधियों के कामों का अधिक अच्छी तरह फैसला कर सकते हैं। लोगों की शिक्षा होने पर स्वाधीनता और समता की अतिरंजित भावनाएँ पक्षपात, गलत प्रचार और अनुशासनहीनता, ये सब बुराइयाँ खत्म हो जाएगी।

**स्थानीय स्वशासन**—पंचायतों और नगरपालिकाओं में लोगों को स्वशासन की जो शिक्षा मिलती है, वह नागरिकता के लिए उनकी राजनैतिक शिक्षा और प्रशिक्षण की दिशा में एक कदम होता है।

**स्वतन्त्र प्रेस या अखबार**—सबल लोकमत बनाने के लिए स्वतन्त्र प्रेस या अखबारों का होना परम आवश्यक है।

**आर्थिक सुख**—लोकतन्त्र की सफलता के लिए एक और महत्वपूर्ण शर्त यह है कि लोगों को आर्थिक सुरक्षा अनुभव होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, अभाव से मुक्ति होनी चाहिए। अपने कर्त्तव्यों के ईमानदारी से निर्वाह के लिए आर्थिक समृद्धि बहुत आवश्यक है। राज्य के कर्मचारी आर्थिक दृष्टि से सुखी होने पर प्रलोभनों में कम पड़ेंगे और मतदाता अपने मत नहीं बेचेंगे। समृद्धि से नागरिकों को राज्य सम्बन्धी

मामलों की ओर ध्यान देने के लिए बहुत खाली समय भी मिल जाएगा।

**अच्छा चरित्र**—लोकतन्त्र के नागरिक को अपने कर्तव्यों के निर्वाह में ईमानदार होना चाहिए। उसे स्वार्थी नहीं होना चाहिए। उसमें देश-प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता की भावना रहनी चाहिए। उसे उत्तरदायी और अनुशासित रीति से व्यवहार करना चाहिए।

## अधिनायकतंत्र या तानाशाही

लोकतन्त्र तो सम्मति द्वारा शासन है और एक व्यक्ति या एक दल के मनमाने शासन को अधिनायकतन्त्र या तानाशाही का नाम दिया जाता है। एक व्यक्ति के शासन की दृष्टि से अधिनायकतन्त्र में राजतन्त्र से यह भेद है कि अधिनायक मुकुट नहीं पहनता, या सिंहासन पर नहीं बैठता। अधिनायक का पद राजा के पद की तरह आनुवंशिक भी नहीं होता। अधिनायक जनसाधारण में से होता है और राजा की तरह उसमें कोई कुलीन रक्त नहीं होता। जहां तक सत्ता के वास्तविक प्रयोग का प्रश्न है, अधिनायक और निरंकुश राजा में कोई अन्तर नहीं है।

**पुरानी और नयी तानाशाही**—तानाशाही, शासन का कोई नया रूप नहीं है। यह पहले भी मौजूद थी। जूलियस और नैपोलियन के नाम हममें से अधिकतर लोग जानते हैं। प्राचीनकाल में तानाशाही सच्चे अर्थों में एक आदमी का शासन होती थी। आजकल एक आदमी के हाथ में बाहर से ही अधिकार दिखाई देता है, पर वास्तव में वह व्यक्ति एक राजनैतिक दल के नेताओं के रूप में सत्ता का प्रयोग करता है। हिटलर, मुसोलिनी और स्तालिन आज तक जमाने के तानाशाह हुए, हैं पर वे सब इसी कारण सत्ताशाली थे कि वे सत्तारूढ दल के नेता थे। इस प्रकार मौजूदा युग व्यक्ति की तानाशाही के बजाय दल की तानाशाही का युग है इसके अलावा आज की तानाशाहियाँ लोकतन्त्रीय वेष में रहती हैं, यद्यपि वास्तव में वे लोकतन्त्र से बिल्कुल उल्टी होती हैं।

## लोकतंत्र बनाम तानाशाही

(१) लोकतन्त्र सम्मति द्वारा शासन है। दूसरी ओर, तानाशाही का आधार बल है।

(२) लोकतन्त्र में विचार, भाषण, सचरण और साहचर्य की बहुत स्वाधीनता होती है। तानाशाही में सबसे पहले इन्हीं पर पाबन्दी लगती है। लोगों को तानाशाह द्वारा नियत किया गया पेशा अपनाने, वेश पहनने और शिक्षा लेने के लिए भी मजबूर किया जाता है।

(३) लोकतन्त्र में राजनैतिक दल बनाने की स्वाधीनता होती है। तानाशाही में एक राजनैतिक दल के अलावा अन्य सब राजनैतिक दलों पर पाबन्दी होती है।

**तानाशाही के गुण**—कुछ देशों में १९१४-१८ के विश्वयुद्ध के बाद तानाशाहियां पैदा हुई। उन देशों में युद्ध ने आर्थिक अवस्थाएं बहुत बिगाड़ दी थी और

उन सबका दोष लोकतन्त्र के ऊपर डाला जाता था। लोकतन्त्र को शासन का अदक्ष रूप बताया जाता था और इसलिए तानाशाही को एक मौका दिया गया था। आज भी हमारे जैसे देशों में, जहां आर्थिक अवस्थाएं खराब हैं, और अनुशासनहीनता, स्वार्थवृत्ति, घूसखोरी और चोरबाजारी आम चीज हैं, लोग कभी कभी लोकतन्त्र की जगह तानाशाही का पक्ष पोषण करते हैं। इस प्रकार, तानाशाही का मुख्य गुण इसकी दक्षता बताया जाता है। इसे देश की सब बुराइयों का एक इलाज कहा जाता है। लोकतन्त्र मन्दगति है, पर तानाशाही जबरदस्ती थोड़े से समय में जीवन में शान्ति ला सकती है।

तानाशाही के दोष—तानाशाही के दोष इसके गुणों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। इसकी सबसे बड़ी बुराई यह है कि यह व्यक्ति को कोई स्वाधीनता नहीं मानने देती। समाज का जीवनक्रम यान्त्रिक सा होने लगता है। आदमी की मौलिकता और स्वयं वक्तृत्व को विकसित नहीं होने दिया जाता। न विचार का स्वतन्त्र विकास हो सकता है। आखिरकार, आदमी तर्क के अनुसार चलने वाला आदमी है, और वह सिर्फ रोटी से जीवित नहीं रहता। विचार, भाषण, वादविवाद और साहचर्य की स्वतन्त्रता उसके पूर्ण विकास के लिए बहुत आवश्यक है। उसके अलावा, तानाशाही न केवल देश की आन्तरिक नीति में बल्कि इसकी वैदेशिक नीति में भी बल प्रयोग पर जोर देती है। वैदेशिक मामलों में तानाशाह युद्ध की नीति पर चलते हैं, और इस प्रकार, अपने देशों को विनाश की ओर ले जाते हैं। बल पर आधारित होने के कारण तानाशाही लोकतन्त्र की अपेक्षा कम स्थायी है।

सांवैधानिक राजतन्त्र और गणराज्य—कोई लोकतन्त्र या तो सांवैधानिक राजतन्त्र होता है और या गणराज्य होता है। सांवैधानिक राजतन्त्र पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। गणराज्य शासन का वह रूप है जिसमें राज्य का अध्यक्ष या इसका मुख्य कार्यपालक अधिकारी या तो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से और या परोक्ष रूप से निर्वाचित होता है। यूनाइटेड स्टेट्स और भारत दोनों लोकतन्त्रीय गणराज्य हैं, पर गणराज्य का लोकतन्त्रीय होना आवश्यक नहीं। सोवियत रूस भी एक गणराज्य है पर वह लोकतन्त्रीय नहीं है।

## सारांश

### सरकार के रूप—अरस्तू का वर्गीकरण

१. राजतन्त्र—सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है।

२. कुलीनतन्त्र—सर्वोच्च सत्ता थोड़े से (सर्वोत्तम) व्यक्तियों में निहित होती है।

३. बहुतन्त्र—सर्वोच्च सत्ता बहुत से व्यक्तियों में निहित होती है।

ऊपर बताए गये शुद्ध या सामान्य रूपों के साथ-साथ एक भ्रष्ट या विकृत रूप होता है अर्थात् अत्याचारी शासन, अल्पतन्त्र और लोकतन्त्र।

अरस्तू का यह वर्गीकरण आधुनिक युग की अवस्थाओं से मेल नहीं खाता।

अरस्तू लोकतन्त्र को एक विकृत रूप मानता था, पर आज यह शासन का सर्वोत्तम रूप माना जाता है। लोकतन्त्र आज सबसे अधिक प्रचलित रूप भी है।

आधुनिक वर्गीकरण—(१) लोकतन्त्र, (२) तानाशाही या अधिनायकतन्त्र। लोकतन्त्रों को फिर तीन शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

१ सांवैधानिक राजतन्त्र या गणराज्य।

२ एकीय या सघानीय।

३. ससदीय या प्रधानीय (राष्ट्रपतीय)।

पर कोई शासन ससदीय और एकीय होते हुए सांवैधानिक राजतन्त्र हो सकता है। पर कोई शासन एक ही समय में राजतन्त्र और गणराज्य या ससदीय और प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) नहीं हो सकता।

राजतन्त्र—राजतन्त्र आनुवंशिक या निर्वाचित और निरकुश या सांवैधानिक हो सकता है। सांवैधानिक राजा वह है, जिसे सीमित अधिकार होता है। निरकुश और हितकारी राजतन्त्र के पक्ष में प्राय यह युक्ति दी जाती है कि यह लोगों के लिए जीवन की आदर्श अवस्थाएं पैदा कर सकता है। पर बहुत थोड़े निरकुश राजा अच्छे शासक हुए हैं। आज के जमाने में राजतन्त्र पसन्द नहीं किये जाते, और जहा वहा हैं भी, वह सांवैधानिक है।

कुलीनतन्त्र—कुलीनतन्त्र सर्वोत्तम व्यक्तियों द्वारा शासन कहा जाता है, पर सर्वोत्तम की परिभाषा करना कठिन है। यदि कुलीनतन्त्र का अर्थ कुछ अच्छे शिक्षित और अनुभवी व्यक्तियों का शासन है, तो इसमें धीरे-धीरे थोड़े से धनी व्यक्तियों का रूप लेने की प्रवृत्ति हो जाती है।

लोकतन्त्र—हम लोकतन्त्र के युग में रहते हैं। लोकतन्त्र न केवल शासन का एक रूप है, बल्कि राज्य का और समाज का भी एक रूप है। शासन के रूप के तौर पर, इसे वह शासन कहा जा सकता है जिसमें हर कोई हिस्सा लेता है। लिंकन ने इसकी परिभाषा यह की थी कि 'जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए शासन।' लोकतन्त्र में सर्वोच्चता जनता में निहित होती है और शासक तथा शासित में कोई भेद नहीं होता।

लोकतन्त्रीय राज्य वह होता है जिसमें सारा समुदाय सर्वोच्चता-सम्पन्न होता है। किसी लोकतन्त्रीय राज्य का शासन राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या लोकतन्त्र हो सकता है।

*लोकतन्त्रीय समाज इसके सदस्यों में समता और बन्धुता की भावना को* सूचित करता है। मुसलमानों का समाज लोकतन्त्रीय था, जबकि उनका शासन निरकुश राजतन्त्र था। हिन्दुओं में समाज कभी लोकतन्त्रीय नहीं रहा, यद्यपि प्राचीन हिन्दू भारत में राज्य और शासन लोकतन्त्रीय थे।

लोकतन्त्र के प्रकार—(१) प्रत्यक्ष, (२) परोक्ष या प्रतिनिध्यात्मक। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में कानून बनाने के लिए सब नागरिक विधान सभा के रूप में बैठते हैं।

कोई प्रतिनिधि नहीं चुने जाते। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र बहुत छोटे राज्यों के लिए ही ठीक हो सकता है। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र आजकल प्रचलित लोकतन्त्र है। इसमें जनता की इच्छा विधानमण्डलों में उनके प्रतिनिधियों के द्वारा जताई जाती है।

**लोकतन्त्र के गुण**—(१) शासन का एकमात्र यह रूप है, जो समता के सिद्धान्त पर आधारित है। (२) अधिकतम स्वाधीनता लोकतन्त्र में ही हो सकती है (३) सिर्फ लोकतन्त्र में ही शासक और शासित में भेद नहीं होता। (४) लोकतन्त्र ही ऐसा शासन है, जिसे बिना हिंसा के बदला जा सकता है। (५) यह सम्मति द्वारा शासन है। (६) लोकतन्त्र में साधारण निर्वाचनों का बड़ा शिक्षात्मक महत्त्व है। (७) लोकतन्त्र जनता के चरित्र को ऊँचा उठाता है। (८) यह देशप्रेम बढ़ाता है। (९) यह शासन का सबसे स्थिर रूप है।

**दोष**—(१) कुलीनतन्त्र के प्रेमी लोकतन्त्र को अज्ञानियों का शासन कहते हैं। यह संख्या के मुकाबले में गुण की उपेक्षा करता है। (२) जनता राज्य के मामलों में बहुत कम दिलचस्पी लेती है। इसलिए कार्य सञ्चालन की दृष्टि से लोकतन्त्र अल्पतन्त्र (Oligarchy) से अधिक अच्छा नहीं है। (३) लोकतन्त्र में स्वाधीनता और समता सिद्धान्तरूप में ही अधिक होती है, व्यवहार में नहीं। (४) राजनैतिक दल शिक्षा देने की अपेक्षा निन्दा अधिक करते हैं। (५) लोकतन्त्र बड़ा खर्चीला होता है।

**मूल्यांकन**—यद्यपि उपर्युक्त आक्षेपों में से प्रत्येक में कुछ सचाई है, पर उनमें बुराइयों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहा गया है। लोकतन्त्र के दक्ष परिचालन के लिए जनता में चरित्र का एक निश्चित स्तर होना जरूरी है। यदि उचित अवस्थाएं विद्यमान हों तो लोकतन्त्र में इनमें से कोई भी बुराई नहीं मिलेगी। कुल मिलाकर लोकतन्त्र शासन का सर्वोत्तम रूप है।

**लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें**—(१) सुस्थिर और प्रबुद्ध लोकमत। (२) जनता की शिक्षा। (३) स्थानीय स्वशासन की शिक्षा। (४) स्वतन्त्र प्रेस या अखबार। (५) जनता की आर्थिक अवस्था अच्छी होनी चाहिए। (६) लोग ईमानदार, सहिष्णु, सहयोगपूर्ण, उत्तरदायी और अनुशासित होने चाहिए।

## तानाशाही या अधिनायकतन्त्र

तानाशाही या अधिनायकतन्त्र एक आदमी या एक दल के मनमाने शासन को कहते हैं। यह बल द्वारा शासन है और इस रूप में लोकतन्त्र का बिलकुल उलटा है। पुरानी तानाशाहियाँ एक-एक आदमी की हुआ करती थीं, पर आधुनिक युग दल की तानाशाही का युग है।

**गुण**—तानाशाही का मुख्य गुण इसकी दक्षता को बताया जाता है। कहा जाता है कि लोकतन्त्र बहुत धीरे चलता है और तानाशाही अपेक्षया थोड़े समय में जीवन को ऊपर से नीचे तक बदल सकती है।

दोष—तानाशाही में आजादी नहीं रहती। समाज का जीवन मशीन की तरह चलने लगता है। आदमी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का मौका नहीं होता। तानाशाह अपने देशों को युद्ध में झोंक देते हैं। तानाशाही लोकतन्त्र से कम स्थायी भी है।

## प्रश्न

१. 'लोकतन्त्र' शब्द से आप क्या समझते हैं ? प्रत्यक्ष और परोक्ष लोकतन्त्र में भेद करो।

1. What do you understand by the term 'Democracy'? Distinguish between direct and indirect democracy

२. शासन पद्धति के रूप में लोकतन्त्र के पक्ष और विपक्ष में युक्तियां दो।

या

शासनपद्धति के रूप में लोकतन्त्र के गुणों और दोषों की आलोचना करो। (प० वि० अप्रैल, १९५१)

2 Make out a case for and against democracy as a form of *government*

*or*

Explain the merits and demerits of democracy as a form of *government*, *(P U April, 1951)*

३ लोकतन्त्र की सफलता के लिए कौन-सी शर्तें आवश्यक हैं ? (प० वि० सितम्बर, १९५१)

3 What are the necessary conditions for the success of democracy? (P U. *Sept.*, 1951)

४ लोकतन्त्र और तानाशाही के आपेक्षिक गुणों और दोषों की विवेचना करो ?

4 Examine the relative merits and demerits of democracy and dictatorship

५ प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के गुण और दोष बताओ। (प० वि० अप्रैल, १९५४)

5 Point out the merits and demerits of a representative democracy (P U April, 1954)

अध्याय : : १७

# शासन के रूप (क्रमागत)

## एकीय, सघानीय संसदीय और प्रधानीय या राष्ट्रपतीय शासन

### का एकीय रूप

यदि किसी राज्य के सारे अधिकार का प्रयोग शासन के एक ही संगठन के जरिये होता हो जो केन्द्रीय सरकार कहलाती है तो सरकार एकीय है। शासन के इस रूप मे प्रान्तीय सरकारें होने पर भी उन्हे सिर्फ केन्द्रीय सरकार से दिया गया अधिकार ही प्राप्त होता है। उनका अधिकार केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी भी समय कम या अधिक किया जा सकता है, या बिल्कुल ले लिया जा सकता है। इस प्रकार शासन के एकीय रूप में सारा अधिकार एक जगह केन्द्रीभूत हो जाता है। इग्लैंड मे एकीय रूप वाली सरकार है।

गुण—शासन के एकीय रूप के निम्नलिखित गुण हैं —

(१) प्रशासन की एकरूपता—कहा जाता है कि अधिकार के एक जगह केन्द्रीभूत होने से सारे देश मे विधि, नीति और प्रशासन की एकरूपता हो जाती है।

(२) दक्षता और एकता—सारे अधिकार का प्रयोग एक स्थान से होने से प्रशासन में अधिक दक्षता आ जाती है। विधि और प्रशासन की एकरूपता से देश की जनता में एकता की भावना बढती है।

(३) आपातो के समय ताकत—सारी सत्ता एक स्थान पर होने के कारण एकीय रूप वाली सरकार युद्ध काल में और अन्य आपातों में अधिक ताकत और दक्षता दिखा सकती है।

(४) कम खर्चीला—सिर्फ एक सरकारी संगठन होने से एकीय सरकार सघान की तुलना में कम खर्चीली पड़ती है।

दोष—शासन के एकीय रूप के निम्नलिखित दोष हैं —

(१) स्थानीय स्वशासन नहीं रहता—एकीय प्रणाली में मुख्य दोष यह है कि इसके स्थानीय क्षेत्रों को उन मामलो में, जो अधिकतर सिर्फ उनसे ही सम्बन्ध रखते हैं, स्वशासन का अधिकार नहीं मिलता। कहा जाता है कि एक केन्द्रीय सरकार स्थानीय इलाको से दूर होने के कारण उनकी सब आवश्यकताओ पर पर्याप्त ध्यान नही दे सकती। यह उन्हें संतुष्ट करने की अधूरी कोशिशें करती है। और वे भी यह

बहुत देर के बाद करती हैं। इसका कारण आसानी से समझ में आ जाता है। सरकार का सिर्फ एक संगठन होने के कारण, केन्द्रीय सरकार को पचासों तरह के काम करने होते हैं। इसपर काम का बहुत बोझ होता है। पहले सामान्य समस्याओं पर विचार किया जाता है और विभिन्न क्षेत्रों की अपनी-अपनी समस्याएँ हल होने में देर लग जाती है।

(२) नागरिकता की शिक्षा नहीं मिल पाती—इसके अलावा लोगों को स्थानीय स्वशासन की शिक्षा देने की जरूरत होती है ताकि वे लोकतंत्र के उपयुक्त नागरिक बन सकें। पर शासन के एकीय रूप में नागरिकों में स्वयं कर्तृत्व, सहयोग और जिम्मेदारी आदि नागरिक गुणों का विकास होने के कम मौके मिलते हैं।

(३) शासन का एकीय रूप साधारणतया उन छोटे-छोटे राज्यों के लिए ठीक होता है, जिनके क्षेत्र सब एक जगह हों और जिनकी आबादी थोड़ी और एकसी हो। यह उन देशों के लिये ठीक नहीं रहता जो बहुत लम्बे-चौड़े हों और जिनमें स्थानीय अवस्थाएं बड़ी अलग-अलग हों और संस्कृति की विविधता हो। इस प्रकार, शासन के इस रूप में विविधता को एकता और एकरूपता पर कुर्बान करना पड़ता है।

## संघान या शासन का संघानीय रूप

संघान किसे कहते हैं—जब कई छोटे-छोटे स्वतन्त्र सर्वोच्चता-सम्पन्न राज्य कुछ मामलों में अपना सर्वोच्च अधिकार एक साझी संघ सरकार को देने के लिए आपस में सहमत होकर एक संघ के रूप में इकट्ठे हो जाना स्वीकार करते हैं, पर साथ ही शेष मामलों में अपनी सर्वोच्चता और स्वतन्त्रता कायम रखते हैं। तब ऐसा संघ संघान कहलाता है।

इस प्रकार संघान में सरकार की कुल शक्तियां एक लिखित संविधान द्वारा दो शासन संगठनों अर्थात् केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार या प्रांतीय सरकार में बांट दी जाती हैं। प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, चलार्थ यानी करेंसी और विनिमय ( Exchange ), वाणिज्य और व्यापार आदि, सब के सामान्य हित के विषय केन्द्रीय सरकार को दे दिये जाते हैं और विधि और व्यवस्था, न्याय, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि स्थानीय महत्त्व के विषय संघान के राज्यों के अधीन रहते हैं।

## संघान की आवश्यक विशेषताएं

(१) संघ है, ऐक्य नहीं—प्रत्येक संघान में निम्नलिखित विशेषताएं अवश्य होती हैं। संघान कुछ राज्यों का संघ होता है, ऐक्य नहीं होता ( Union and not a Unity )। ऐक्य शब्द का मतलब यह होगा कि संघान बनाने वाले राज्यों *का स्वतन्त्र अस्तित्व बिल्कुल खत्म हो जाएगा पर हम ऊपर देख चुके हैं कि राज्य* अपनी सर्वोच्चता सिर्फ कुछ विषयों में संघ सरकार को सौंपते हैं। शेष मामलों में उन्हें वैसी ही स्वतन्त्र सत्ता रहती है जैसी संघ के निर्माण से पहले थी।

शासन के दो संगठन होते हैं—संघान में स्पष्ट तौर से शासन के दो संगठन

होते हैं—एक केन्द्र में, दूसरा सघान बनाने वाले राज्यों में से प्रत्येक में। विषयों की कम-से-कम दो और कभी-कभी तीन सूचियाँ होती हैं। शासन के प्रत्येक संगठन को विषयों की अपनी सूची में परम प्राधिकार होता है। केन्द्र को प्रशासन के लिए महत्त्वपूर्ण विषय दे दिए जाते हैं। केन्द्रीय सरकार के लिए विषयों की जो सूची होती है उसे केन्द्रीय सूची या संघ सूची कहते हैं। राज्यों के प्रशासन के विषय राज्य सूची में होते हैं। कुछ सघानों में ऐसे विषय भी होते हैं, जो केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के लिए सामान्य होते हैं। ऐसे विषयों की सूची को समवर्ती सूची कहते हैं। शेष विषय जो न केन्द्र को दिये गये हैं, न राज्यों को, और न दोनों के सामान्य हैं, अवशिष्ट विषय (Residuary Subjects) कहलाते हैं। कुछ राज्यों में, जैसे यूनाइटेड स्टेटस में, अवशिष्ट विषय राज्यों के अधिकार में होते हैं और कुछ देशों, जैसे भारत में वे केन्द्र को दिये गये हैं। यह सब व्यवस्था सम्बन्धित देश के सविधान में साफ तौर से लिखी होती है।

**(३) लिखित सविधान**—सघान का सविधान लिखित होना चाहिए क्योंकि शासन के दोनों संगठनों के अधिकारक्षेत्र स्पष्टत निर्दिष्ट होने जरूरी हैं। सघान में सर्वोच्चता सविधान में होती है। केन्द्रीय सरकार या इकाइयों की सरकार को राज्य का सर्वोच्च प्राधिकार नहीं होता। दोनों का प्राधिकार सविधान से पैदा होता है। इस प्रकार किसी सघान की इकाइयों का अधिकार मौलिक होता है, और केन्द्रीय सरकार से लिया हुआ नहीं होता।

**(४) सघानीय न्यायालय**—सघान में एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या एक या अधिक राज्यों तथा संघ के बीच विवाद पैदा होने की सम्भावना रहती है। इसका कारण यह है कि शासन के दोनों संगठनों के बीच विषयों का विभाजन किया गया है, और सविधान को पढ़ने में मतभेद हो सकता है। इसलिए विवादों का फैसला करने और सविधान का अर्थ लगाने के लिए किसी निष्पक्ष प्राधिकरण की जरूरत है। यह काम एक न्यायालय द्वारा किया जाता है जिसे उच्चतम या सघानीय न्यायालय कहते हैं। भारत में भी ऐसा न्यायालय है और यह भारत का उच्चतम न्यायालय कहलाता है। अमेरिका में भी ऐसा न्यायालय है जो यूनाइटेड स्टेट्स का उच्चतम न्यायालय कहलाता है। इसलिए सघान में उच्चतम न्यायालय होना जरूरी है।

## सघानीय शासन के लाभ

एकता और स्वतन्त्रता दोनों बनी रहती हैं—शासन के सघानीय रूप का सब से बड़ा लाभ यह बताया जाता है कि इसमें संघ के सब लाभ मिल जाते हैं और ऐक्य की हानि कोई नहीं होती। शासन का यह रूप ऐक्य और स्वतन्त्रता के बीच उत्तम मध्य मार्ग पेश करता है। प्रतिरक्षा, विदेशी मामलों, संचार साधनों और मुद्रा आदि मामलों में, जिनमें ऐक्य वाछनीय है, सघान बनाने वाले राज्यों को अभीष्ट लाभ मिल जाता है। स्वास्थ्य, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन और कृषि

आदि मामलों में, जिनमें स्थानीय अवस्थाओं के भेद के कारण अलग-अलग नीतियाँ वांछनीय होती हैं, राज्यों को पूरी स्वायत्तता रहती है। इस प्रकार संघान में स्थानीय क्षेत्रों की स्थानीय स्वशासन की आकांक्षाएं एकता को बिना भंग किये आसानी से पूरी हो जाती हैं।

(२) बचत—संघानों से खर्च में बचत होती है। जब संघान बनाने वाले राज्य अलग-अलग और स्वतन्त्र थे तब प्रत्येक की अलग फौज, राजदूत और टकसालें आदि थीं। अब वे संघ में आ जाते हैं और संघान बना लेते हैं तब सेना रखना, राजदूत भेजना और सिक्के ढालना केन्द्रीय सरकार का काम हो जाता है। इस तरह, वह बहुत सा धन बच जाता है जो प्रत्येक राज्य पहले खर्च कर रहा था, क्योंकि उनके साधन एक हो जाते हैं।

(३) बड़े राज्यों के लिए उपयुक्त है—बहुत फैले हुए और बहुत आबादी वाले राज्यों के लिए शासन का संघानीय रूप ही उपयुक्त होता है।

(४) दक्षता लाता है—शासन का काम संघ सरकार और राज्य सरकारों में बट जाने से अधिक दक्षता आ जाती है। एकीय प्रणाली में केन्द्रीय सरकार पर काम का बहुत बोझ रहता है।

(५) निरंकुशता को रोकता है—चूँकि न तो केन्द्रीय सरकार को पूरा अधिकार है और न राज्य सरकारों को, और दोनों एक दूसरे पर रोक का काम करती हैं, इसलिए संघानीय शासन में निरंकुशता का भय नहीं रहता।

(६) विश्व राज्य के लिए नमूना पेश करता है—यदि विश्व राज्य बनेगा तो उसका रूप संघानीय ही होने की संभावना है।

(७) यह अधिकाधिक पसन्द किया जा रहा है—आज की दुनिया में संघान को अधिकाधिक पसंद किया जा रहा है। इससे भी इसकी अच्छाई का पता चलता है।

## संघान की हानियां

शासन के संघानीय रूप की ये हानियां बताई जाती हैं—

(१) आपातों के समय कमजोर—आपातों के समय सरकार की दक्षता और ताकत के लिए यह जरूरी होता है कि सारी शक्ति एक जगह इकट्ठी हो। शक्तियों के बँटवारे के कारण संघान में जल्दी किए जाने वाले कामों में गड़बड़ी और देर लगने का खतरा रहता है।

(२) प्रशासन में एकरूपता का अभाव—शासन के संघानीय रूप में प्रशासन की एकरूपता संभव नहीं। संघान के राज्यों में विधियों और प्रशासन अलग-अलग होने की सम्भावना है। इस प्रकार उपर्युक्त कारण से लोगों में एकता की भावना भी कमजोर रहेगी।

(३) जिम्मेदारी का बंट जाना—शासन के संघानीय रूप में जिम्मेदारी बंटी रहती है। कभी-कभी बुरे शासन की जिम्मेदारी दोनों में से किसी एक पर

डालना कठिन हो जाता है।

(४) अलग होने का भय—संघान में किसी राज्य या राज्यों के संघ से अलग हो जाने का भय हमेशा बना रहता है।

(५) अधिक खर्चीला—शासन के दो संगठन होने के कारण संघानीय शासन एकीय शासन की अपेक्षा अधिक खर्चीला बैठता है। अनेक संस्थाएं दोहरी बनानी पड़ती हैं। उदाहरण के लिए, हर एक राज्य में अपनी अलग कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका अवश्य होती है।

## संसदीय और प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) सरकारें

सरकारों का संसदीय और प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) रूप में वर्गीकरण कार्यपालिका और न्यायपालिका के आपसी सम्बन्ध की प्रकृति पर आधारित है।

शासन के संसदीय रूप में कार्यपालिका (मन्त्रिमंडल) और विधायिका (संसद) एक दूसरे के साथ बहुत सहयोग करती हुई चलती हैं। शासन का यह प्ररूप इंग्लैण्ड की देन है, क्योंकि वहां ही मन्त्रिमंडल और संसद की संस्थाएं सबसे पहले पैदा हुईं। शासन के संसदीय रूप को मन्त्रिमंडलीय रूप या उत्तरदायी रूप भी कहते हैं क्योंकि इस में असली कार्यपालिका मन्त्रिमंडल है और यह उत्तरदायी सरकार इस कारण है कि मन्त्रिमंडल या असली कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रणाली में राज्य का अध्यक्ष, राजा या राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका है।

दूसरी ओर शासन के प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) रूप में राज्य का अध्यक्ष असली कार्यपालिका है। मन्त्री वह स्वयं बनाता है और वे उसके अधिकार के अधीन ही होते हैं। संसदीय रूप के विपरीत प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) रूप में कार्यपालिका और विधायिका एक दूसरे से स्वतन्त्र रहकर कार्य करता है। राष्ट्रपति विधानमंडल में से अपने मन्त्री नहीं चुनता और न व विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। शासन के इस रूप को अपनाने वाला पहला राज्य यूनाइटेड स्टेट्स था और आज भी वही इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

## संसदीय शासन की मुख्य विशेषताएँ

(१) शासन के संसदीय रूप में कार्यपालिका की शक्तियों का प्रयोग असल में मन्त्रिमंडल द्वारा किया जाता है। कार्यपालिका का अध्यक्ष (राजा या राष्ट्रपति) राज्य का नाम मात्र का अध्यक्ष होता है। वह अपने मन्त्रियों की सलाह पर कार्य करता हुआ माना जाता है। मन्त्रिमंडल न केवल कार्यपालिका की सारी नीति तय करता है, बल्कि विधान और वित्त में विधान मंडल का पथप्रदर्शन भी करता है।

(२) विधानमण्डल भी मन्त्रिमंडल को नियन्त्रित करता है। शासन के संसदीय रूप में मन्त्रिमंडल विधानमंडल की एक समिति है। इसके सदस्य विधानमंडल के बहुमत दल में से छांटे जाते हैं, और इस दल का नेता प्रधानमन्त्री बनता है।

प्रधानमंत्री अन्य मंत्री छाटता है। वे भी संसद के सदस्य और उसके दल के आदमी होने चाहिए।

प्रधानमंत्री और उसके सहयोगी अर्थात् मंत्रिमंडल अपने सब राजकीय कार्यों के लिए विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे तब तक अपने पदों पर रहते हैं जब तक उन्हें विधानमंडल का विश्वास प्राप्त रहे। विधानमंडल अपने प्रति मंत्रिमंडल की जिम्मेदारी को मंत्रियों से प्रश्न पूछकर, निंदा प्रस्ताव द्वारा और अविश्वास प्रस्ताव द्वारा लागू करता है।

गुण—शासन की संसदीय पद्धति के निम्नलिखित गुण हैं :—

**(१) कार्यपालिका और विधायिका में सहयोग**—मंत्रिमंडलीय प्रणाली शासन की ऐसी एकमात्र प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका और विधायिका में मैत्रीपूर्ण सहयोग होना सुनिश्चित है। कानून बनाने वाले और कानून लागू करने वाले प्राधिकरणों में नजदीकी सहयोग से कानून व्यवस्थित ढंग का बनता है। इसी प्रकार, धन देने वाले और धन खर्च करने वाले अधिकारियों में सहयोग होने पर खर्च कम होता है और दक्षता आती है। शासन के इस रूप में फैसले और काम जल्दी होते हैं और कार्यपालिका और विधायिका में संघर्ष और गतिरोध की गुंजाइश बहुत कम हो जाती है।

**(२) कार्यपालिका की जिम्मेदारी निरंकुशता पर रोक लगाती है**—शासन के संसदीय रूप में कार्यपालिका की जनता के प्रतिनिधियों के सामने सीधी जिम्मेदारी निरंकुशता पर रोक लगाती है। मंत्रिमंडलीय प्रणाली ही ऐसी एकमात्र प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका की जिम्मेदारी की अच्छी व्यवस्था है। जो लोग शासन करते हैं, वे सदा उनके नियंत्रण में रहते हैं, जिनपर शासन होता है।

**(३) मंत्रिमंडलीय प्रणाली नम्य और लचीली है**—मंत्रिमंडलीय प्रणाली की नम्यता और लचीलापन आपात और संकट के समय शक्तिदायक बन जाता है। मंत्रिमंडल एक ऐसी समिति है, जिसमें विधानमंडल को पूरा विश्वास है। इसका अपने पद पर रहना भी विधानमंडल की इच्छा पर निर्भर है। इसलिए आपात के समय मंत्रिमंडल को बेखटके विस्तृत शक्तियाँ दी जा सकती हैं, और जब आपात खत्म हो जाए तब असाधारण शक्तियाँ ले ली जाती हैं।

मंत्रिमंडलीय प्रणाली के दोष—मंत्रिमंडलीय प्रणाली के आलोचक इसमें निम्नलिखित दोष बताते हैं :—

**(१) यह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को भंग करता है**—कहा जाता है कि मंत्रिमंडलीय प्रणाली शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत के विरुद्ध है। इस *प्रणाली में विधायक और कार्यपालक कार्य प्रायः एक ही जगह हो जाते हैं।*

**(२) यह अधिकतर दलीय सरकार की प्रणाली है**—लार्ड ब्राइस ने संसदीय प्रणाली के बारे में कहा है कि इसने दलीय भावना को बढ़ाया है। दलों में सत्ता

पाने के लिए लगातार होड़ रहती है। समारूढ़ दल और विरोधी दल के संघर्ष में बहुत-सा समय और शक्ति बर्बाद होते हैं और उससे समाज में भी संघर्ष पैदा होता है। विभिन्न दलों के लोग हमेशा एक दूसरे के विरोधी रहते हैं।

(३) मन्त्रिमंडल की तानाशाही—मन्त्रिमंडलीय प्रणाली की एक और आलोचना यह है कि इस से विधानमंडल पर मन्त्रिमंडल की तानाशाही हो जाती है। यह आलोचना खासतौर से इंगलैंड मन्त्रिमंडल प्रणाली के बारे में की जाती है कहा जाता है कि इस प्रणाली में विधानमंडल मन्त्रिमंडल द्वारा पहले ही कर लिए गए निश्चयों को दर्ज करने वाला अंग मात्र रह गया है।

(४) युद्ध काल में कमजोर—प्रोफेसर डिसी के अनुसार, मन्त्रिमंडल प्रणाली में काम और जिम्मेदारी कई मन्त्रियों में बटी होती है। फैसले एक आदमी के बजाए कई आदमियों से चर्चा के बाद किए जाते हैं। इस कारण प्रोफेसर डिसी इसे युद्ध और गंभीर राष्ट्रीय संकट के समय कमजोर ढंग की सरकार कहते हैं।

(५) इसकी अस्थिरता—यदि शासन की मन्त्रिमंडलीय प्रणाली बहुदल प्रणाली के अधीन चलाई जाए तो इसमें कार्यपालिका अस्थिर हो जाती है। मन्त्रिमंडल में बार-बार परिवर्तन होने से सरकार अदक्ष हो जाती है। फ्रांस में बहुत से दल हैं और वहां सरकार का जीवन बहुत थोड़े दिन चलता है। कभी-कभी वह सिर्फ एक दिन का होता है, पर मन्त्रिमंडल का औसत जीवन ६ मास से कुछ अधिक रहा है।

प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) प्रणाली की मुख्य विशेषताएं—हम पहले ही कह चुके हैं कि शासन की प्रधानीय (राष्ट्रपतीय) प्रणाली में कार्यपालक और विधायक शाखाएं प्रायः पूरी तरह अलग हो जाती हैं। वह दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र रहकर कार्य करती हैं और दोनों एक दूसरे पर रोक का काम करती हैं। शासन के इस रूप में राज्य का अध्यक्ष असली कार्यपालक है, मन्त्री नहीं। वह संविधान द्वारा तय किए गए किसी निश्चित समय के बीच चुना जाता है। यूनाइटेड स्टेट्स में यह अवधि चार साल है। उसकी शक्तियाँ भी सीधे संविधान से उद्भूत होती हैं, और कार्यपालक क्षेत्र में वह सर्वेसर्वा है। वह अपने मन्त्रिमंडल के मन्त्रियों को नियुक्त और बर्खास्त करता है। वह उसके प्रति ही उत्तरदायी है, और उसके ही निर्देशन और नियन्त्रण के अधीन है। इस प्रकार विधानमंडल का मन्त्रिमंडल पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता।

इसी तरह, विधानमंडल भी कार्यपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होता है। इसका बैठक और विघटन संविधान द्वारा तय की गई तिथियों पर होता है। राज्य का अध्यक्ष न तो इसे आहूत करता है, और न विघटित करता है। मन्त्रिमंडल के सदस्य विधानमण्डल को उसके कामों में मार्ग दिखाने और नियन्त्रित करने के लिए वहां नहीं बैठते। विधेयक मन्त्रिमण्डल के सदस्यों द्वारा नहीं बनाए जाते और

न पास कराए जाते हैं, जैसा कि संसदीय प्रणाली में होता है।

इसके गुण—शासन की संसदीय प्रणाली के ये गुण बताए जाते हैं—

(१) कार्यपालिका की अधिक स्थिरता—राष्ट्रपतीय प्रणाली में कार्यपालिका की स्थिरता सुनिश्चित हो जाती है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। कार्यपालिका एक निश्चित और पूरी अवधि तक बनी रहती है और विधानमण्डल में प्रतिकूल मतदान द्वारा इसे हटाया नहीं जा सकता।

(२) नीति की निरंतरता कार्यपालिका की स्थिरता के कारण देश को कम से कम चार या पाँच वर्ष के लिए एक नीति रहने का निश्चय होता है।

(३) कार्यपालिका की शक्तियाँ एक आदमी में केन्द्रित होने के कारण कार्यपालिका आपात के समय अधिक जोर-शोर से और तत्परता से काम कर सकती है।

(४) दलीय प्रणाली की बुराइयाँ कम होती हैं। शासन की इस प्रणाली में दलीय प्रणाली की बुराइयाँ कम होने की संभावना है। कोई राष्ट्रपति दलगत राजनीति से ऊपर उठ कर निष्पक्ष रूप से काम कर सकता है।

इसके दोष—शासन की राष्ट्रपतीय प्रणाली में निम्नलिखित दोष बताए जाते हैं—

(१) यह एकतंत्रीय होता है—यह प्रणाली एकतंत्रीय, अनुत्तरदायी और खतरनाक बताई जाती है, क्योंकि इसमें कार्यपालक अधिकार एक व्यक्ति, अर्थात् राष्ट्रपति, के हाथ में रहता है। राष्ट्रपति अपने निर्वाचन के बाद जो कुछ चाहे कर सकता है। पर उसे यह सावधानी रखनी होगी कि उसे संविधान के अतिक्रमण का दोषी न ठहराया जा सके।

(२) कार्यपालिका और विधायिका में सहयोग नहीं—कार्यपालिका और विधायिका के बीच सहयोग आज के जमाने में बड़ा आवश्यक माना जाता है। दूसरी ओर, सहयोग न होने से शासन की दोनों शाखाओं में बार-बार गतिरोध आते हैं। विधान और वित्त के कामों में कार्यपालिका का नेतृत्व न होने से एक-एक बात कई-कई कानूनों में आ जाती है और जनता का धन बर्बाद होता है।

(३) शासन की मंद गति—ब्राइस के अनुसार राष्ट्रपतीय प्रणाली सुरक्षा की दृष्टि से बनाई गई थी, चाल की नहीं। शक्तियों के पृथक्करण से सरकारी काम में देर और गड़बड़ी होती है।

## सारांश

एकीय सरकार—एकीय सरकार में सत्ता केन्द्रीय सरकार में निहित है और प्रशासन की इकाइयाँ सुविधा के लिए बनाई जाती हैं। इकाइयों को सत्ता

मौलिक नहीं होती यह ली हुई होती है और केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर बढ़ाई घटाई या वापस ली जा सकती है। केन्द्रीय सरकार स्वामी होती है और इकाइयों की सरकारें इसकी वशवर्ती।

ऐसी सरकार से मुख्य लाभ ये है —

१. विधि, नीति और प्रशासन में एकरूपता,
२. एकीकृत प्रशासन,
३. दृढ़ विदेश नीति, और
४. यह शासन प्रदेशों के अलग होने को रोकता है।

इसकी त्रुटियां ये हैं —

१ प्रशासन न तो प्रभावी होता है और न दक्ष,
२ केन्द्रीय सरकार स्थानीय समस्याओं को नहीं समझ सकती और उनका हल नहीं निकाल सकती,
३ स्थानीय क्षेत्र उन्नति नहीं कर सकते,
४ एकीय सरकार लोकतंत्रीय नहीं होती, और
५ इसमें केन्द्रीयकृत नौकरशाही हो जाती है।

सघान या फैडरेशन—सघान एक नया तरीका है जिसमें सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राज्य मिलकर एक नया राज्य बना लेते हैं। यह सघ आर्थिक या राजनैतिक कारणों से बनाया जाता है।

यह आवश्यक है कि सघ के लिए इच्छा हो। सघ बनाने की इच्छा के लिए अनुकूल परिस्थितियां ये हैं —

१. सघान बनाने वाले राज्यों का पड़ोस
२. भाषा, धार्मिक प्रथाओं, सस्कृति और राजनैतिक परम्पराओं की समानता, पर ये सब बातें बिल्कुल अनिवार्य नहीं हैं।
३. सामान्य राष्ट्रीय भावना का होना,
४. जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक सघान बनाने वाली इकाइयों में समानता।

सघान की विशेषताएं ये हैं —

(क) यह मिलने के परिणाम स्वरूप बनता है,
(ख) इसका लिखित सविधान अवश्य होना चाहिए,
(ग) सविधान अनम्य (Rigid) होना चाहिए,
(घ) केन्द्रीय सरकार की और इकाइयों की शक्तियां सविधान में सुनिश्चित होनी चाहिए,
(ङ) विधायक, कार्यपालक और न्यायिक विभाग स्पष्टतः अलग-अलग होने चाहिए,
(च) न्यायपालिका सर्वोच्च होनी चाहिए, और
(छ) दुहरी नागरिकता।

इसके ये गुण हैं—

(१) संघान में राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वायत्तता दोनों के लाभ हो जाते हैं,

(२) यह केन्द्रीकरण को रोकता है,

(३) यह स्थानीय विधान और प्रशासन के प्रयोग होने देता है,

(४) यह कम-खर्च होता है क्योंकि इसमें दुहरी संस्थाएं नहीं होतीं,

(५) यह इस बात का सर्वोत्तम उपाय है कि राज्य अपनी प्रतिष्ठा बनाए रहें और विदेशी आक्रमण से बचे रहें,

(६) अनेक इकाइयों को एक संघ में लाकर यह अंतर्राष्ट्रीय प्रेम-भाव पैदा करता है;

(७) यह बड़े और विस्तृत देश को विकसित करने का सर्वोत्तम साधन है जिसमें अलग-अलग बस्तियों को अपनी विशेष आवश्यकताओं का विकास, जिस तरह वे ठीक समझें उस तरह करने का अवसर मिलता है।

संघान की कमजोरियां—१. यह विदेशी मामलों के संचालन में दुर्बल होता है।

२. सत्ता दो सरकारों के बीच बट जाने से भीतरी शासन निर्बल हो जाता है।

३. संघान में इसके विघटन की संभावना हमेशा बनी रहती है।

४. प्रशासन और विधान की दुहरी पद्धति से अनावश्यक व्यय और विलम्ब होता है।

५. यह इतने अधिक स्थानीय स्वार्थ पैदा कर देता है कि राष्ट्रीय संगठन को गम्भीर हानि पहुंचती है।

६. क्योंकि संघान अनम्य संविधान होता है इसलिए प्रशासनीय व्यवस्था को समय की बदली हुई आवश्यकताओं के लिए आसानी से अनुकूल नहीं बनाया जा सकता।

७. संघान में शक्तिशाली न्यायपालिका प्रगतिशील दलों के लिए बड़ी रुकावट है क्योंकि यह संविधान के शब्दों पर चलता है किसी कानून की उपयोगिता पर नहीं।

संसदीय शासन—संसदीय शासन को उत्तरदायी या मंत्रिमंडलीय शासन भी कहते हैं। इसकी मुख्य विशेषताएं ये हैं :—

(क) राज्य का अध्यक्ष राजा या राष्ट्रपति नाममात्र को कार्यपालक होता है।

(ख) वास्तविक कार्यकर्ता मंत्री होते हैं।

(ग) मंत्री विधानमण्डल के बहुमत दल के होते हैं।

(घ) वे अपने सब सरकारी कार्यों के लिए विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी

होते हैं और तब तक अपने पदों पर रहते हैं, जब तक (i) वह दल जिसके वह सदस्य हैं बहुमत में रहे, (ii) इसे विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त रहे या (iii) विधान मण्डल के जीवन-पर्यन्त।

(ड) मन्त्री विधानमण्डल के सदस्य तथा अपने कार्यपालक विभागों के अध्यक्ष होते हैं।

शासन की इस प्रणाली के ये लाभ हैं —

१. यह कार्यपालिका और विधायिका में मेल-मिलाप रखती है

२ यह प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र का सर्वोत्तम नमूना है।

३. यह कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र का मिश्रण है।

४. इसमें नम्यता ( Flexibility ) और लोच या प्रत्यास्यता का गुण है।

५. इसका शिक्षात्मक दृष्टि से बड़ा महत्व है।

६. यह आलोचना द्वारा शासन है।

७. यह शासन के सारे तन्त्र को लोकतन्त्रीय रूप देने में सफल हुई है।

इसकी हानियाँ.—

१. यह शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को तोड़ती है।

२. यह अस्थिर और उतार-चढ़ाव वाली शासन पद्धति है।

३ मन्त्रियों के पद की अनिश्चितता रहती है और यह दूरदर्शिता-पूर्ण नीति नहीं पैदा करती।

४ विरोधी पक्ष सदा विरोध करता रहता है।

५. यह गैर पेशेवर लोगों द्वारा शासन है।

६ मन्त्री राजनीतिज्ञ लोग होते हैं और उन्हें बहुत से अन्य राजनैतिक कार्य रहते हैं इसलिए वे सरकारी काम में पूरा ध्यान नहीं दे सकते।

७. यह दलीय सरकार होती है और इसमें राजनैतिक फायदा उठाया जाता है।

८. यह पद्धति, विशेषकर घापानों में, निर्बल सिद्ध होती है।

शासन का राष्ट्रपतीय या प्रधानीय रूप—यह शासन का प्रतिनिध्यात्मक रूप है पर उत्तरदायी रूप नहीं। कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। राज्यों का मुख्य कार्यपालक अध्यक्ष जैसे यूनाइटेड स्टेट्स में राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालक होता है और उसका पद निश्चित काल तक चलता है। वह अपने मन्त्री चुनता है जो उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका और विधायिका में पूर्ण पृथकता रहती है।

लाभ—१. यद्यपि यह शासन का प्रतिनिध्यात्मक रूप है तो भी यह विधानमण्डल की अदलती-बदलती इच्छा पर निर्भर नहीं होता।

का मताधिकार पागल आदमी के हाथ में तलवार देने के समान बताया जाता था।

(२) सम्पत्ति-सम्बन्धी अर्हता—सम्पत्ति सम्बन्धी अर्हता के पक्ष में पहली दलील यह दी जाती है कि जिन लोगों के पास कोई सम्पत्ति है उनका ही उचित रूप से देश में कोई जोखिम माना जा सकता है, और उन्हें ही मताधिकार दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर, जिन लोगों के पास कोई सम्पत्ति नहीं, उन्हें मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि वे अपने ही जैसे आदमियों को विधानमण्डल के लिए चुनेंगे। ऐसे व्यक्तियों में हमेशा उन लोगों को शोषित करने की प्रवृत्ति रहेगी जिनके पास सम्पत्ति है।

दूसरे, यह दलील दी जाती है कि मताधिकार उन व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए जो सरकार को कर देते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल सम्पत्ति सम्बन्धी अर्हता का भी प्रबल समर्थक था। वह यह मानता था कि जो लोग कर नहीं देते, वे करों से प्राप्त धन को वैसे ही बिना विचारे खर्च करेंगे क्योंकि उनका कुछ नहीं जाता।

(३) लिंग सम्बन्धी अर्हता—बहुत काल तक मताधिकार सिर्फ पुरुषों को था, स्त्रियों को नहीं। जो लोग स्त्रियों के मताधिकार के विरोधी हैं वे इस बात पर बल देते हैं कि स्त्री घर की रानी है और मातृ कार्य ही उसका उचित कार्य है। प्रकृति ने उसे राजनैतिक जीवन के लिए नहीं बनाया। उसके राजनीति में हिस्सा लेने से परिवार के जीवन में निश्चित रूप से गड़बड़ पड़ेगी। तब बच्चों को कौन पालेगा और घर के कामों की देख-भाल कौन करेगा इसके अलावा राजनीति के गंदे काम में पड़ने से स्त्रियों को मिलने वाला सम्मान और प्रतिष्ठा भी खत्म हो जाएँगे।

आम वयस्क मताधिकार के पक्ष में युक्तियाँ—लोकतन्त्र के बारे में आजकल जो हमारे विचार हैं, उन्हें देखते हुए ऊपर दी हुई दलीलों में से किसी में भी आज की दुनिया में कोई बल नहीं। आजकल सब वयस्कों को, शिक्षा, सम्पत्ति और लिंग सम्बन्धी अर्हताओं का बिना विचार किये, मताधिकार दिया जाता है। आम वयस्क मताधिकार के पक्ष में ये युक्तियाँ हैं—

(१) समता का अर्थ है समान मताधिकार—समता लोकतन्त्र का परम आवश्यक तत्व है। राजनैतिक समता के बिना कोई समता नहीं हो सकती। राजनैतिक समता का मिलना तभी सुनिश्चित हो सकता है जब सब नागरिकों को मताधिकार हो।

(२) शासन से सबका वास्ता है—जिस बात से सबका वास्ता है, वह सबको ही करनी चाहिए। सरकार, कानून और नीतियाँ सब लोगों से वास्ता रखते हैं। इस प्रकार, सब नागरिकों को कानून बनाने में और सरकार की नीतियाँ तय करने में हिस्सा लेने का मौका होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब सब नागरिकों को मताधिकार हो।

(३) किताबी शिक्षा आवश्यक नहीं—यह याद रखना चाहिए कि मताधिकार के ठीक प्रयोग के लिए राजनैतिक शिक्षा की आवश्यकता है, किताबी शिक्षा की

नहीं। राजनैतिक शिक्षा का अर्थ यह है कि आदमी को शासन तन्त्र के काम करने और देश के सामने मौजूद समस्याओं का पता होना चाहिए। यह ज्ञान तभी हो सकता है जब कोई नागरिक पढ़ना-लिखना जानता हो। यह ठीक है कि किताबी शिक्षा नागरिक को ठीक तरह का ज्ञान इकट्ठा करने में मदद देती है, पर इसे मताधिकार देने की कोई शर्त नहीं बनाया जा सकता। इसके अलावा, लोकतन्त्र स्वयं लोगों को शिक्षित करता है। इस प्रकार यह कहना कि मताधिकार से पहले शिक्षा होनी चाहिए, दोनों चीजों को उल्टे क्रम में रखना है।

(४) सब लोग कर देते हैं—हम इस दलील की सचाई मानते हैं कि जो लोग कर देते हैं उन्हें ही मताधिकार होना चाहिए। पर इस दलील का सम्पत्ति के धारण से कोई सम्बन्ध नहीं। मताधिकार सम्पत्तिशाली वर्गों तक ही सीमित रखने से समुदाय के अन्य सब भागों और हितों से बड़ा अन्याय होगा। आज की दुनिया में कर प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप में हम में से सब देते हैं; अकेले सम्पत्तिशाली वर्ग ही नहीं देते। गरीब से गरीब आदमी भी दियासलाई खरीदता है और इस प्रकार सरकार को उत्पादन शुल्क देता है। इस तरह जो लोग सरकार के खर्च के लिए धन देते हैं, उनके पास यह देखने का उपाय अवश्य होना चाहिए कि वह धन कैसे खर्च किया जा रहा है। यह वे तभी कर सकते हैं, यदि उन्हें मत देने का और अपने शासन कर्त्ताओं के चुनाव में हिस्सा लेने का अधिकार हो।

(५) समता में लिंग की समता भी है—लोकतन्त्र के बढ़ने के साथ साथ स्त्रियों के मताधिकार की मांग भी बढ़ती रही है। सिद्धान्त के रूप में, लोकतन्त्र एक आदमी और दूसरे आदमी में कोई भेद-भाव नहीं करता। तो, इसे लिंग का भेद-भाव क्यों करना चाहिए? स्त्रियां शारीरिक दृष्टि से दुर्बल हो सकती हैं पर और दृष्टियों से वे पुरुषों से किसी बात में घटिया नहीं होतीं। तर्क करने और समझने की शक्तियां जो मत के उचित प्रयोग के लिए परमावश्यक हैं दोनों लिंगों में समान होती हैं। शरीर से दुर्बल होने के कारण स्त्रियों को अपनी रक्षा के लिए विधि और समाज की आदमी से अधिक आवश्यकता भी है। इस लिए विधियां बनाने में उन का हाथ होना और भी जरूरी है।

दूसरे, स्त्री को मताधिकार न देने का मतलब है स्त्रियों को अच्छे नागरिक बनने की प्रवृत्ति से वंचित करना। हम पहले देख चुके हैं कि नागरिकता के लिये बच्चे को प्रशिक्षित करने में माता क्या हिस्सा ले सकती है। यदि उन्हें नागरिक भावना से वंचित कर दिया जाये तो वे अपने बच्चों को कुछ भी शिक्षा न दे सकेंगी।

मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष विधान—आधुनिक लोकतन्त्र का रूप प्रतिनिध्यात्मक है। विधियां साधारणतया निर्वाचकमण्डल द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों द्वारा बनाई जाती हैं, पर प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की बड़ी आलोचना की गई है। कहा जाता है कि विधान मण्डल सारे देश के हितों की उपेक्षा करते हुए दलगत भावना से विधियां बनाते हैं। दूसरे, हो सकता है कि किसी खास समय किसी खास मामले

स्पष्ट करने का अधिक अच्छा ढंग यह है कि यह आवश्यक रूप से सब लोगों की राय नहीं होती, पर सुनिश्चित रूप से सब लोगों के लिए राय होती है। दूसरे शब्दों में, यह वह राय है जिसका लक्ष्य किसी खास वर्ग के बजाय सारी जनता का कल्याण होता है। जिस राय का लक्ष्य किसी खास समुदाय, वर्ग या महाजन का लाभ है, वह वर्गीय राय कहलाएगी।

आवश्यक नहीं कि यह बहुमत की राय हो—*आवश्यक नहीं कि लोकमत* बहुमत की राय हो यद्यपि यह अधिकतर लोगों का मत हो तो अधिक अच्छा होगा पर कभी-कभी बहुमत की राय स्वार्थ-भरी या वर्गहित देखने वाली हो सकती है और अल्पमत की राय जनसाधारण के हित पर विचार करने वाली हो सकती है। उस अवस्था में अल्पमत की राय लोकमत होगी। उदाहरण के लिए, १९४७ में भारत का विभाजन होने पर जब हिन्दुओं और सिखों को पाकिस्तान से खदेड़ दिया गया तब भारत में बहुमत पाकिस्तान से युद्ध के पक्ष में था। भारत में थोड़े बहुत लोग यह अनुभव करते थे कि ऐसा कार्य हमारी नई पायी हुई आजादी के लिए हानिकारक होगा। *इस प्रकार इस मामले में अल्पमत की राय ही लोकमत है।*

लोकतन्त्र में लोकमत का महत्व—प्रथम तो, लोकमत होने का सवाल सिर्फ लोकतन्त्र में ही पैदा होता है। तानाशाही में कोई लोकमत नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें विचार और भाषण की आजादी नहीं होती। दूसरे, लोकमत को *अन्य रायों से अलग करने की कठिनाई भी लोकतन्त्र में ही पैदा होती है।* तानाशाही में अगर कोई अभिमत होता भी है, तो वह सिर्फ एक होता है। वहाँ जनता की राय वही होती है जो सरकार की। सरकार की राय से भिन्न राय रखने वाले आदमी *को देशद्रोही माना जाता है और देशद्रोही को कठोर दण्ड दिया जाता है।*

लोकतन्त्र लोकमत द्वारा शासन है। लोकतंत्र में लोकमत केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कार्यसंचालन में विभिन्न स्थानों पर आता है। विधानमंडल और कार्यपालिका दोनों को लोकमत द्वारा की गई आलोचना और प्रशंसा पर उचित विचार करना पड़ता है। लोकतन्त्र में सामाजिक जीवन के सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी लोकमत बड़ा प्रभाव डालता है। सच तो यह है कि लोकतन्त्र की प्रगति ही प्रबुद्ध, प्रगतिशील और जागरूक लोकमत पर निर्भर है।

प्रबुद्ध लोकमत के बनने के लिए आवश्यक शर्तें—किसी देश में प्रबुद्ध लोकमत बन सके इसके लिए जीवन की निम्नलिखित अवस्थाओं का होना अनिवार्य है —

(१) विचार और बोलने की आजादी—लोगों को सोचने और अपनी बात कहने की आजादी होनी चाहिए। यदि सोचने और बोलने की आजादी नहीं है तो लोकमत का निर्माण नहीं हो सकता और न वह प्रकट किया जा सकता है। इसलिए प्रबुद्ध

लोकमत के लिए यह बात आवश्यक है कि आपस में स्वतन्त्रतापूर्वक चर्चा और आलोचना हो। इसके लिए शासन लोकतन्त्रीय होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के शासन में ही सोचने, बोलने और अपनी बात प्रकट करने की आजादी की गारंटी रहती है।

(२) स्वतन्त्र अखबार—क्योंकि अधिकतर लोग अखबारों और पत्र पत्रिकाओं के मत को ही अपना मत बना लेते हैं, इसलिए शुद्ध लोकमत के लिए स्वतन्त्र ईमानदार और निष्पक्ष अखबारों का होना एक और आवश्यक शर्त है। प्रेस या अखबार किसी वर्ग या समुदाय के हित साधन के उपकरण नहीं होने चाहिए, और न उनपर सरकार का नियन्त्रण होना चाहिए। अखबारों को जनता के सामने सही और पक्षपातरहित समाचार और विचार रखने चाहिए।

(३) शिक्षा—बुद्धि को तेज करने, ज्ञान को बढ़ाने, और दृष्टिकोण को बड़ा करने के लिए शिक्षा बहुत आवश्यक है। शिक्षा जनता की तर्क और आलोचना करने की योग्यता बढ़ाती है और लोगों को स्वतन्त्र विचार की आदत पड़ती है। अनपढ़ और अज्ञानी आदमी गलत प्रचार से गुमराह हो सकता है। बुद्धिमान और जानकार व्यक्ति ही अच्छी और स्वतन्त्र राय रख और प्रकट कर सकता है। इसलिए शिक्षा दृढ़ और प्रबुद्ध लोकमत बनाने में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। शिक्षाप्रणाली साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से रहित होनी चाहिए, क्योंकि स्कूलों और कालिजों में बने हुए विचार और मत स्थायी से होते हैं।

(४) मेल मिलाप—सुस्थिर और प्रबुद्ध लोकमत मेल मिलाप और सद्भावना के वातावरण में ही तरक्की करता है। जनता की आपस में पूर्ण विश्वास और समझ-बूझ होनी चाहिए और उसका जीवन सन्तोषपूर्ण होना चाहिए। आपसी ईर्ष्या और अविश्वास अच्छे लोकमत के बड़े दुश्मन हैं। सामाजिक जीवन में साम्प्रदायिक दंगों या मजदूरों और मालिकों के झगड़ों से उथल पुथल न होनी चाहिए।

(५) अवकाश और खुशहाली—आम लोग सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर उसके विचार प्रकट कर सकें इसके लिए उनके पास उन समस्याओं के अध्ययन के लिए काफी खाली समय होना चाहिए। खाली समय उन्हें तभी मिल सकता है, जब वह आर्थिक दृष्टि से खुशहाल हों। और इस प्रकार, लोकमत के निर्माण के लिए खाली समय और समृद्धि दोनों जरूरी हैं।

(६) राजनैतिक दल—अखबारों की तरह राजनैतिक दलों का भी लोगों को शिक्षित करने में बहुत बड़ा स्थान है। राजनैतिक दल अपने प्रचार द्वारा लोगों को देश की अनेक समस्याओं की जानकारी देते रहते हैं और इस तरह उन्हें अपनी राय बनाने के योग्य बनाते हैं। पर यह बहुत आवश्यक है कि दल दृढ़ आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर बनाए जाएं। वे धार्मिक आधार पर नहीं होने चाहिएं।

**लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के साधन**—शुरू में ही यह ध्यान रखना चाहिए कि सब लोग अपनी राय खुद नहीं बनाते। उनके पास अनेक समस्याओं के बारे में सारी जानकारी प्राप्त करने के लिए साधन भी नहीं होते और उनके बारे में स्वतन्त्र निर्णय और सम्मति बनाने की योग्यता भी नहीं होती। सब लोगों के पास न इतना समय ही होता है कि वह सार्वजनिक मामलों का अध्ययन और विचार कर सकें। इसलिए अधिकतर लोग किसी न किसी जगह बनी-बनाई राय अपना लेते हैं। सार्वजनिक मामलों में बहुत थोड़े लोग सक्रिय दिलचस्पी लेते हैं। ये लोग पेशेवर राजनीतिज्ञ, राजनैतिक दलों के नेता, विधान सभाओं के सदस्य और पत्रकार होते हैं। इन लोगों का काम है विविध समस्याओं का स्वयं अध्ययन करना और उनके हल तलाश करना। ये लोग अखबारों और सभाओं द्वारा अपने विचारों का प्रचार भी करते हैं, जहाँ से लोग अपनी अपनी पसंद के अनुसार विभिन्न विचार ग्रहण कर लेते हैं।

जो लोग बनी बनाई राय अपना लेते हैं, वे दो तरह के होते हैं। पहली तरह के लोग तो बहुत थोड़े होते हैं, अखबारों और सभाओं में प्रकट की जाने वाली रायों को बहुत तर्क-वितर्क के बाद स्वीकार करते हैं। ये अपना दिमाग खुला रखते हैं, और उन्हें किसी खास दृष्टिकोण के पक्ष या विपक्ष में कोई पूर्वाग्रह नहीं होता। दूसरी तरह के लोग, जो देश की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा होते हैं, कुछ नेताओं के व्यक्तित्व, भाषणों या नारों में बहकर उनके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेते हैं।

लोकमत बनाने के काम में लगे हुए अभिकरण ये हैं—प्रेस या अखबार, सभामञ्च, राजनैतिक दल, सिनेमा, रेडियो, शिक्षा संस्थाएं और विधानमंडल। अब हम लोकमत के बनाने और उसे प्रकट करने में इनमें से प्रत्येक के कार्य पर विचार करेंगे।

**(१) प्रेस या अखबार**—नागरिक शास्त्र में प्रेस का मतलब दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक अखबार और घटनाचक्र सम्बन्धी पुस्तकें हैं। अखबारों में रोज सब तरह की खबरें छपती हैं और उनका मूल्य अस्थायी है। पत्रिकाएं और पुस्तकें कुछ महत्त्वपूर्ण विषय लेकर उन पर विचार करती हैं और इस रूप में उनका मूल्य अधिक स्थायी होता है।

**लोकतन्त्र में प्रेस का कार्य**—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लोकतन्त्र लोकमत द्वारा शासन है। अखबार लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के मुख्य साधन होने के नाते लोकतन्त्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। ये निम्नलिखित कार्य करते हैं।

**जानकारी देने का काम**—अखबारों का पहला काम है लोगों को देश-विदेश की अनेक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक घटनाओं के बारे में जानकारी देते रहना। चूंकि लोकतन्त्र जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए शासन है, इसलिए

यह बहुत आवश्यक बात है कि लोगों को सरकार की नीतियों, निश्चयों और कार्यों के बारे में सब कुछ पता हो। अखबार लोगों को इन सब बातों की जानकारी देते हैं। जानकारी देने के कार्य द्वारा अखबार शासन के संचालन में लोगों की दिलचस्पी बनाये रखते हैं।

**निर्माणात्मक कार्य** - अखबारों का काम सिर्फ जानकारी देने का ही नहीं है, बल्कि निर्माण का भी है। ये पहले लोगों को जानकारी देते हैं, फिर उन्हें अपनी राय बनाने में सहायता देते हैं। समाचार देने के अलावा, अखबार अपने सम्पादकीय लेखों और अग्रलेखों में कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपनी राय भी देते हैं। जनता, जो बनी-बनाई राय अपना लेती है, अखबारों द्वारा प्रकट की हुई राय को ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि अखबार लोकमत को ढालता और संगठित करता है।

**अखबार लोकमत प्रकट करने का माध्यम है**—अखबार सरकारी नीतियों और निश्चयों पर जनता की भावनाओं और प्रतिक्रियाओं को प्रकट करने का साधन *भी है। इस प्रकार अखबार पहले तो लोकमत के निर्माता के रूप में, और फिर उसके* प्रकाशक के रूप में जनता के हित की रक्षा करते हैं। अखबार प्रचार का शक्तिशाली साधन है, और इसलिए उनका जनता पर बड़ा प्रभाव होता है। कोई लोकतन्त्री सरकार इसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकती।

**अखबार सरकार और जनता के बीच मध्यस्थता करता है**—जनता और सरकार के बीच में होने से अखबार को दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त होता है। इसलिए जनता और सरकार में विरोध होने पर वह सर्वोत्तम मध्यस्थ है। यह दोनों तरफ की भावनाओं को हल्का करके बड़ा उत्तम काम कर सकता है। यह उन दोनों को तर्कसंगत होने में सहायता देता है। यह सरकार को अत्याचार से और जनता को क्रान्तिकारी होने से रोकता है। इसलिए अखबार वह मेल-मिलाप बनाए रखता है जो लोकतन्त्र की स्वतन्त्रता के लिए बहुत आवश्यक है।

**अच्छे प्रेस के गुण**—अच्छा प्रेस यानी अखबार सच्चा और निष्पक्ष होना चाहिए। उसे कम महत्त्व की बातों को बड़े बड़े शीर्षक देकर अतिरंजित नहीं करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इसे सनसनीदार खबरें देने और बिक्री बढ़ाने के लिए कलंक लगाए छापने से बचना चाहिए। यदि वह ऐसा न करेगा तो एक ओर तो सरकार और जनता के बीच और दूसरी ओर, लोगों में परस्पर खाई चौड़ी हो जाएगी।

इसी प्रकार, अखबार को अपनी खबरों और विचारों में ईमानदार और निष्पक्ष होना चाहिए। इसे सरकार या किसी दल की स्वार्थसिद्धि या किसी समुदाय विशेष का हित-साधन नहीं करना चाहिए। अगर अखबार पक्षपात करने वाला है तो जनता की स्वाधीनता और समाज की शांति खतरे में पड़ जाएगी। हमारे देश में विभाजन से पहले के दिनों में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कटुता बढ़ाने की

जिम्मेदारी बहुत हद तक अखबारों पर थी। इस प्रकार अच्छे प्रेस का काम लोगों में तनाव के बजाय मेल मिलाप पैदा करना होना चाहिए।

(२) सभामंच—नागरिक शास्त्र में सभामंच से मतलब उस जगह से है जहां से सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये जाते हैं। सब सरकार की नीतियों और कामों के विरुद्ध जनता की शिकायतें प्रचारित करने का एक साधन है। यह ऐसा स्थान भी है जहाँ सरकार के सदस्य अपने कामों और नीतियों की सफाई देते हैं। इसलिए सार्वजनिक सभाओं में लोगों को दोनों तरफ की बात सुनने का मौका मिलता है। वे अपनी इच्छानुसार निष्कर्ष निकाल सकते हैं और अपनी राय बना सकते हैं।

(३) राजनैतिक दल—किसी राजनैतिक दल का मुख्य काम सत्ता प्राप्त करना है। लोकतन्त्र में राजनैतिक सत्ता उनके हाथ में रहती है, जो बहुमत में होते हैं। इसलिए प्रत्येक राजनैतिक दल अपने लिए अधिक से अधिक अनुयायी शामिल करने का यत्न करता है। इस प्रयोजन के लिए, राजनैतिक दल अपनी नीतियों और कार्यक्रमों का प्रचार करते रहते हैं। चुनावों से पहले यह प्रचार तीव्र कर दिया जाता है क्योंकि अधिकतर लोग उस समय ही सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी दिखाते हैं। राजनैतिक दल चुनाव के मैनीफेस्टो या आदेशपत्र निकालते हैं, और सार्वजनिक सभाएं करते हैं। उनमें से प्रत्येक दल अपने कार्यक्रम और नीति के पक्ष में बोलता है। इसलिए राजनैतिक दल अपने-अपने कार्यक्रम के पक्ष में लोगों को शिक्षित करते हैं, और लोकमत सगठित करते हैं।

(४) सिनेमा—आधुनिक काल में सिनेमा भी लोकमत बनाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन हो गया है। कुछ दृष्टियों से फिल्म का काम अखबारों के काम से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सब लोग अखबार नहीं पढते, पर उनमें से अधिकतर लोग फिल्में देखते हैं। इसलिए सिनेमा घरों में दिखायी जाने वाली समाचार चित्रावली अधिक लोगों को लाभ पहुँचाती है। फिल्मों का रूप चित्रात्मक होने से लोगों को बहुत-सी बातें आसानी से समझाना सम्भव हो जाता है। जनता की चेतना को सचेत किया जा सकता है और फिल्मों में हृदयस्पर्शी कहानियाँ पेश करके अनेक सामाजिक और आर्थिक बुराइयों के खिलाफ लोकमत को आसानी से सगठित किया जा सकता है।

(५) रेडियो—लोकमत के सगठनकर्ता के रूप में रेडियो, अखबार, सिनेमा और सभामंच इन तीनों के थोड़े-थोड़े लाभ का सयोग है। अखबार की तरह रेडियो भी खबरें प्रसारित करके और उनपर टीकाटिप्पणी करके लोकमत सगठित करता है। सार्वजनिक हित के अनेक विषयों पर वार्ताएं और बातचीत की व्यवस्था करके रेडियो अप्रत्यक्ष सभामंच का काम करता है। सिनेमा की तरह रेडियो मनोरंजन और शिक्षा एक साथ देता है। मनोरंजन के साथ शिक्षा देने के उदाहरण देहाती प्रोग्राम और स्त्रियों तथा बच्चों के प्रोग्राम हैं।

इसलिए रेडियो का स्थान प्रेस से भी अधिक महत्वपूर्ण है। अखबार तो सिर्फ पढ़े-लिखे आदमी के लिए उपयोगी है, पर रेडियो अनपढ़ लोगों के लिए भी फायदेमंद है। भारत में अधिकतर लोगों के अनपढ़ होने के कारण यहाँ जन-साधारण को शिक्षित करने में रेडियो का उपयोग लाभदायक हो सकता है। इसका सहारा लेकर हम कई सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बुराइयों को हटा सकते हैं और जनता के दृष्टिकोण को अधिक प्रगतिशील बना सकते हैं। रेडियो का एक और लाभ यह है कि इसके जरिये एक साथ लाखों लोगों से अपनी बात कही जा सकती है। इस प्रकार रेडियो से थोड़ी-सी देर में लोकमत संगठित करना आसान हो जाता है।

पर यह याद रखना चाहिए कि प्रेस की तरह रेडियो का भी दुरुपयोग किया जा सकता है। अधिकतर देशों में रेडियो पर सरकार का एकाधिकार है। वहाँ इसका अच्छा या बुरा उपयोग करना सरकार के ही हाथ में है। यदि सरकार जनता का हित चाहती है तो वह रेडियो का सही उपयोग करेगी। पर अगर किसी देश की सरकार स्वार्थी लोगों के हाथ में है, तो रेडियो से जनता को गुमराह किया जाएगा। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान में सरकार लोगों में भारत-विरोधी भावनाएं फैलाने में इसका उपयोग कर रही है।

(६) शिक्षा संस्थाएं—स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय आदि शिक्षा संस्थाएं भविष्य के नागरिकों के प्रशिक्षण की जगह हैं। नवयुवक के निर्माण काल में इन संस्थाओं में लिए हुए विचार और बनाई हुई राय बाद के जीवन में भी उसके साथ चलती रहती है।

(७) विधानमण्डल—किसी लोकतन्त्रीय देश के विधानमण्डल में सब स्थितियों और विचारों के लोग होते हैं। इसलिए इसमें होने वाले भाषण लोकमत को प्रकट भी करते हैं और बनाते भी हैं।

## राजनैतिक दल

राजनैतिक दल किसे कहते हैं—कोई राजनैतिक दल उन नागरिकों का एक संगठित समूह है जिनके सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से विचार होते हैं, और वे जिस नीति को मानते हैं, उसे लागू करने के लिए सरकार पर नियंत्रण हासिल करने के वास्ते एक राजनैतिक इकाई के रूप में काम करते हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल मानवीय स्वभाव की निम्न दो विशेषताओं पर आधारित है—

(१) लोगों की राय अलग-अलग होती है।

(२) साथ ही वे, स्वभाव से यूथचारी या समूह बनाकर रहने वाले (Gregarious) होते हैं। अपने मतभेदों के बावजूद उन्हें कुछ मोटे उसूलों पर एकमत होना ही पड़ता है और उस नीति को अमल में लाने के लिए काम करना ही पड़ता है।

किसी राजनैतिक दल का आवश्यक तत्व—किसी राजनैतिक दल को, सही

जाता है। इसलिए दल साधारणतया उम्मीदवारों के चुनाव में बहुत सावधानी रखते हैं।

**(३) दल उम्मीदवार के लिए समर्थन प्राप्त करता है**—दल उम्मीदवार को न केवल खड़ा करता है बल्कि उसके लिए जोर-शोर से समर्थन भी हासिल करता है। अकेले आदमी के लिए खुद वोट हासिल करना बड़ा मुश्किल काम है। दल के लिए यह कुछ कठिन काम नहीं, क्योंकि इसकी शाखाएं सारे देश में होती हैं।

**(४) दलीय प्रणाली गरीब आदमी को भी चुनाव में खड़ा होने का मौका देती है**—दलीय प्रणाली गरीब आदमियों को भी चुनाव में खड़े होने का मौका देती है। हर चुनाव में प्रचार पर कुछ न कुछ खर्च करना पड़ता है। कभी-कभी चुनाव का खर्च हजारों रुपये होता है। अगर उम्मीदवार गरीब आदमी हो तो दल उसकी ओर से खर्च करता है। अगर राजनैतिक दल न होते तो सिर्फ धनी आदमी चुनावों में खड़े होते।

**(५) दलीय प्रणाली शिक्षाप्रद है**—राजनैतिक दल अपने चुनाव प्रचार द्वारा लोगों को शिक्षित करते हैं और लोकमत संगठित करते हैं।

**(६) सफल होने पर दल अपने वचनों के अनुसार कानून बनाते हैं**—चुनावों के बाद बहुमत पक्ष को शासन का नियन्त्रण मिलता है। तब इसका कर्त्तव्य है कि लोगों को दिए हुए वचनों के अनुसार कानून बनाए। किसी दल के लिए जनता को दिए हुए वचन का भंग करना अच्छा नहीं।

**(७) विरोधी दल या प्रतिपक्ष का कार्य**—जिन दलों को विधानमंडल में बहुमत नहीं मिलता वे मिलकर एक प्रबल विरोधी दल के रूप में संगठित हो जाते हैं। लोकतन्त्र में विरोधी दल भी महत्वपूर्ण हिस्सा लेता है। इसका यह काम है कि मतदाताओं को सरकार की कमियों के बारे में निरंतर जानकारी देता रहे और इस तरह शासन को दक्ष बनाए। प्रबल विरोधी दल सरकार को अत्याचारी होने से रोकता है, क्योंकि लोकमत में जरा सा भी परिवर्तन सत्तारूढ़ सरकारी दल को उसके पद से हटा सकता है। पर यह याद रखना चाहिए कि विरोधी दल को हानिकारक आलोचना नहीं करनी चाहिए। इसे सत्तारूढ़ दल को रचनात्मक सुझाव देने चाहिए। विरोधी दल को राष्ट्रीय हित के कामों में सरकार से सहयोग करना चाहिए।

**दलीय प्रणाली के लाभ**—दलीय प्रणाली के मुख्य लाभ यह हैं :—

(१) दलीय प्रणाली लोकतन्त्र को चलने योग्य बनाती है। अगर दल न होते तो प्रतिनिधियों का चुनाव और सरकारों का निर्माण कठिन काम होता। हम ऊपर देख चुके हैं कि लोकतन्त्रीय सरकार के गठन में दलों का क्या स्थान है।

(२) दल अपने चुनाव आंदोलनों द्वारा लोगों को शिक्षित करते हैं। ये चुनाव मैनिफेस्टो निकालते हैं और देश के सामने मौजूद समस्याओं के बारे में लोगों

को जानकारी देने के लिए सार्वजनिक सभाएं करते हैं। दल न केवल जनता को जानकारी देते हैं, बल्कि वे उन्हें अपनी राय बनाने में भी सहायता देते हैं।

(३) दलीय प्रणाली सरकार के अत्याचारी व्यवहार से बचाती है। जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर रहती है, वे सदा दल के नियंत्रण में रहते हैं। वे जो चाहें नहीं कर सकते क्योंकि कोई भी दल मतदाताओं का विश्वास नहीं खोना चाहता। फिर, विरोधी पक्ष सरकार के कार्यों पर कड़ी निगरानी रखते हैं। वे मतदाताओं को जो लोकतन्त्र में असली मालिक हैं उसकी कमियाँ बताते रहते हैं।

(४) दलीय प्रणाली जनता और शासन के बीच में आवश्यक कड़ी होती है। यह शासक और शासित के बीच पुल का काम करती है।

(५) दलीय प्रणाली प्रधानों के लिए खासतौर से उपयोगी है। प्रधानों में दलीय प्रणाली द्वारा सहयोग संभव हो जाता है।

(६) शासन की प्रधानीय या राष्ट्रपतीय प्रणाली के लिए भी दलीय प्रणाली विशेष उपयोगी है। इस प्रणाली में दल ही कार्यपालिका और विधायिका को सहयोग से काम करने योग्य बनाता है।

दलीय प्रणाली की हानियाँ—दलीय प्रणाली के आलोचक इसमें कुछ दोष बताते हैं,—

(१) कहा जाता है कि दलीय प्रणाली राष्ट्रीय एकता के लिए घातक है। यह लोगों में अनावश्यक और कृत्रिम भेदभाव पैदा करती है। लोग परस्पर-विरोधी समूहों में बट जाते हैं, और एक दूसरे को अपना दुश्मन समझने लगते हैं। यह भेद-भाव राष्ट्रीय प्रगति में बाधा डालता है।

(२) कहा जाता है कि दलीय प्रणाली किसी देश के जीवन को मशीन जैसा बना देती है। विरोधी दल सरकार द्वारा पेश किए गए सब कानूनों का विरोध करना अपना कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार, सरकार विरोधी दल द्वारा कही जाने वाली सब बातों पर गम्भीरता से विचार नहीं करती।

(३) दलीय प्रणाली की एक और आलोचना यह है कि यह दल के सदस्यों की व्यक्तिता (Individuality) को नष्ट कर देती है। उन्हें दल के अनुशासन में रहना पड़ता है, और इसलिए वे किसी मामले पर दल की इच्छाओं के विरुद्ध स्वतन्त्र रुख नहीं अपना सकते। आत्मसम्मानी आदमी को प्रायः दल का नियंत्रण अपने लिए असहनीय मालूम होता है। इसलिए दलीय प्रणाली बहुत से अच्छे नागरिकों को सार्वजनिक जीवन से अलग रखती है।

(४) दलीय प्रणाली के विरोधियों का कहना है कि यह प्रणाली समाज के नैतिक स्तर को कम करती है। दलीय प्रचार में झूठ और कपट कथाओं का बोल-बाला होता है। दल मतदाताओं को रिश्वत भी देते हैं।

**दो-दलीय और बहु-दलीय प्रणाली**—किसी राज्य में दो या अधिक राजनैतिक दल हो सकते हैं। जब दलों की संख्या दो होती है, तब यह दो-दलीय प्रणाली कहलाती है। जब दो से अधिक दल होते हैं, तब यह बहु-दलीय प्रणाली कहलाती है। इंग्लैंड और यूनाइटेड स्टेट्स में दो-दलीय प्रणाली है। इन दोनों देशों में राजनैतिक दलों की असली संख्या दो से अधिक है पर शासन के प्रसंग में मुख्य दल दो हैं। यूरोप के बहुत से देशों में, खास कर फ्रांस में बहुत से दल हैं जिनकी संख्या कई बार १० से २० तक है। जहाँ बहुत से दल होते हैं, वहाँ उनके दल बहुत ठोस नहीं। वे संसद में राजनैतिक समूह होते हैं।

**दो-दलीय प्रणाली के गुण**—दो-दलीय प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसमें अधिक स्थायी और स्थिर सरकार का होना सुनिश्चित हो जाता है। विधानमण्डल में एक दल का निश्चित बहुमत अवश्य हो जाता है। इसलिए मन्त्रिमण्डल को सदा इस बहुमत का समर्थन मिलने का निश्चय हो सकता है। सब सदस्य एक दल के होने से उनमें मतभेद का भय भी नहीं रहता।

दूसरे, दो-दलीय प्रणाली में सच्चे अर्थों में प्रतिनिध्यात्मक शासन होता है। एकमात्र यही प्रणाली है जिसमें मतदाता सरकार को सीधे चुनते हैं। दोनों दलों के सुनिर्दिष्ट कार्यक्रम होते हैं और उनके आधार पर निर्वाचकों से सीधी अपील की जाती है। निर्वाचक दोनों कार्यक्रमों में से एक चुन लेते हैं और यह निश्चय करते हैं कि कौनसा दल सत्तारूढ़ हो।

तीसरे, दो-दलीय प्रणाली विरोधी दल को सरकार के साथ अपने सम्बन्ध में अधिक स्वतन्त्रता और जिम्मेदार बनाती है। इस प्रणाली में सरकार की आलोचना अधिक जिम्मेदारी से की जाती है।

**दो-दलीय प्रणाली के दोष**—दो-दलीय प्रणाली के विरोधियों का कहना है कि इससे मन्त्रिमण्डल में तानाशाही पैदा होती है। इस प्रणाली में मन्त्रिमण्डल को विधानमण्डल में ठोस बहुमत मिल जाता है। विधानमण्डल को दलीय अनुशासन के कारण उसके कार्यों और निश्चयों का समर्थन करना पड़ता है। इसलिए, मन्त्रिमण्डल को विधानमण्डल से ऊँची स्थिति प्राप्त हो जाती है, और वह प्रायः विधानमण्डल को अपनी इच्छानुसार चलाता है।

दूसरे, बहुमत दल अपनी स्थिति मजबूत होने के कारण शक्ति से अन्धा हो जाता है। यह सम्भावना रहती है कि जब तक इसे बहुमत प्राप्त है तब तक यह अल्पमत के हितों की कुछ भी परवाह नहीं करेगा।

तीसरे, दो-दलीय प्रणाली में निर्वाचकों को एक या दूसरे दल के सारे कार्य-

परिपृच्छा—यह वह साधन है जिससे किसी ऐसे कानून पर, जिस पर विधान-मडल अपनी राय प्रकट कर चुका है, निर्वाचकों का फैसला मागा जाता है।

प्रारम्भण या उपक्रमण—यह वह साधन है जिससे निर्वाचकों की कोई निश्चित सख्या कोई खास कानून बनाने के लिए विधानमण्डल को आदेश दे सकती है।

परिपृच्छा और प्रारम्भण या उपक्रमण के पक्ष में युक्तियाँ —

(१) वे जनता की सर्वोच्चता का प्रमाण है।

(२) उनके द्वारा जनता की वास्तविक इच्छा का पता लगाया जा सकता है।

(३) ये राजनैतिक दलों के प्रभाव को कम करते हैं।

(४) इन विधियों से बनाये गए कानूनों का पालन अधिक आसानी से होता है।

(५) वे लोगों को शिक्षित करते हैं और उनमें देशभक्ति के भाव बढ़ाते हैं।

परिपृच्छा और प्रारम्भण या उपक्रमण के विपक्ष में युक्तियाँ—(१) वे विधान मण्डल के प्रभाव को कम करते हैं, और विधानमण्डल लापरवाह होने लगता है। (२) इन उपायों से कानूनों के प्रारूप (Draft) में त्रुटि रहती है। (३) विधेयक या तो सबको मानना पड़ता है या रद्द करना पड़ता है। (४) ये उपाय राजनैतिक दलों की बुराइयों को ही बढ़ाते हैं। (५) शिक्षा देने की दृष्टि से इनका कोई मूल्य नहीं।

लोकमत : लोकमत किसे कहते हैं—आदर्श लोकमत उसे कह सकते हैं जिसका लक्ष्य जनसाधारण की भलाई हो और जो बहुत से लोगों का हो। पर यह जरूरी नहीं कि यह सबका या बहुमत का विचार हो। कोई वर्ग-पक्षपाती विचार लोकमत नहीं सकता।

लोकतन्त्र लोकमत द्वारा शासन होता है और इसकी प्रगति लोकमत के प्रबुद्ध और सजग होने पर निर्भर होती है।

प्रबुद्ध लोकमत के लिये आवश्यक शर्तें :—

(१) विचार और भाषा की आजादी।

(२) स्वतन्त्र प्रेस।

(३) आम शिक्षा।

(४) लोगों को अवकाश और खुशहाली का होना।

(५) आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर अच्छी तरह सगठित राजनैतिक दल होने चाहिए।

लोकमत बनाने और प्रकट करने के साधन—अधिकतर लोग बनी-बनाई राय अपना लेते हैं। लोकमत बनाने के काम में लगे हुए साधन हैं प्रेस, सभामच राजनैतिक दल, सिनेमा, रेडियो, शिक्षा संस्थाएँ और विधान-मण्डल।

**प्रेस**—प्रेस लोगों को देश-विदेश की अनेक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक घटनाओं का परिचय देता है और सम्पादकीय लेखों और अग्रलेखों द्वारा उन्हें अपनी राय बनाने में मदद देता है। प्रेस द्वारा सरकार की नीतियों और फैसलों पर जनता की भावनाओं और प्रतिक्रियाओं का प्रचार भी किया जा सकता है। इस प्रकार, यह सरकार को अत्याचारी होने से रोकता है। अच्छा प्रेस विचारशील, निष्पक्ष और ईमानदार रहकर खबरें और विचार देने वाला होना चाहिए। तब ही यह सरकार और जनता के बीच मध्यस्थता का काम कर सकता है।

**सभामंच**—सभामंच जनता की शिकायतें लोगों के सामने लाने का साधन है और यह सरकार के ऊँचे अधिकारियों को अपने कामों और नीतियों की सफाई देने का मौका देता है।

**राजनैतिक दल**—राजनैतिक दल लोगों को शिक्षित करते हैं और अपने चुनाव प्रचार द्वारा लोकमत संगठित करते हैं। वे मैनिफेस्टो निकालते हैं, और सार्वजनिक सभाएँ करते हैं।

**सिनेमा**—सिनेमा कुछ दृष्टियों से प्रेस से भी अधिक महत्वपूर्ण साधन है, क्योंकि यह अनपढ़ पर भी असर डालता है। फिल्मों में आने वाली खबरें और दिल को छूने वाली कहानियाँ बहुत जल्दी लोकमत संगठित करती हैं।

**रेडियो**—रेडियो में अखबार, सिनेमा और सभामंच तीनों के गुण इकट्ठे हो जाते हैं। स्त्रियों, बच्चों और देहातियों के विशेष कार्यक्रम मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा देते हैं। रेडियो ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा लोकमत कम से कम समय में संगठित किया जा सकता है। इसके द्वारा हम कई सामाजिक और आर्थिक बुराइयों को भी दूर कर सकते हैं।

**शिक्षा संस्थाएँ**—स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय भावी नागरिकों के प्रशिक्षण की जगह हैं। यहाँ ग्रहण किये गए विचार और बनाई गई राय बहुत कुछ स्थायी ढंग की होती हैं।

**विधानमण्डल**—विधानमण्डल में होने वाले विवाद लोकमत को प्रकट भी करते हैं और बनाते भी हैं।

**राजनैतिक राजनैतिक दल किसे कहते हैं**—राजनैतिक दल उन नागरिकों का संगठित समूह है जिनके सार्वजनिक सवालों पर एकसे विचार हों और जो अपनी नीति को लागू करने के लिए सरकार पर नियन्त्रण हासिल करने के वास्ते एक राजनैतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार किसी राजनैतिक दल में चार बातें होनी जरूरी हैं—

(१) इसके सदस्यों का कुछ मूल सिद्धान्तों पर एक मत होना चाहिए। (२) यह एक संगठित समूह होना चाहिए। (३) इसे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वैधानिक उपायों से काम लेना चाहिए। (४) इसे राष्ट्रीय हित के लिए काम करना चाहिए,

किसी पथ या वर्ग के हितों के लिए नहीं।

**राजनैतिक दल के कार्य**—प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र राजनैतिक दलों के बिना काम नहीं चल सकता। वे *निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य करते हैं* —(१) वे चुनाव के लिए उम्मीदवार छाँटते हैं। (२) प्रत्येक दल अपने उम्मीदवार के चरित्र और आचरण की गारण्टी होता है। (३) प्रत्येक दल अपने उम्मीदवार के लिए समर्थन प्राप्त करता है। (४) राजनैतिक दलों की सहायता से गरीब लोग भी चुनावों में लड़ सकते हैं। (५) दल लोकमत को शिक्षित और संगठित करते हैं। (६) विरोधी दल सरकार को दक्ष बनाये रखते हैं और लोगों को सरकार के अत्याचार से बचाते हैं।

**दलीय प्रणाली के लाभ** - राजनैतिक दलों के जो कार्य हैं, वे दलीय प्रणाली के लाभ भी हैं। उपर्युक्त बातों के अलावा, प्रधानीय या राष्ट्रपतीय और संघानीय प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका के बीच तथा संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच आवश्यकता सम्बन्ध दलीय प्रणाली के द्वारा ही होता है।

**दलीय प्रणाली की हानियाँ**—(१) दलीय प्रणाली राष्ट्रीयता के लिए अहितकर है। (२) यह देश के राजनैतिक जीवन को मशीन जैसा बना देती है। (३) यह दल के सदस्यों की व्यक्तिता को दबा देती है। (४) यह समाज के नैतिक स्तर को नीचा करती है।

**दो-दलीय प्रणाली के लाभ**—(१) इसमें सरकार अधिक स्थायी और स्थिर रह पाती है। (२) यही एक प्रणाली है जिसमें सीधे मतदाता सरकार को चुनता है। (३) इसमें विरोधी दल सरकार के साथ अपने सम्बन्धों में अधिक व्यवस्थित और जिम्मेदार होता है।

**दो-दलीय प्रणाली के दोष**—(१) यह मन्त्रिमण्डल की तानाशाही को जन्म देती है। (२) बहुमत दल विधानमण्डल में अपनी ठोस ताकत के कारण शक्ति से अन्धा होने लगता है। (३) दो-दलीय प्रणाली में मतदाता को किसी एक पक्ष का सारा कार्य क्रम मानना या ठुकराना होता है। कोई बीच का रास्ता नहीं हो सकता।

**बहुदलीय प्रणाली के गुण और दोष**—दो-दलीय प्रणाली के जो गुण हैं वे बहुदलीय प्रणाली में दोष बन जाते हैं, और उसके दोष इसके गुण बन जाते हैं।

## प्रश्न

१. आप वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं? इस प्रणाली पर कौन-कौन से मुख्य आक्षेप किये जाते हैं और आप उनका क्या जवाब देंगे?

1. What do you understand by the system of Universal Adult Franchise? What are the chief objections to this system and how will you meet them?

२. परिपृच्छा और प्रारम्भण या उपक्रमण से आप क्या समझते हैं? उनके गुण और दोष क्या हैं?

2 What do you understand by 'Referendum' and 'Initiative'? What are their merits and demerits?

३. लोकमत का क्या अर्थ है? लोकतन्त्रीय राज्य में इसका क्या महत्त्व है? (प० वि० अप्रैल, १९५०)

3 What is meant by 'Public Opinion'? Estimate its importance in a democratic state. (P.U April 1950)

४. लोकमत के निर्माण और प्रकट करने के अनेक साधनों का संक्षेप में वर्णन करो। (प० वि० अप्रैल, १९५२)

4 Describe briefly the various organs or agencies for the formation and expression of public opinion. (P.U April, 1952)

५ लोकमत बनाने में प्रेस का क्या स्थान है? (प० वि अप्रैल, १९४९)

5 What part does the press play in moulding public opinion? (P U April, 1949)

६ लोकमत बनाने में प्रेस और रेडियो द्वारा किये गए काम का उल्लेख करो। (प० वि० सितम्बर, १९५० और अप्रैल १९४८)

6 Describe the part played by press and broadcasting in moulding public opinion. (P.U. Sept. 1950 and April 1948)

७. दलीय सरकार किसे कहते हैं? इसके गुण और दोष लिखो। (प० वि० सितम्बर, १९५०)

7. What is Party Government? Mention its merits and demerits. (P U Sept. 1950)

८. राजनैतिक दल से आप क्या समझते हैं? राजनैतिक दलों का राज्य के काम और नागरिकों की शिक्षा में क्या स्थान है? प० वि० अप्रैल, १९५२)

8 What do you understand by 'Political Party'? What part do political parties play in the work of the state and the education of the citizen? (P U. April, 1952)

*Or*

किसी लोकतन्त्रीय राज्य में राजनैतिक दलों के कार्य का वर्णन करो।

Describe the role of political parties in a democratic state.

९. क्या दलीय प्रणाली लोक तन्त्र के लिए आवश्यक है? दलीय प्रणाली की आलोचना करो। (प० वि० अप्रैल, १९५४)

9. Is party system necessary for democracy? Give a criticism of the party system. (P U April, 1954)

१०. दो-दलीय और बहु-दलीय प्रणालियों के गुण और दोषों की तुलना करो।

10 Examine the relative merits and demerits of two-party and multi-party system.

अध्याय : : १६

# संस्कृति और सभ्यता, अवकाश और मनोरंजन

## संस्कृति और सभ्यता

नागरिक शास्त्र अच्छी नागरिकता का विज्ञान है और अच्छे नागरिक को सभ्य और सुसंस्कृत आदमी होना चाहिए। इसलिए नागरिक शास्त्र का अध्ययन करते हुए हमारे लिए संस्कृति और सभ्यता के अर्थों को समझना जरूरी हो जाता है।

**संस्कृति का अर्थ**—संस्कृति की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। इसे समय-समय पर अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग अर्थ समझा है। पर हम इस अध्याय में संस्कृति शब्द के दो अर्थों का उल्लेख करेंगे—

१. व्यापक अर्थ में संस्कृति का मतलब।

२. सीमित या ठीक अर्थ में संस्कृति का मतलब।

**संस्कृति का व्यापक अर्थ**- मोटे तौर से कहें तो संस्कृति शब्द का प्रयोग आदमी के बनाये हुए सारे वातावरण और आदमियों के सारे सीखे हुए व्यवहार (Learnt behaviour) के लिए हो सकता है।

मनुष्य अपने कार्य से अपने प्राकृतिक वातावरण को, अपने बनाए हुए वातावरण में बदल देता है। मोटे तौर से कहा जाय तो आज तक मनुष्य ने जो कुछ किया है, वह सब मनुष्य निर्मित वातावरण के अन्दर आ जाता है। इसमें मनुष्य की सब भौतिक और अभौतिक सफलताएँ आ जाती हैं। इस तरह मोटे अर्थ में, संस्कृति शब्द में किताबें, औजार और मशीनें आदि सारे भौतिक आविष्कार तथा दर्शन, कला, साहित्य और विज्ञान आदि, अभौतिक सफलताएँ भी आ जा जाएँगी।

मनुष्य का सीखा हुआ व्यवहार भी मोटे अर्थ में संस्कृति है। मनुष्य का अधिकतर व्यवहार सीखा हुआ या संस्कार-जनित व्यवहार है। उदाहरण के लिए, चलना, बोलना, खाना और पीना—ये सब सीखे हुए व्यवहार है। योग के आसनों और डुबकी लगाने में सांस रोकने की अवस्था में सांस लेना भी एक सीखा हुआ व्यवहार हो जाता है। खड़े होना और बैठना भी प्राकृतिक नहीं, बल्कि अनजाने में सीखे हुए व्यवहार हैं।

इस तरह मोटे अर्थ में संस्कृति शब्द में मनुष्यों के सब कार्य और सफलताएं आजाएँगी।

**सही अर्थ में संस्कृति का मतलब**—मैकाइवर ने संस्कृति शब्द का प्रयोग

2. What do you understand by 'Referendum' and 'Initiative'? What are their merits and demerits?

३. लोकमत का क्या अर्थ है? लोकतन्त्रीय राज्य में इसका क्या महत्त्व है? (पं० वि० अप्रैल, १९५०)

3. What is meant by 'Public Opinion'? Estimate its importance in a democratic state (P U April, 1950)

४. लोकमत के निर्माण और प्रकट करने के अनेक साधनों का संक्षेप में वर्णन करो। (प० वि० अप्रैल, १९५२)

4. Describe briefly the various organs or agencies for the formation and expression of public opinion. (P.U April, 1952)

५. लोकमत बनाने में प्रेस का क्या स्थान है? (प० वि अप्रैल, १९४९)

5. What part does the press play in moulding public opinion? (P U April, 1949)

६. लोकमत बनाने में प्रेस और रेडियो द्वारा किये गए काम का उल्लेख करो। (प० वि० सितम्बर, १९५० और अप्रैल १९४८)

6. Describe the part played by press and broadcasting in moulding public opinion (P U. Sept. 1950 and April 1948).

७. दलीय सरकार किसे कहते हैं? उसके गुण और दोष लिखो। (प० वि० सितम्बर, १९५०)

7. What is Party Government? Mention its merits and demerits. (P U. Sept, 1950)

८. राजनैतिक दल से आप क्या समझते हैं? राजनैतिक दलों का राज्य के काम और नागरिकों की शिक्षा में क्या स्थान है? प० वि० अप्रैल, १९५२)

8. What do you understand by 'Political Party'? What part do political parties play in the work of the state and the education of the citizen? (P U April, 1952)

*Or*

किसी लोकतन्त्रीय राज्य में राजनैतिक दलों के कार्य का वर्णन करो।

Describe the role of political parties in a democratic state

९. क्या दलीय प्रणाली लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है? दलीय प्रणाली की आलोचना करो। (प० वि० अप्रैल, १९५४)

9. Is party system necessary for democracy? Give a criticism of the party system. (P U April, 1954)

१०. दो-दलीय और बहु-दलीय प्रणालियों के गुण और दोषों की तुलना करो।

10. Examine the relative merits and demerits of two party and multi-party system

अध्याय : १६

# संस्कृति और सभ्यता, अवकाश और मनोरंजन

## संस्कृति और सभ्यता

नागरिक शास्त्र अच्छी नागरिकता का विज्ञान है और अच्छे नागरिक को सभ्य और सुसंस्कृत आदमी होना चाहिए। इसलिए नागरिक शास्त्र का अध्ययन करते हुए हमारे लिए संस्कृति और सभ्यता के अर्थों को समझना जरूरी हो जाता है।

**संस्कृति का अर्थ**—संस्कृति की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। इसमें समय समय पर अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग अर्थ समझा है। पर हम इस अध्याय में संस्कृति शब्द के दो अर्थों का उल्लेख करेंगे—

१. व्यापक अर्थ में संस्कृति का मतलब।

२. सीमित या ठीक अर्थ में संस्कृति का मतलब।

**संस्कृति का व्यापक अर्थ**—मोटे तौर से यह तो संस्कृति शब्द का प्रयोग आदमी के बनाये हुए सारे वातावरण और आदमियों के सारे सीखे हुए व्यवहार (Learnt behaviour) के लिए हो सकता है।

मनुष्य अपने कार्य से अपने प्राकृतिक वातावरण को, अपने बनाए हुए वातावरण में बदल देता है। मोटे तौर से कहा जाय तो आज तक मनुष्य ने जो कुछ किया है, वह सब मनुष्य निर्मित वातावरण के अन्दर आ जाता है। इसमें मनुष्य की सब भौतिक और अभौतिक सफलताएँ आ जाती हैं। इस तरह मोटे अर्थ में, संस्कृति शब्द में किताबें, औजार और मशीनें आदि सारे भौतिक आविष्कार तथा दर्शन, कला, साहित्य और विज्ञान आदि, अभौतिक सफलताएँ भी आ जा जाएँगी।

*मनुष्य का सीखा हुआ व्यवहार भी मोटे अर्थ में संस्कृति है।* मनुष्य का अधिकतर व्यवहार सीखा हुआ या संस्कार जनित व्यवहार है। उदाहरण के लिए, चलना, बोलना, खाना और पीना—ये सब सीखे हुए व्यवहार हैं। योग के आसनों और डुबकी लगाने में साँस रोकने की अवस्था में साँस लेना भी एक सीखा हुआ व्यवहार हो जाता है। खड़े होना और बैठना भी प्राकृतिक नहीं, बल्कि अनजाने में सीखे हुए व्यवहार हैं।

इस तरह मोटे अर्थ में संस्कृति शब्द में मनुष्यों के सब कार्य और सफलताएँ आ जाएँगी।

**सही अर्थ में संस्कृति का मतलब**—मैकाइवर ने संस्कृति शब्द का प्रयोग

भारत में प्रचार के उन साधनों के द्वारा भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित और प्रचारित करने के यत्न किये जा रहे हैं।

सभ्यता किसे कहते हैं—मैकाइवर के मतानुसार, मनुष्यों के कुछ काम उसकी बाह्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए होते हैं। इनका सम्बन्ध मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं से होता है। इनका अपना कोई भीतरी महत्व नहीं होता। उनका इसलिए महत्त्व है कि वे मनुष्य की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन है। फिर ये कार्य सांस्कृतिक कार्यों से इस बात में भिन्न है कि ये अनिवार्य ढंग के हैं। वे मनुष्य के अस्तित्व के लिए और शान्ति तथा आराम के लिए आवश्यक हैं। एक अच्छी सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था, औजार, मशीनें, खेती, उद्योग, पोशाक और मकान ये सब आदमियों के लिए जरूरी है। ये सब चीजें सभ्यता शब्द के अन्दर आ जावेंगी। इस प्रकार सभ्यता शब्द का प्रयोग उन सारी भौतिक सफलताओं के लिए किया जा सकता है जो किसी समाज ने सुखी और आराम का जीवन बिताने की कोशिश में प्राप्त की है।

## सभ्यता और संस्कृति में अंतर

सभ्यता और संस्कृति दो बिल्कुल अलग शब्द हैं, और इनके बारे में किसी तरह का भ्रम न होना चाहिए। उनमें भेद बताने वाली बातें नीचे दी जाती हैं —

संस्कृति आत्मपरक (Subjective) है और सभ्यता वस्तुपरक (objective)—संस्कृति आदमी के भीतरी जीवन से सम्बन्ध रखती है और इसलिए आत्मपरक या आत्मा सम्बन्धी होती है। दूसरी ओर सभ्यता बाहरी जीवन से सम्बन्ध रखती है और इसलिए वस्तुपरक या भौतिक होती है।

संस्कृति व्यक्तिगत और व्यक्तिगत होती है तथा सभ्यता सामूहिक और साँझी—वस्तुपरक और भौतिक होने के कारण सभ्यता में किसी परिवार के सब सदस्य या किसी देश के या सारी दुनिया के सब लोग हिस्सेदार हो सकते हैं। इसलिए यह सामूहिक होती है, और इसका स्वामित्व साझा होता है। दूसरी ओर संस्कृति जो आत्मपरक या आत्मिक होती है, हमेशा व्यक्तिगत चीज होती है। यह एक ही परिवार में भी आदमी-आदमी में अलग-अलग होती है। यह आवश्यक नहीं कि सुसंस्कृत आदमी का पुत्र भी सुसंस्कृत हो और न कोई सुसंस्कृत पिता अपनी अन्य चीजों के साथ अपनी संस्कृति अपने पुत्रों को पहुँचा ही सकता है।

सभ्यता की तुलना की जा सकती है पर संस्कृति की नहीं—हम सभ्यता के बारे में अपना फैसला दे सकते हैं। एक सभ्यता को दूसरी से घटिया या बढ़िया कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, आज की रेलगाडी को पुराने जमाने की बैलगाड़ी से अच्छा बताया जा सकता है। इसलिए वर्तमान सभ्यता को पहले की सभ्यता से ऊँचा बताया जा सकता है। पर सांस्कृतिक वस्तुओं के बारे में फैसला देना कठिन है। उदाहरण के लिए, हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय संगीत पश्चिमी संगीत से बढ़िया या घटिया है।

सभ्यता सदा तरक्की करती है, संस्कृति नहीं—सभ्यता के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह सदा तरक्की करती है। उदाहरण के लिए कुछ सदी पहले की अपेक्षा आज संचार के साधन अधिक अच्छे और तेज हैं। दूसरी ओर, हो सकता है कि संस्कृति में कोई प्रगति न हो। भारत में अनेक शताब्दियों से संस्कृति के क्षेत्रों में कोई प्रगति नहीं हुई।

सभ्यता एक देश से दूसरे देश में ले जाई जा सकती है, पर संस्कृति नहीं—सभ्यता को आसानी से एक देश से दूसरे देश में ले जाया जा सकता है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि रेडियो, हवाई जहाज और सिनेमा संसार के सब लोगों की साझी सम्पत्ति है। संस्कृति को एक देश से उठाकर दूसरे देश में नहीं ले जाया जा सकता। इसका कारण यह है कि सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति की नकल करना अधिक कठिन है। भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता अपनाने में कुछ भी समय नहीं लगा। पर अपनी संस्कृति में वे बहुत दिनों तक अंग्रेजी शासन रहने के बाद भी भारतीय बने रहे। सच बात यह है कि संस्कृति की नकल नहीं की जा सकती, इसे आत्मसात करना पड़ता है। इस प्रकार संस्कृति अपनाने वाले को अधिक कोशिश करनी पड़ती है।

संस्कृति का क्षेत्र सीमित है—संस्कृति का क्षेत्र सभ्यता की अपेक्षा बहुत सीमित है। जिस तरह सब लोग बिजली के पंखे की हवा लेना पसन्द करते हैं इसी तरह सब लोग रेडियो रखना चाहते हैं, पर हममें से सब लोग शास्त्रीय संगीत को पसन्द नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि पंखे की हवा का आनन्द लेने के लिए आपको इसकी यन्त्र-व्यवस्था जानने की जरूरत नहीं है, पर शास्त्रीय संगीत समझने के लिए आपको स्वयं संगीत का अच्छा ज्ञान होना चाहिए।

संस्कृति और सभ्यता में सम्बन्ध—इतने भेद होते हुए भी संस्कृति और सभ्यता एक दूसरे से बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। मन से वातावरण को पृथक् नहीं किया जा सकता। संस्कृति मन को निर्मित करती है, और सभ्यता इसके वातावरण को, इसलिए संस्कृति और सभ्यता को भी अलग-अलग नहीं किया जा सकता। ये एक-दूसरे पर आश्रित हैं और एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। ये दोनों घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए, हम यह नहीं कह सकते कि परिवार स्वाभाविक इच्छा का परिणाम है या सिर्फ अपनी उपयोगिता के कारण बना हुआ है।

सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालती हैं। उदाहरण के लिए, आज का हमारा बहुत-सा ज्ञान छापेखाने के आविष्कार का परिणाम है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने लोगों के कार्यों विचारों और दृष्टिकोण में ऊपर से नीचे तक परिवर्तन कर दिया है। इसी प्रकार विचारों और रुचियों में सुधार से सभ्यता की गति बढ़ जाती है।

## अवकाश और मनोरंजन

अवकाश किसे कहते हैं—जबसे समाज बना है, तब से ही मनुष्य पसीना बहाकर अपनी रोजी कमाता रहा है। कुछ थोड़े से आदमियों को छोड़ दीजिए। अधिकतर लोगों को अपनी रोटी कमाने के लिए काम करना पड़ता है। पर कोई भी आदमी लगातार काम करता नहीं रह सकता, और लगातार काम करने पर शरीर और मन स्वस्थ नहीं रह सकता। आदमी की बात छोड़िए, पर मशीन भी बहुत दिनों तक, बिना विश्राम के, काम नहीं कर सकती। इसे भी सफाई और तेल की जरूरत होती है। मशीन की तरह मनुष्य के शरीर को भी ताजगी हासिल करने के लिए आराम की जरूरत होती है। काम के समय के बीच जो यह आराम का समय होता है, उसे अवकाश या फुरसत कहते हैं।

अवकाश और निकम्मापन एक नहीं—अवकाश या फुरसत और निकम्मापन को एक नहीं समझ लेना चाहिए। इन दोनों में दो तरह से भेद हैं। प्रथम तो, अवकाश के लिए काम जरूरी है। निकम्मपन का मतलब है काम का अभाव। अवकाश का मतलब है काम के बाद आराम। निकम्मेपन में आराम ही आराम होता है, काम नहीं होता। दूसरे, अवकाश से सुख मिलता है, यह शरीर और मन के स्वास्थ्य के लिए सहायक होता है। दूसरी ओर, निकम्मापन असुखकर और थकाने वाला होता है। यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। अवकाश आदमी की शक्ति और दक्षता बढ़ाता है। निकम्मापन न केवल शक्ति और दक्षता को कम करता है, बल्कि यदि बहुत दिनों तक जारी रहे तो यह मनुष्य को किसी भी काम के योग्य नहीं रहने देता। इस प्रकार, अवकाश और निकम्मापन दो भिन्न वस्तुएँ हैं।

अवकाश सुस्ती पैदा करने वाले या थकानेवाले काम से दूर भागने को भी नहीं कहते। अवकाश, जैसा कि पहले कहा गया है, काम के बाद आराम को कहते हैं। चाहे वह काम दिलचस्प हो या शुष्क। असल में सब तरह के काम कुछ न कुछ थकानेवाले होते हैं और कुछ न कुछ समय बाद रूखे लगने लगते हैं, इसलिए, हर काम के बाद अवकाश की जरूरत होती है।

अवकाश पहले और अब—प्रायः कहा जाता है कि पुराने जमाने के सरल और शान्त जीवन के मुकाबिले में आधुनिक जीवन की दौड़-भाग अवकाश नहीं मिलने देती। पर इस विश्वास का आधार पिछले जमाने का गलत अध्ययन है। पहले अवकाश बड़े विषम रूप में बँटा हुआ था। कुछ थोड़े से लोगों को अवकाश मिलता था और बाकी लोग उनका काम करते थे। प्राचीन ग्रीस और रोम में अवकाश पाने का अधिकार सिर्फ नागरिकों को था, जो सारी आबादी का बहुत थोड़ा हिस्सा होते थे। दासों और स्त्रियों को, जो आबादी का काफी बड़ा हिस्सा होते थे, अवकाश नहीं मिलता था। पुराने जमाने में अवकाश का मूल्य भी इतना नहीं

था, जितना अब। पुराने जमाने की तुलना में आजकल अवकाश के अनेक तरह के उपयोग के बारे में भी ज्ञान बढ़ गया है।

## आधुनिक काल में अवकाश का विस्तार

आधुनिक काल में अवकाश का आदर और विस्तार, दोनों बढ़ गए हैं। इस वृद्धि के कई कारण हैं और वे नीचे दिये जाते हैं—

१. विज्ञान—वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि से अनेक समय बचाने के उपाय निकल आये हैं। मनुष्य मशीन की सहायता से आजकल बहुत कम समय में काम पूरा कर लेता है, इसलिए वह अवकाश का आनन्द बहुत अधिक ले सकता है। मशीन में काम करने पर उतनी परिश्रान्ति भी नहीं होती। इस प्रकार, इस व्यस्त दुनिया में अगर आदमी को विश्राम के लिए थोड़ा थोड़ा समय भी मिल जाय तो वह फिर ताजा हो सकता है। अतीत काल में शारीरिक मेहनत अधिक होती थी, जिसके कारण आराम का समय भी अधिक चाहिए था।

२. शिक्षा—व्यापक शिक्षा आदमी की बुद्धि को पैना कर देती है और टेक्नीकल शिक्षा से उसे अपने काम का अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है। शिक्षित और कुशल मजदूर अशिक्षित या अकुशल मजदूर की अपेक्षा बहुत जल्दी अपना काम खतम कर लेगा।

३ आदमी का महत्व बढ़ गया है—पहले आदमी का कोई महत्व नहीं था। दासता का होना ही इसका प्रमाण है। लोकतन्त्र के आने से ही आदमी का महत्व बढ़ा है। लोकतन्त्र में हर आदमी एक जैसा अच्छा माना जाता है। गरीब नागरिक की भलाई का भी उतना ही महत्व है, जितना धनी नागरिक की भलाई का।

४. मंगलकारी या हितकारी राज्य—आजकल राज्य मंगलकारी राज्य होता है। राज्य किसी को कमजोर और गरीब नागरिकों की मेहनत का नाजायज लाभ नहीं उठाने देता। फैक्टरी कानून पास करके राज्य मालिक को मजदूरों को छुट्टियाँ देने को मजबूर करता है। काम के घंटे निश्चित हो जाते हैं, और काम के घण्टों के बीच में आराम का समय रखा जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त बातों के कारण, समाज के गरीब और कमजोर नागरिकों को भी अवकाश मिलना सम्भव हो गया है।

के योग्य कमाई करने में बहुत कठिनाई भी न होनी चाहिए।

**आदमी के लिए अवकाश का महत्त्व**—हम देख चुके हैं कि अवकाश आदमी के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। खेल, बाहर की सैर, पढ़ाई और बातचीत उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिए आवश्यक हैं। अनेक तरह के शौक और सांस्कृतिक काम, जैसे बागबानी, संगीत, कविता और पेंटिंग आत्मा का भोजन है। बिना अवकाश के इनमें से कोई काम नहीं किया जा सकता। अवकाश में ही आदमी ध्यान और आत्म निरीक्षण कर सकता है। इस प्रकार, अवकाश आदमी के शारीरिक, मानसिक और भौतिक अवकाश के लिए बहुत आवश्यक है।

**लोकतन्त्र के लिए अवकाश का महत्त्व**—लोकतन्त्र और अवकाश का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों एक दूसरे की सहायता पर निर्भर हैं। हम देख चुके हैं कि लोकतन्त्र ने अवकाश का दायरा बढ़ा दिया है। अवकाश भी लोकतन्त्र के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लोकतन्त्र में दक्षता तभी आती है जब उसके नागरिक उसके कार्य संचालन में दिलचस्पी लें। उदाहरण के लिए, हर नागरिक को अपना मत देने से पहले, अनेक समस्याओं और प्रश्नों पर सावधानी से विचार करना चाहिए। उसे सरकार के रोजाना के कामों की जानकारी रखनी चाहिए। इसलिए लोकतन्त्र के हर नागरिक के लिए अवकाश बहुत आवश्यक है जिससे उसे अनेक सार्वजनिक सवालों को सोचने के लिए काफी समय मिल सके।

**संस्कृति और सभ्यता के लिए अवकाश का महत्त्व**—सब देशों में सभ्यता और संस्कृति का काम अवकाश वाले वर्गों ने ही किया है। समृद्धि, शिक्षा, ऊँचे दर्जे का विचार, जो सभ्यता और संस्कृति के लिए इतनी जरूरी चीजें हैं, अवकाश वाले वर्गों में ही मिल सकती हैं। आविष्कार, बड़ी बड़ी कलाकृतियाँ, दर्शन, साहित्य और कविता मजदूरों से नहीं पैदा हुई। कारण यह है कि मजदूर अधिकतर समय अपनी रोजी कमाने में लगाता है। काम के बाद उसे जो अवकाश मिलता है, वह इतना ही होता है कि उसके शरीर और मन को आराम मिल जाए। मजदूर को अपने व्यक्तित्व की जरूरतों की ओर ध्यान देने का समय नहीं मिलता इसलिए आदमी को ऊँचे किस्म का विचार करने के लिए, सांस्कृतिक कार्यों के लिए, खाली समय अधिक मिलना चाहिए।

**मनोरंजन किसे कहते हैं?**—मनोरंजन का अर्थ है, काम से आने वाली थकान और सुस्ती को हटाने के लिए आनन्दपूर्ण कार्य। मनोरंजन से न केवल शरीर और मन की ताजगी हासिल होती है, बल्कि आदमी के व्यक्तित्व का विकास भी होता है। अवकाश मनोरंजन के लिए बहुत आवश्यक है। अवकाश का ठीक उपयोग करने से ही मनोरंजन होता है। यदि अवकाश का ठीक उपयोग न किया जाय तो उसका उलटा परिणाम होगा।

## अवकाश का ठीक उपयोग या मनोरंजन के रूप

अवकाश के ठीक उपयोग के बारे में अलग-अलग लोगों के अलग-अलग विचार हैं। पर निम्नलिखित कामों को अवकाश का ठीक उपयोग माना जा सकता है —

१ खेल—खेल-कूद जैसे फुटबाल, हॉकी, क्रिकेट, और टैनिस तथा शिकार खेलना, कूदना, दौड़, तैरना, घुड़सवारी और पैदल यात्रा या हाईकिंग दिमागी काम करने वाले लोगों को विशेष रूप से उपयोगी हैं। बहुत देर तक पढ़ने या दफ्तर का काम करने के बाद खेलों से शरीर का व्यायाम हो जाता है। स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में ही रह सकता है। ताश, टेबल-टैनिस, बिलियर्ड और कैरम आदि खेलों में शारीरिक थकान नहीं होती। इनमें शारीरिक और दिमागी दोनों तरह के काम करने वालों का मनोरंजन होता है।

खेल-कूद किसी राष्ट्र का स्वास्थ्य बनाने के लिए बहुत आवश्यक है। बहुत से नागरिक गुण, जैसे सहयोग, अनुशासन, आत्मनिर्भरता, टीम की भावना, खिलाड़ीपन की भावना और नेतृत्व खेल के मैदान में ही सीखे जाते हैं। खिलाड़ी को चाहे वह कितना ही अच्छा खेलता हो, स्वार्थपूर्ण खेल न खेलना चाहिए। किसी मैच को जीतने के लिए सहयोग और टीम की भावना बहुत आवश्यक है। खिलाड़ियों को अपने कैप्टन के अनुशासन में रहना चाहिए। उन्हें रैफरी के फैसले मानने चाहिएँ। कैप्टन अच्छा नेता होना चाहिए। उसका अच्छा खिलाड़ी होना आवश्यक है। वह अच्छा परामर्शदाता होना चाहिए, और हार के समय टीम के हौसले को बनाए रखने में समर्थ होना चाहिए। खिलाड़ीपन हार और जीत दोनों में सन्तुलन बनाए रखने के गुण को कहते हैं।

२. शौकिया काम (hobby)—जो लोग शान्त स्वभाव के होते हैं, या शारीरिक मेहनत पसन्द नहीं करते, उनके लिए अवकाश का उपयोग करने का सबसे अच्छा साधन कुछ शौकिया काम हैं। बागवानी, टिकट और सिक्के जमा करना, पहेलियाँ हल करना, फोटोग्राफी, पेंटिंग और संगीत कुछ बड़े मनोरंजक शौक हैं। शौकिया कामों से कई लाभ होते हैं। उनसे मन प्रसन्न होता है। ज्ञान और अनुभव बढ़ते हैं, इसके अलावा उनका सांस्कृतिक महत्व भी है। कभी-कभी शौकिया कामों से आर्थिक लाभ भी हो जाता है।

कुछ लोग अपना खाली समय किताबें, पत्रिकाएँ और अखबार पढ़ने में लगाते हैं। उपन्यास, यात्रा-वर्णन और जीवन-चरित्र पढ़ने में हल्के होते हैं। जीवन-चरित्रों और यात्रा-वर्णनों से प्रेरणा और शिक्षा भी मिलती है। पत्रिकाएँ और अखबार सार्वजनिक घटनाओं का ज्ञान कराते हैं, और अपना मत बनाने ... आदमी

रंजन है। मनोरंजन का एक और साधन रेडियो है। रेडियो और सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा भी देते हैं।

४. सामाजिक सेवा—कुछ लोग, यद्यपि उनकी गिनती थोड़ी है, न तो खेलों में दिलचस्पी रखते हैं, और न किसी शौकिया काम में। ऐसे लोगों को खाली समय का उपयोग सामाजिक सेवा में करना चाहिए। असल में तो हर नागरिक को अपने खाली समय का कुछ हिस्सा सामाजिक सेवा में लगाना चाहिए।

अवकाश का गलत उपयोग—अवकाश का गलत उपयोग भी किया जा सकता है। शराब पीने और जुआ खेलने में अवकाश का उपयोग करना लाभदायक तो है ही नहीं, स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है। अच्छा नागरिक वह है जो अपने खाली समय का अच्छे से अच्छा चाहे वे भौतिक हो या उपयोग करता है।

## सारांश

संस्कृति और सभ्यता संस्कृति का अर्थ—मोटे तौर से कहा जाए तो संस्कृति शब्द का प्रयोग सारे मनुष्य-जनित वातावरण के लिए और मनुष्यों में सारे सीखे हुए व्यवहारों के लिए किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत, मनुष्यों के सब कार्य, चाहे वे भौतिक हों या अभौतिक हों, आजायेंगे।

सीमित अर्थ में संस्कृति शब्द मनुष्य के सिर्फ उन कामों पर लागू होगा जो उसमें सतरालता की संतुष्टि के लिए किए जाते हैं। पेंटिंग, संगीत और मूर्ति निर्माण आदि सब कलाएं, उपन्यास, नाटक और कविता आदि सारा साहित्य, दर्शन और धर्म ऐसे ही कार्य हैं। इस प्रकार, संस्कृति का अर्थ है हमारे विचारों, भावनाओं और इच्छाओं का उचित संस्कार। सुसंस्कृत आदमी वह है जिसका व्यवहार भद्र तथा बुद्धि और आचार परिष्कृत है और जो जीवन के सत्य शिव, सुन्दर को तीव्रता से अनुभव करता है।

संस्कृति आदमी और समाज दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। वह आदमी को प्रसन्न, भद्र, शान्ति प्रेमी और तर्कसंगत बनाती है। संस्कृति नागरिकता के लिए बहुत जरूरी है। नागरिक के रूप में सुसंस्कृत व्यक्ति अपने अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्त्तव्यों पर अधिक ध्यान देता है।

संस्कृति फैलाने के साधन, परिवार, मित्र, स्कूल, कालेज विश्वविद्यालय और अनेक सांस्कृतिक साहचर्य हैं।

सभ्यता किसे कहते हैं—सभ्यता शब्द मनुष्य के कामों के उन परिणामों को सूचित करता है जो बाह्य आत्मा की जरूरतों की पूर्ति करते हैं। आविष्कार, औजार, मशीनें, खेती, उद्योग, कपड़े और मकान सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं।

संस्कृति और सभ्यता में अंतर—(१) संस्कृति आत्मपरक होती है, और

सभ्यता वस्तुपरक, (२) संस्कृति व्यक्तिगत और व्यक्तिगत होती है, सभ्यता सामूहिक और साझी होती है। (३) सभ्यता की तुलना आसानी से हो सकती है, संस्कृति की नहीं, (४) सभ्यता सदा तरक्की करती है, संस्कृति नहीं, (५) सभ्यता एक देश से दूसरे में पहुँचाई जा सकती है, पर संस्कृति नहीं; (६) संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा कम लोगों को प्रभावित करती है।

**संस्कृति और सभ्यता का सम्बन्ध**—बहुत से भेदों के बावजूद इन दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है। मन को वातावरण से अलग नहीं किया जा सकता। संस्कृति मन को बनाती है और सभ्यता इसके वातावरण को। परस्पर सम्बन्धित होने के अलावा वे एक दूसरे पर असर भी डालती हैं।

**अवकाश और मनोरंजन अवकाश किसे कहते हैं?**—काम के घंटों के बीच में जो आराम का समय होता है, उसे अवकाश कहते हैं। इस प्रकार अवकाश निकम्मेपन से भिन्न वस्तु है। निकम्मेपन का मतलब है, काम न होना। पर अवकाश का मतलब है काम के बाद विश्राम। दूसरी बात यह कि अवकाश सुख देता है और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। निकम्मापन असुखकर और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

पहले अवकाश कुछ ही लोगों को मिल पाता था और इसका अधिक मूल्य नहीं था। आजकल विज्ञान और शिक्षा के प्रभाव ने अवकाश का परिमाण और दायरा बड़ा हो गया। आधुनिक राज्य मंगलकारी राज्य है, और यह सब आदमियों को समान महत्त्व देता है। इस विचार ने कमजोर और गरीब लोगों के लिए भी अवकाश पाना मुमकिन कर दिया है। समय बचाने वाले साधनों, राज्य के संरक्षण और शिक्षा के अलावा, आर्थिक अभाव से छुटकारा, अवकाश के अस्तित्व के लिए बहुत आवश्यक चीज है।

**अवकाश का महत्व**—अवकाश का सबसे अधिक महत्व व्यक्ति के लिए है। यह उसके शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। दूसरे अवकाश लोकतन्त्र के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। लोकतन्त्र की दक्षता उस अवकाश पर निर्भर है जो इसके नागरिकों को समाज और राज्य की अनेक समस्याओं पर विचार करने के लिए मिलता है। तीसरे, अवकाश संस्कृति और सभ्यता की वृद्धि के लिए आवश्यक है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि आविष्कार, कला की महान् रचनाएं, दर्शन, साहित्य और कविता का सृजन अधिकतर अवकाश वाले लोगों ने ही किया है।

**मनोरंजन किसे कहते हैं?**—मनोरंजन का अर्थ है काम की थकान और नीरसता को दूर करने के लिए कोई आनन्दपूर्ण कार्य। अवकाश का उचित उपयोग करने से ही मनोरंजन होता है।

**अवकाश का उचित उपयोग या मनोरंजन के प्रकार**—(१) खेल-कूद। (२) बागवानी, टिकट और सिक्के जमा करना, पहेलियाँ हल करना, फोटोग्राफी, पेंटिंग,

संगीत और पढ़ना आदि शौकिया काम। (३) सिनेमा, थियेटर और रेडियो आदि मनोरंजन। (४) समाज-सेवा।

अवकाश का गलत उपयोग—शराब पीना और जुआ खेलना अवकाश के गलत उपयोग के उदाहरण हैं

## प्रश्न
## QUESTIONS

१. संस्कृति और सभ्यता शब्दों की सावधानी से व्याख्या कीजिए।
(प. वि अप्रैल, १९५०)

1. Explain carefully the terms 'culture' and civilization'
(P U April, 1950)

२. संस्कृति और सभ्यता शब्दों की परिभाषा दीजिए और इन दोनों में भेद बताइए। (प. वि. अप्रैल १९५३)

2 Carefully define and distinguish between 'culture' and 'civilization (P U April, 1953)

३. आदमी के जीवन में अवकाश का क्या महत्व है ? अवकाश का सब से अच्छा उपयोग कैसे किया जाए ? (प वि अप्रैल १९४९ और सितम्बर १९५०)

3 Estimate importance of leisure in the life of an individual How should leisure be best utilised ?
(P U April 1949 and Sep 1950)

४. अवकाश के मूल्य और सही उपयोग पर एक निबन्ध लिखो।
(प. वि० अप्रैल, १९५०)

4 Write an essay on the value and right use of Leisure ?
(P U April, 1951)

५. किसी नागरिक के जीवन में मनोरंजन सम्बन्धी कार्यों का महत्व बताओ।
(प. वि. अप्रैल, १९५०)

5 Estimate the importance of recreational activities in the life of a citizen (P U April, 1950)

६. नागरिक के जीवन में खेल-कूद का क्या महत्व है ?
(प. वि. १९४८)

6. Discuss the importance of games and sports in the life of a citizen (P U 1948)

# राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद—संयुक्त राष्ट्र संघ

## राष्ट्रवाद

कोई नागरिक सिर्फ अपने राज्य और राष्ट्र का ही सदस्य नहीं है, बल्कि वह सारी मानव-बिरादरी का भी सदस्य है। जहाँ हमने निष्ठाओं को ठीक क्रम में रखने पर विचार किया था, वहाँ हम बता चुके हैं कि नागरिक को अपनी निष्ठाएं ऐसे क्रम में रखनी चाहिएं कि उसकी अपने राष्ट्र और राज्य के प्रति निष्ठा संसार-व्यापी मानव बिरादरी के प्रति उसकी निष्ठा की विरोधी न हो। साथ ही, हमने यह भी बताया था कि मनुष्य में अपने प्रति प्रेम इतना प्रबल है कि अधिकतर लोगों के लिए अपनी निष्ठाओं को ठीक क्रम में रखना असम्भव है। आजकल राष्ट्रवाद की भावना के कारण लोग मानव जाति के प्रति अपनी निष्ठा को, जो अधिक बड़ी और अधिक महत्त्वपूर्ण है, पहचानने को तैयार नहीं। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत-सा तनाव इसी कारण है। इसलिए नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी के लिए राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद की समस्याओं का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में राष्ट्रवाद के शीर्षक के अन्तर्गत हम निम्नलिखित बातों का अध्ययन करेंगे —

(१) राष्ट्रिकता, राष्ट्र और राष्ट्रवाद शब्दों का अर्थ।

(२) राष्ट्रवाद को जन्म देने वाले कारक और उनका आपेक्षिक महत्व।

(३) राष्ट्रवाद के गुण और दोष।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रवाद के शीर्षक के अन्तर्गत हम इन बातों पर विचार करेंगे—

(१) अन्तर्राष्ट्रवाद किन शक्तियों का परिणाम है।

(२) अन्तर्राष्ट्रवाद के लाभ।

(३) अन्तर्राष्ट्रवाद के मार्ग की बाधाएं।

(४) इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य संचालन का भी वर्णन करेंगे।

**राष्ट्रिकता (Nationality)**—राष्ट्रिकता शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता है, जो एकता की भावना से संगठित होते हैं। यह एकता की भावना आत्मपरक एकता या मानसिक एकता है, जिसका कारण, मूलवंश और भाषा, एक धर्म, एक निवास-स्थान, एक इतिहास और परम्परा आदि कुछ वस्तुपरक कारक हैं। पर

राष्ट्रिकता के अस्तित्व के लिए वस्तुपरक या बाहरी एकता या सादृश्य जरूरी नहीं है। जो चीज जरूरी है वह यह है कि लोगों की भावनाएँ और विचार एक होने चाहिएँ। उनका बाह्य रूप एक दूसरे से भिन्न हो सकता है। उनकी भाषा अलग हो सकती है, उनकी पूजा के देवता अलग अलग हो सकते हैं, और उनके वेष आदि अलग-अलग हो सकते हैं।

राष्ट्र—जब कोई राष्ट्रिकता अपने-आपको राजनैतिक निकाय के रूप में सगठित कर लेती है, या जब वह बाहरी एकता भी हासिल कर लेती है, तब वह राष्ट्र कहलाने के योग्य हो जाती है। इसके अनुसार, जो राष्ट्रिकता स्वतन्त्र या स्वतन्त्र होने की इच्छा वाले राजनैतिक निकाय के रूप में सगठित हो गई है, वह राष्ट्र कहलाती है। दूसरे शब्दों में वह तो राष्ट्रीयता और राज्य मिलकर राष्ट्र कहलाते हैं।

राष्ट्रवाद—राष्ट्रवाद का अर्थ है राष्ट्र प्रेम या राष्ट्रीय हित, एकता और स्वतन्त्रता का समर्थन, या राष्ट्रवाद उस भावना को कह सकते हैं जो किसी राष्ट्रिकता को सगठित होने और अपने लिए स्वाधीनता प्राप्त करने को प्रेरित करती है। सक्षेप में, राष्ट्रवाद का अर्थ है, अपने राष्ट्र से प्रेम और उसके हितों को उत्साह-पूर्वक आगे बढ़ाना।

राष्ट्रवाद के कारण—राष्ट्रवाद की भावना में अनेक तत्व हैं। यह एक मूलवंश और भाषा, एक मातृदेश, एक धर्म, साझी सास्कृतिक बातों, साझी परम्पराओं और साझी राजनैतिक आकाक्षाओं जैसे कई कारको का फल है। यह याद रखना चाहिए कि इस भाव को पैदा करने के लिए इनमें से कोई भी कारक परम आवश्यक नहीं, तो भी किसी जाति में इनमें से जितनी अधिक बातें होंगी, राष्ट्रवाद की भावना उतनी ही प्रबल होगी। अब हम इन कारको का महत्व और हिस्सा सक्षेप में नीचे बताएँगे।

साझी भाषा—भाषा के द्वारा विचारों की अदला बदली होती है। साझी भाषा होने से लोग अपनी भावनाओं और विचारों का आदान प्रदान कर पाते हैं और इस प्रकार उनमें एकता पैदा होती है। भारत में अग्रेजों के अग्रेजी चलाने से इस देश में राष्ट्रवाद की वृद्धि में बड़ी सहायता मिली।

साझा मूलवंश—पुरानी कहावत है कि 'अपना अपना, पराया-पराया'। एक ही मूलवंश के लोगों में अवश्य निकटता अनुभव होगी। उनमें जीवन के प्रति एक से विचार और दृष्टिकोण होंगे। पर मूलवंशीय शुद्धता ससार में बड़ी दुर्लभ चीज है। पर मूलवंशों के मामूली मिश्रण से राष्ट्रीय-भावना पैदा होने में कोई रुकावट नहीं आती।

साझा धर्म—इतिहास में धर्म एक महत्वपूर्ण सबंध जोड़ने वाला बल रहा है।]
आज भी यहूदी, जापानी और आयरिश राष्ट्रिकताओं में धर्म एकता का प्रबल बंधन है। पर आजकल साधारणतया धर्म कोई परमावश्यक कारक नहीं रहता। आजकल के राष्ट्रीय राज्य अधिकतर लौकिक राज्य हैं, जहाँ एक से अधिक धर्म साथ साथ रहते हैं।

साझा मातृ-देश—एक ही क्षेत्र पर निवास निस्सन्देह बड़ा शक्तिशाली बंधन है और यह न होने पर राष्ट्रीय भावना दबी रहती है। तो भी, यहूदियों का ऐसा उदाहरण है जिसमें कुछ समय पहले तक एक राष्ट्रिकता थी, पर मातृदेश नहीं था।

*साझी परम्परा और थाती*—कला, दर्शन, साहित्य, भोजन, वेश, आचार, और प्रथाओं की साझी सांस्कृतिक थाती किसी जाति में एकता का प्रबल बंधन है। मूलवंश, भाषा और धर्म की बड़ी भिन्नताओं के बावजूद भारतीय लोगों की एक साझी संस्कृति है, जिसने उनमें और अन्य जातियों में सदा अन्तर किया है। परम्परा लोगों को उन महत्त्वपूर्ण बातों का ध्यान दिलाती रहती है, जिनमें से होकर राष्ट्र ने तरक्की की है। शहीदों और वीरों की स्मृतियां भी परम्परा द्वारा जीवित रहती हैं।

*साझा हित*—साझा आर्थिक हित या साझी प्रतिरक्षा समस्या भिन्न प्रकार के लोगों को भी एक राष्ट्रिकता में सुगठित कर देती है। इन कारकों ने यूनाइटेड स्टेट्स और कनाडा की विभिन्न जातियों को राष्ट्रिकताओं का रूप दे दिया है।

साझा कष्टसहन—एक ही दुश्मन के कारण कष्टसहन की स्मृतियाँ लोगों में एकता की भावना पैदा करने में सबसे अधिक काम करती हैं। भारतीय लोगों को अंग्रेजों के कारण जो कष्ट सहने पड़े उन्होंने भारत में राष्ट्रवाद की गति को बढ़ाया।

*राष्ट्रवाद के गुण*—राष्ट्रवाद के निम्नलिखित गुण बताए जाते हैं:—

(१) राष्ट्रप्रेम या राष्ट्रीय हित, एकता और स्वतन्त्रता का समर्थन के अर्थ में राष्ट्रवाद बिल्कुल ठीक है। यह गुलाम राष्ट्रों को आजादी पाने की प्रेरणा देता है।

(२) राष्ट्रवाद किसी देश को प्रगति की ओर ले जाता है। इस भावना में हर आदमी अपने देश को प्यार करता है और राष्ट्रीय प्रगति में अधिक से अधिक योग देने की कोशिश करता है।

(३) राष्ट्रवाद प्रत्येक राष्ट्र को अपनी संस्कृति का विकास करने के योग्य बनाता है। राष्ट्रों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा रहती है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे से आगे बढ़ने की कोशिश करता है। वे एक दूसरे के अनुभवों से भी सीखते हैं। इससे सारी मानव-जाति की उन्नति होती है।

(४) स्वतन्त्र संस्थाएँ भी राष्ट्रीय राज्यों में अधिक तरक्की करती हैं।

(५) किसी राष्ट्रीय राज्य में ही राज्य की सर्वोच्चता का व्यष्टि की स्वाधीनता से सर्वोत्तम समन्वय होता है।

*राष्ट्रवाद के दोष*—राष्ट्रवाद तब तक अच्छा है, जब तक वह आक्रमक न हो जाए। यह तब तक अच्छा है, जब तक इसका ध्येय-वाक्य 'जियो और जीने दो' है। पर आजकल राष्ट्रवाद जिस रूप में चलता है, उस रूप में इसमें बहुत-सी बुराइयाँ हैं।

(१) नाजी जर्मनी के प्रकार का राष्ट्रवाद लोगों में यह विश्वास पैदा कर देता है कि वे ईश्वर के चुने हुए लोग हैं। उनमें अहंकार हो जाता है और उनका अहंकार दूसरे राष्ट्रों के प्रति आक्रामक रूप ग्रहण कर लेता है। वे सोचने हैं कि केवल उन्हें ही स्वतंत्र होने का अधिकार है। इस प्रकार राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद की ओर ले जाता है।

(२) सब राष्ट्रों के साधन बराबर नहीं। कुछ राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से औरों की अपेक्षा अच्छी स्थिति में हैं। इससे राष्ट्रों में आपसी ईर्ष्या पैदा हो जाती है।

(३) ईर्ष्या की भावना सशय को जन्म देती है। राष्ट्रों में सशय होने पर अस्त्रशस्त्र इकट्ठे किये जाते हैं और उनका उपयोग भी किया जाता है। युद्ध अनिवार्य हो जाता है। आजकल युद्ध भूमंडल-व्यापी होते हैं, और वे इतने विनाशकारी हो गये हैं कि सारी मानव-जाति का अस्तित्व लुप्त हो जाने का वास्तविक खतरा है।

(४) निरंतर तनाव और भय की अवस्था प्रत्येक राष्ट्र को युद्ध के लिए तैयार रखती है। राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा विशाल सेना रखने पर खर्च किया जाता है। परिणाम यह होता है कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य धन की कमी से नहीं हो पाते, और राष्ट्रीय प्रगति रुक जाती है।

(५) आर्थिक राष्ट्रवाद के कारण अतीत काल में राष्ट्रों ने अपनी फालतू वस्तुएं दूसरे राष्ट्रों के उपयोग में आने देने के बजाए उन्हें जला देना ठीक समझा।

(६) राष्ट्रवाद के कारण अनेक छोटे-छोटे और कमजोर राज्य बन गये हैं। न तो वे अपनी आर्थिक आवश्यकताएं ठीक तरह पूरी कर सकते हैं, और न वे प्रबल राज्यों के आक्रमण से अपनी रक्षा ही कर सकते हैं।

## अंतर्राष्ट्रवाद

अंतर्राष्ट्रवाद उस प्रणाली या व्यवस्था को बताता है जिसके अधीन अपना शासन आप करने वाले और आत्म-सम्मानी सब राष्ट्र समता, सद्भावना और तर्क के बंधनों द्वारा संयुक्त होकर शान्ति से रह सकते हैं। इसका लक्ष्य यह है कि राष्ट्रों के मध्य होने वाले विवादों का फैसला पशु-बल के बजाए तर्क से हो। राष्ट्रवाद से युद्ध का जन्म होता है। पर अंतर्राष्ट्रवाद युद्ध को सर्वथा खत्म कर देना चाहता है। अंतर्राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का भी दुश्मन है।

पर राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रवाद को एक दूसरे का विरोधी नहीं समझना चाहिए, बल्कि राष्ट्रवाद व्यष्टि और मानवता के बीच एक आवश्यक कड़ी है। अंतर्राष्ट्रवाद में राष्ट्रीय राज्यों की आंतरिक सर्वोच्चता फिर भी बनी रहेगी। वे अन्य राज्यों के साथ व्यवहार करने में ही अंतर्राष्ट्रीय संस्था के फैसलों के अनुसार चलेंगे। यदि कभी विश्व राज्य बना तो उसका ढांचा संघात्मक ही होगा।

अन्तर्राष्ट्रवाद को जन्म देने वाली शक्तियां—विभिन्न राष्ट्रीय राज्यों में युद्ध की संभावना को कम करने के लिए सहयोग की आवश्यकता बहुत दिनों से अनुभव

की जाती रही है, पर १९वीं शताब्दी तक इस दिशा में किये गये सब यत्न तीन कारणों से अधूरे रहे :

१. युद्ध सीमित क्षेत्र में होते थे।

२. आर्थिक दृष्टि से राज्य एक दूसरे पर कम निर्भर थे।

३. अन्तर्राष्ट्रीय राज्य असंभव माना जाता था।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए कोई संस्था बनाने का पहला गम्भीर प्रयत्न १९१४ के बाद किया गया। राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गई। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भी संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। अंतर्राष्ट्रवाद अब कोई स्वप्न-मात्र नहीं रहा। यह प्रतिदिन एक वास्तविकता बनता जा रहा है। पिछले ५० वर्ष में परिस्थितियाँ बहुत बदल गई। परिवहन और संचार के इन साधनों ने संसार को एक इकाई बना दिया है। हवाई जहाज, बेतार, तार और समुद्री तार के वैज्ञानिक आविष्कारों ने स्थान, दूरी और समय संबन्धी विचारों को परिवर्तित कर दिया है। आर्थिक दृष्टि से भी दुनिया एक होती जा रही है। कोई भी देश अपनी अर्थ-व्यवस्था में आत्मनिर्भर नहीं। न कोई देश सिर्फ अपने लिए उत्पादन करता है। आजकल बाजार विश्वव्यापी हैं। युद्ध अधिक विनाशकारी और विश्वव्यापी हो गये हैं। अब वे सीमित क्षेत्र में नहीं होते। हम बीसवीं शताब्दी में दो भयंकर युद्धों का अनुभव ले चुके हैं और तीसरा विश्व युद्ध किसी भी समय हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रवाद के लाभ—(१) युद्धों का अन्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रवाद एकमात्र हल है। यह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के लिए बल के स्थान पर तर्क का उपयोग करने के लिए होता है। आजकल युद्ध बड़े विनाशकारी हो गये हैं, उनसे जन-धन की बड़ी हानि होती है, लाखों आदमी मारे जाते हैं, और इनसे भी अधिक गृह-हीन हो जाते हैं। आजकल युद्ध असैनिक आबादी पर भी उतना ही असर डालते हैं। असल में तो फैक्टरी और मकान, हवाई बमबारी का पहला शिकार होते हैं। उनसे लाखों स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं, और बच्चे अनाथ हो जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रवाद इन सब बुराइयों और मुसीबतों का इलाज है।

(२) शस्त्रास्त्रों पर होने वाला सारा खर्च धन की बर्बादी है। इससे कोई उत्पादक कार्य नहीं होता। अन्तर्राष्ट्रवाद के होने पर यह सारा खर्च राष्ट्र-निर्माण के कामों में लगाया जा सकता है। अगर शस्त्रास्त्रों पर कोई खर्च न हो तो दुनिया के लोगों की सब सामाजिक और आर्थिक बुराइयाँ दूर हो जाएँ।

(३) राष्ट्रवाद के जो लाभ बताये जाते हैं वे अन्तर्राष्ट्रवाद में खत्म नहीं हो जाएँगे। संघानीय ढाँचे वाले अन्तर्राष्ट्रीय राज्य के होने पर प्रत्येक राष्ट्र को अपने भीतरी मामलों पर पूरी आजादी रहेगी।

(४) अन्तर्राष्ट्रवाद सब आर्थिक ईर्ष्याओं को खत्म कर देगा। सब राष्ट्र एक दूसरे के साधनों का लाभ उठा सकेंगे। जो राज्य जो वस्तुएं बनाने के लिए सब से

अधिक उपयुक्त है, उसे उन वस्तुओं के बनाने में विशेष योग्यता हासिल करने का मौका मिलेगा।

(५) अन्तर्राष्ट्रवाद से राष्ट्रों में संस्कृतियों और विचारों का बाधाहीन विनिमय हो सकेगा। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की वैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सफलताओं का लाभ उठा सकेगा। इस प्रकार सारे मानव-समाज का जीवन अधिक सम्पन्न होगा। कुछ पिछड़े हुए राष्ट्र भी दूसरे आगे बढ़े हुए राष्ट्रों के सम्पर्क से तरक्की करेंगे।

अंतर्राष्ट्रवाद के मार्ग की रुकावट—(१) राज्यों की सर्वोच्चता या प्रभु सत्ता अन्तर्राष्ट्रवाद के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। राज्य अपनी सर्वोच्चता पर किसी भी तरह रोक लगाने को तैयार नहीं। अन्तर्राष्ट्रवाद में राज्यों की बाह्य सर्वोच्चता पर कुछ पाबन्दियां लगाना जरूरी है।

(२) अन्तर्राष्ट्रवाद में साम्राज्यवाद की कोई जगह नहीं। विश्व-राज्य का परीक्षण तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक हर तरह का साम्राज्यवाद खत्म न हो जाए। पर साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने उपनिवेशों को आजादी देने को तैयार नहीं।

(३) अन्तर्राष्ट्रवाद में एक और रुकावट कुलवंश या रंग की उच्चता है। विश्व राज्य में छोटे-बड़े सब राज्य और काले-गोरे सब लोग समान स्तर पर खड़े होंगे।

(४) अन्तर्राष्ट्रवाद की सफलता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के फैसलों को लागू करने के निमित्त एक प्रबल सेना का होना अनिवार्य है। पर अब तक ऐसी सेना बनाना सम्भव नहीं हुआ।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय सेना के अभाव में अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सफल हो सकता है, जब मानव प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो जाए। मनुष्य अपना स्वार्थ और लोभ छोड़ दें और तर्क के अनुसार चलने को तैयार हों। मनुष्य में अब भी पशु का अंश बड़ा प्रबल है।

## संयुक्त राष्ट्र संघ

राष्ट्र संघ को १९३९-४५ के दूसरे विश्व युद्ध ने खत्म कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ, जो अब इसके स्थान पर है, अप्रैल १९४५ में सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में पास किए गये संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणापत्र से पैदा हुआ। राष्ट्र संघ की तरह संयुक्त राष्ट्र संघ भी संसार में शान्ति बनाए रखने के लिए बनाया गया है। लोग महसूस करते हैं कि दुनिया को कानून और निष्पक्ष न्याय की छत्रछाया में लाना जरूरी है। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा बातचीत और तर्क से होना चाहिए, बल प्रयोग से नहीं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्य और प्रयोजन—संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में संयुक्तराष्ट्र संघ के ये लक्ष्य और प्रयोजन बताये गये हैं—

(१) संयुक्त राष्ट्र संघ का पहला प्रयोजन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना है। यह संघ शान्ति पर आने वाले खतरों को रोकने या हटाने और आक्रमण के कार्यों तथा अन्य शान्ति-भंगों को दबाने के लिए सब शान्तिपूर्ण साधन उपयोग में लाएगा और न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े निपटायेगा।

(२) संयुक्त राष्ट्र संघ को मूल मानवीय अधिकारों का आदर करना होगा।

(३) संयुक्त राष्ट्र संघ को सब राष्ट्रों के लोगों में दोस्ताना सम्बन्ध बनाने के उपाय करने चाहिएं। इसका यह लक्ष्य भी है कि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय ढंग की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सब देशों का सहयोग स्थापित किया जाए।

*(४) संयुक्त राष्ट्र संघ मुख्य संयुक्त संगठन होने के नाते इन सामान्य लक्ष्यों की सिद्धि के लिए राष्ट्रीय कार्यों के समन्वय के केन्द्र के रूप में काम करेगा।*

### संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के दो हिस्से हैं। पहले हिस्से में उसके सिद्धान्त और लक्ष्य बताए गये हैं, और दूसरे में इसके गठन का वर्णन है। संयुक्त राष्ट्र संघ के छः मुख्य अंग हैं और कई सहायक अंग हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंग ये हैं—

१. बृहत् सभा या जनरल असेम्बली।
२. सुरक्षा परिषद।
३. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।
४. सचिवालय।
५. सामाजिक और आर्थिक परिषद।
६. ट्रस्टीशिप कौंसिल या न्यासित्व परिषद।

सहायक अंग ये हैं—

१. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.)
२. खाद्य और कृषि संगठन (F. A. O.)
३. संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति-संगठन (U.N.E.S.C.O)
४. विश्व स्वास्थ्य-संगठन (W. H. O.)
५. निरस्त्रीकरण आयोग।
६. पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I. B. R)
७ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रानिधि (I. M. F.)

बृहत्सभा या जनरल असेम्बली—यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सब से बड़ा अंग है। अब इसके कुल ८० सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य का एक मत होता है। पर वह

५ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इस प्रकार सब सदस्य राज्यों को इस संस्था में समानता की स्थिति प्राप्त है। जनरल असेम्बली मुख्यत एक विचार करने वाली संस्था है और इसकी तुलना किसी राज्य के विधान मण्डल से की जा सकती है। यह घोषणा पत्र के अन्तर्गत हर बात पर विचार कर सकती है। असेम्बली का अध्यक्ष हर सत्र के लिए निर्वाचित होता है। असेम्बली दो तिहाई बहुमत से सुरक्षा-परिषद के छ अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए चुनती है। यह आर्थिक और सामाजिक परिषद के १८ सदस्य भी चुनती है। ट्रस्टीशिप कौंसिल के सदस्य और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के १५ जज भी असेम्बली द्वारा चुने जाते हैं। महासचिव, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय का अध्यक्ष है, इसी संस्था द्वारा नियुक्त किया जाता है। असेम्बली नये सदस्य प्रविष्ट करने और किसी वर्तमान सदस्य को निकालने के बार में भी फैसला करती है।

सुरक्षा परिषद—यह संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यपालिका है। सदस्य राज्यों ने विश्व शान्ति और सुरक्षा कायम रखने की जिम्मेवारी इसे सौंप दी है। प्रत्येक सदस्य राज्य ने इसके फैसले मानने की प्रतिज्ञा की है। सुरक्षा परिषद में कुल ११ सदस्य हैं और ये दो प्रकार के हैं अस्थायी और स्थायी। ५ स्थाई सदस्य ये हैं—चीन, यूनाइटेड किंगडम (इंगलैंड), फ्रास, सोवियत संघ और यूनाइटेड स्टेट्स। ६ अस्थायी सदस्य जनरल असेम्बली द्वारा दो वर्ष के लिए चुने जाते हैं।

कार्यपालिका संस्था होने के कारण सुरक्षा परिषद पर दुनिया की हिफाजत करने और अगर आवश्यक हो तो बल प्रयोग से विश्व शान्ति कायम रखने का भार है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे महत्वपूर्ण और सक्रिय अंग है। इसका सत्र लगातार रहता है। सुरक्षा परिषद के सब महत्वपूर्ण फैसलों के लिए सात मत होने आवश्यक हैं। आर्थिक अनुशास्तियों (Economic sanctions), विवादों के पंच निर्णय और सैनिक बलप्रयोग सम्बन्धी सब मामले सात मतों द्वारा ही तय होते हैं। इन सात में से ५ मत स्थायी सदस्यों के होने अनिवार्य हैं। इस प्रकार, सुरक्षा परिषद के किसी कार्य पर ५ बडी शक्तियों में से कोई भी वीटो या अभिषेध का प्रयोग कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—यह संयुक्त राष्ट्र संघ का न्यायांग है। इसके सामने सदस्यों द्वारा भी मामले लाये जा सकते हैं और गैर सदस्यों द्वारा भी। पर यह न्यायालय मामलों की सुनवाई तभी कर सकता है, यदि विवाद के दोनों पक्ष इसके क्षेत्राधिकार को मानें। इस न्यायालय का स्थायी अधिष्ठान हालैंड में हेग नगर में है। इसमें १५ सदस्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का न्यायाधीश सामान्यतया ९ वर्ष के लिए चुना जाता है।

सचिवालय—संयुक्त राष्ट्र संघ के सचिवालय में एक महासचिव और अन्य कर्मचारी होते हैं। महासचिव सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर जनरल असेम्बली द्वारा नियुक्त किया जाता है। कर्मचारियों की नियुक्ति जनरल असेम्बली के विनि

यमों के अन्तर्गत महासचिव द्वारा की जाती है।

सामाजिक और आर्थिक परिषद—यह एक महत्वपूर्ण निकाय है जो उन सब आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करती है, जो संसार के देशों को परेशान करते हैं। इसका मुख्य प्रयोजन अनुसंधान और गवेषणा है। इसके १८ सदस्य हैं। वे जनरल असेम्बली द्वारा ९ साल के लिए चुने जाते हैं। प्रत्येक ३ वर्ष बाद एक तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते हैं।

ट्रस्टीशिप कौंसिल—इस निकाय का काम उन क्षेत्रों पर जो इसके न्यास के अधीन दिये जाएं प्रशासन करना है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद धुरी शक्तियों से जीते गये राज्य क्षेत्रों और पुराने राष्ट्र संघ के अधिदेशों का प्रशासन करना है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता—संयुक्त राष्ट्र संघ को अधिकतर सफलता राजनैतिक क्षेत्र से भिन्न क्षेत्र में हुई है। अपने घरों से उखड़े हुए लोगों को फिर से बसाने में संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्वास प्राधिकरण की, रोगों का मुकाबिला करने में विश्व स्वास्थ्य संगठन की, और दुनिया के अनाज को विनियमित करने में खाद्य और कृषि संगठन की सफलताएं उल्लेखनीय हैं। शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संघ सामाजिक शैक्षणिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में उपयोगी काम कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को मजदूरों का, कम से कम जीवन स्तर लागू करने में सफलता हुई है। विश्व बैंक युद्ध से ध्वस्त देशों को अपनी अर्थ-व्यवस्था सुधारने के लिए ऋण दे रहा है। राजनैतिक क्षेत्र में भी संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व युद्ध रोकने में अब तक सफल रहा है। इसने विश्व राजनीति की शिक्षा को बहुत व्यापक कर दिया है। यह एक महत्वपूर्ण लाभ है। आज अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग १० वर्ष पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है। विश्व लोकमत का परिमाण और शक्ति पहले से अधिक तेजी से बढ़ रही है। अन्तर्राष्ट्रीय सेना के अभाव में, लोकमत संयुक्त राष्ट्र संघ के फैसलों के पीछे प्रभावकारी बल है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की विफलता—संयुक्तराष्ट्र संघ की विफलता राजनैतिक क्षेत्र में अधिक स्पष्ट है। यह बात ठीक है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने दुनिया को बहुत से संकटमय प्रश्नों पर युद्ध से बचाया है, पर फिर भी आमतौर से माना जाता है कि इसने शान्ति की आशा पूरी नहीं की। अब तक भी भय से छुटकारा नहीं, हुआ। राजनैतिक क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ की विफलता के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

१. जर्मनी के एकीकरण की समस्या अब तक हल नहीं हुई।
२. हिन्दचीन के सवाल का अन्तिम निबटारा नहीं हुआ।
३. काश्मीर के सवाल पर अब तक गतिरोध दूर नहीं हुआ।
४. दक्षिण अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र संघ एशियनों और अफ्रीकनों को बुनि-

यादो मानवीय अधिकार प्राप्त नही करा सका।

५. राष्ट्रीय राज्यो द्वारा शस्त्रास्त्रो के सचय को सयुक्त राष्ट्र सघ नही रोक सका। यह परमाणु शक्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण नही कर सका।

**सयुक्त राष्ट्र सघ की त्रुटियां या इसकी विफलता के कारण—१. सदस्यों का शक्ति गुटों में विभाजन**—सयुक्त राष्ट्र सघ की ४ प्रमुख त्रुटियां हैं। सयुक्त राष्ट्र सघ दो प्रमुख शक्ति गुटो अर्थात् एग्लो-अमरीकन और रूसी, कम्युनिस्ट गुट में बंटा हुआ है। उनमें आदर्शों का विरोध है। इस विरोध का परिणाम है शक्ति राजनीति। इस कारण सयुक्त राष्ट्र सघ में किसी समस्या पर निष्पक्ष विचार असम्भव हो गया।

**२. वीटो या अभिषेध की शक्ति**—सुरक्षा परिषद का गठन बहुत अधिक असोकतन्त्रीय है। ५ स्थायी सदस्य इसका नियत्रण करते हैं। प्रक्रिया सबन्धी मामलो के अलावा अन्य मामलो में कोई भी सदस्य परिषद के फैसले को वीटो कर सकता है चाहे शेष दसों सदस्य इसके पक्ष में हों। इसलिए वीटो राष्ट्र सघ की सफलता में बड़ी रुकावट है।

**३. अन्तर्राष्ट्रीय सेना का अभाव**—सयुक्त राष्ट्र सघ के पास अपने फैसले लागू करने के लिए कोई सेना या पुलिस नहीं। इसलिए सदस्य-राज्य सयुक्त राष्ट्र सघ के फैसले के अनुसार काम करने से पहले अपना हित और सुविधा देखते हैं।

**४. पुरी शक्तियों की सदस्यता पर रोक थी**—राष्ट्र सघ की तरह सयुक्त राष्ट्रीय जनरल असेम्बली में भी शत्रु राज्यो के, और उन राज्या के, जिनका रुख विजेताओ के प्रति अनुकूल नहीं था, प्रवेश पर रोक थी। जर्मनी और जापान अब भी सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य नहीं हैं। यह बात न्याय और औचित्य के सब सिद्धातो के विरुद्ध है।

सयुक्त राष्ट्र सघ की विफलता के मुख्य कारण उसकी ये त्रुटियां ही हैं। इसकी विफलता का एक कारण यह भी है कि अभी राष्ट्रवाद की भावना बड़ी प्रबल है। हम सब लोग अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता तो अनुभव करते हैं, पर हम विश्व सरकार के लिए तैयार नहीं मालूम होते। साम्राज्यवादी प्रवृति भी अभी खत्म नहीं हुई। कुछ सीमा में सत्र बल काम कर रहे हैं।

**सयुक्त राष्ट्र सघ का मूल्यांकन**—सयुक्त राष्ट्र सघ की ऊपर बताई हुई विफलता पर विचार करने पर हमें यह दिखाई देने लगता है कि राष्ट्र संघ की तरह यह भी खत्म हो जाएगा। पर इस अनुमान को स्वीकार करना, अभी असामयिक और आत्महत्या के समान है। असामयिक तो इसलिए है कि अभी सब कुछ नष्ट नहीं हुआ। यह आत्महत्या के समान इसलिए है। क्योंकि हम मानव के जीवित रहने के लिए बनाए गए एकमात्र साधन को खत्म कर रहे होंगे। युद्ध से मानव जाति के खत्म हो जाने का खतरा हर समय बना हुआ है। यह भी सच है कि अमरीका और रूस के मौजूदा सबध युद्ध से कुछ कम नहीं है। तो भी आमने-सामने बैठकर

बातचीत करने से मतभेद दूर होने में प्राय. मदद मिलती है। संयुक्त राष्ट्र संघ मानव जाति के इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण और युगारम्भ करने वाली संस्था है। इसके साथ सभ्यता की उच्चतम और महत्तम आकांक्षाएं जुड़ी हुई हैं। यह तूफानों भरी दुनिया में हो सकने वाली सुरक्षा का एकमात्र आश्रय है। अगर संयुक्त राष्ट्र संघ विफल होता है तो असल में दुनिया के लोग ही विफल होते हैं।

**शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति-संघ**—संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संघ संयुक्त राष्ट्र संघ का एक सहायक अंग है। १९४६ में इसे शुरू करने का लक्ष्य संसार के राष्ट्रों को शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्रों में निकट लाना था।

**अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन**—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का लक्ष्य सारी दुनिया के मजदूरों को काम की मानवोचित अवस्थाएं और न्याय प्राप्त कराना है। यह संस्था राष्ट्र संघ से ही संयुक्त राष्ट्र संघ को मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने मजदूरों की दशा संभालने के लिए बहुत कुछ किया है। इसने मजदूरों को उचित मजदूरी, काम के निश्चित घंटे और रोग, बुढ़ापे और बेरोजगारी से मुक्ति दिलाने की कोशिश की है।

## सारांश

प्रत्येक नागरिक सारी मानव बिरादरी का भी सदस्य है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद की समस्याओं का अध्ययन भी करना जरूरी है।

**राष्ट्रिकता**—राष्ट्रिकता शब्द उन लोगों के लिए प्रयोग में आता है जो एकत्व की भावना से संगठित होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रिकता के लिए परमावश्यक बात यह है कि लोगों में साझी भावनाएं और विचार हों। वे बाहर से देखने में एक-दूसरे से भिन्न दिखाई दे सकते हैं। पर बाहरी सादृश्य की कुछ बातों से एकत्व की भावना पैदा होने में मदद मिलती है, ये बातें राष्ट्रिकता की कारक कहलाती हैं, और वे हैं (१) साझा मूलवंश, (२) साझी भाषा, (३) साझा धर्म, (४) साझा निवास, (५) साझा इतिहास, और (६) साझी संस्कृति। यद्यपि इनमें से कोई भी कारक राष्ट्रिकता की भावना पैदा करने के लिए परमावश्यक नहीं है तो भी किसी जाति में उनमें से जितने अधिक कारक होते हैं, एकत्व की भावना उतनी ही प्रबल होती है।

**राष्ट्र**—*राष्ट्र वह राष्ट्रिकता है जिसने अपने आपको एक स्वतन्त्र या स्वतन्त्र होने की इच्छा वाले राजनैतिक निकाय के रूप में संगठित कर लिया है, या राष्ट्र राष्ट्रिकता और राज्य का जोड़ है।*

**राष्ट्रवाद**—राष्ट्रवाद राष्ट्रिय हित, एकता और स्वतन्त्रता से अनुराग या उसके समर्थन को कहते हैं। अथवा राष्ट्रवाद उस भाव को कह सकते हैं जो किसी राष्ट्रिकता को एक होने और अपने लिए आजादी हासिल करने के लिए प्रेरणा देता है।

राष्ट्रवाद के गुण—(१) यह गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र होने की प्रेरणा देता है। (२) इस भावना के होने पर हर व्यक्ति राष्ट्रीय उन्नति में अपना अधिक से अधिक हिस्सा देता है। (३) इससे राष्ट्रों में आगे बढ़ने के लिए स्वस्थ प्रतियोगिता पैदा होती है। इस प्रकार सारी मानव-जाति का जीवन समृद्ध होता है। (४) राष्ट्रीय राज्य में ही सर्वोच्चता और स्वाधीनता का सबसे अच्छा मेल मिलाप होता है।

दोष—(१) अत्यधिक राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद को जन्म देता है। (२) राष्ट्रों के साधनों में अधिक अन्तर होने से आपसी ईर्ष्या और युद्ध पैदा होते हैं। (३) युद्धों से बड़ा विनाश होता है। (४) राष्ट्रवाद से अनेक छोटे छोटे और कमजोर राज्य बन जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रवाद—यह ऐसी प्रणाली या व्यवस्था है जिसमें अपना शासन आप करने वाले और आत्मसम्मानी सब राष्ट्र समता, सद्भावना और तर्क के बन्धन से बंध कर शांति से जीवन बिताने के योग्य होते हैं। इसका लक्ष्य यह है कि राष्ट्रों में युद्ध की जगह तर्क को प्रतिष्ठित किया जाए।

पर अन्तर्राष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद एक दूसरे के विरोधी नहीं। बल्कि राष्ट्रवाद व्यष्टि और मानव-जाति के बीच एक कड़ी है। अन्तर्राष्ट्रवाद में राष्ट्रीय राज्यों की स्थिति वही होगी जो किसी संघात्मक में राज्यों या प्रान्तों की होती।

अन्तर्राष्ट्रवाद को जन्म देने वाली शक्तियां—१९वीं शताब्दी तक कोई भी अन्तर्राष्ट्रवाद पर गम्भीरता से विचार नहीं करता था। इस दिशा में पहला गंभीर प्रयत्न राष्ट्र संघ था। दो विश्व युद्धों के भयंकर अनुभव और देशों की एक दूसरे पर आर्थिक निर्भरता से मजबूर होकर राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर जा रहे हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों ने सारी दुनिया को एक इकाई बना दिया है।

अन्तर्राष्ट्रवाद के लाभ—(१) यह युद्ध खतम करने का एकमात्र तरीका है। यह बल की जगह तर्क के प्रयोग के लिए कहता है। (२) इसके होने पर शस्त्रास्त्रों पर खर्च होने वाला धन राष्ट्र-निर्माण के कामों में लगाया जा सकता है। (३) अन्तर्राष्ट्रवाद से राष्ट्रवाद की कोई हानि नहीं होती। (४) अन्तर्राष्ट्रवाद सब आर्थिक ईर्ष्याओं को खतम कर देगा। (५) इससे संस्कृतियों और विचारों का बाधाहीन आदान प्रदान हो सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रवाद में बाधाएं—राज्य बाहरी मामलों में अपनी सर्वोच्चता छोड़ने को तैयार नहीं। (२) साम्राज्यवादी राष्ट्र साम्राज्यवाद छोड़ने को तैयार नहीं। (३) मूलवंशीय और रंग सम्बन्धी उत्कृष्टता के विचार राष्ट्रों में अब भी मौजूद हैं। (४) मनुष्य में पशुता अब भी बहुत प्रबल है, और इसलिए अभी युद्धों से छुटकारा नहीं मिल सकता।

संयुक्त राष्ट्र संघ—इसका जन्म अप्रैल १९४५ में सान फ्रांसिस्को में पास किए गए संयुक्त राष्ट्रीय घोषणा-पत्र द्वारा हुआ। इसके लक्ष्य और प्रयोजन ये हैं.—

(१) युद्ध से बचने के शान्तिपूर्ण उपाय अपना कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना। (२) मूल मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान कायम कराना। (३) राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में सहयोग कराना।

**संयुक्तराष्ट्र संघ के अंग**—इसके ६ मुख्य अंग और कई सहायक अंग हैं। मुख्य अंग ये हैं :—

(१) **वृहत सभा या जनरल असेम्बली**—इसमें ८० सदस्य हैं, और प्रत्येक का एक मत है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ का विधानमण्डल है। इसके कार्य विचारात्मक और निर्वाचन सम्बन्धी हैं।

(२) **सुरक्षा परिषद**—यह संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यपालिका है। इसमें ११ सदस्य हैं, जिनमें से पाँच स्थायी सदस्य हैं। स्थायी सदस्यों को वीटो या प्रतिषेध की शक्ति भी है। इस पर जहाँ तक हो सके पंचनिर्णय द्वारा और अन्यथा बल प्रयोग द्वारा विश्व शान्ति कायम रखने का भार है।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**—इसमें १५ न्यायधीश हैं और यह हेग में है। यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन मामले सुन सकता है पर शर्त यह है कि दोनों पक्ष इसके क्षेत्राधिकार को स्वीकार करें।

(४) **सचिवालय**—इसमें एक महासचिव और बहुत से कर्मचारी होते हैं।

(५) **सामाजिक और आर्थिक परिषद**—इसमें १८ सदस्य हैं, और यह सब तरह के आर्थिक और सामाजिक सवालों पर विचार करती है।

(६) **ट्रस्टीशिप कौंसिल**—यह उन क्षेत्रों पर शासन करती है, जो इसके न्यास के अधीन होते हैं।

**संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता**—संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता अधिकतर राजनीति से भिन्न क्षेत्र में हुई है। राजनैतिक क्षेत्र में भी संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व युद्ध रोकने में सफल रहा है। इसने पहले की अपेक्षा बहुत अधिक लोगों को विश्व-राजनीति का परिचय करा दिया है।

**संयुक्त राष्ट्र संघ की विफलता और उसके कारण**—इसकी विफलता राजनैतिक क्षेत्र में अधिक उल्लेखनीय रही है। अबतक दुनिया भय से मुक्त नहीं हो सकी। संयुक्त राष्ट्र संघ की चार प्रमुख त्रुटियाँ या विफलता के चार कारण हैं :—(१) सदस्यों का शक्ति गुटों में बट जाना, (२) पाँच बड़ी शक्तियों की वीटो या प्रतिषेध की शक्ति, (३) संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपने फैसलों को लागू करने के लिए कोई फौज या पुलिस नहीं है, (४) धुरी शक्तियों की सदस्यता पर रोक लगा दी गई।

यह सब होते हुए भी संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व-इतिहास में सब से महत्वपूर्ण और युग-प्रवर्तक संस्था है। यह इस दुर्गम और तूफान भरे संसार-सागर में सुरक्षा का एकमात्र सहारा है।

## प्रश्न
## QUESTIONS

१. राष्ट्रवाद शब्द से आप क्या समझते हैं ? इसकी मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ? (प० वि० सितम्बर, १९५३)

1 What do you understand by the term 'Nationalism'? What are its salient features ! (P U Sep 1953)

२. राष्ट्रवाद को पैदा करने वाले कारण कौन-कौन हैं ?

2 What are the factors contributing to 'Nationalism'

३. राष्ट्रवाद के गुणों और दोषों की परिभाषा करो ?

3 Examine the merits and demerits of nationalism

४. अन्तर्राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं ? इसे पैदा करने वाली शक्तियां कौन कौन सी हैं और इसके मार्ग में कौन कौन सी रुकावटें हैं ?

4 What do you understand by 'Internationalism'? What are the forces contributing to it and what are the hinderances in its way !

५ संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य क्या हैं ? (पं० वि० अप्रैल, १९५०)

5 What are the objects and aims of U N O ! (P U April, 1950)

६. अन्तर्राष्ट्रीयता के क्या लाभ हैं ?

6 What are the advantages of Internationalism ?

७. संयुक्त राष्ट्र संघ के बुनियादी सिद्धान्त और अंग कौन-कौन से हैं ? (प० वि० सितम्बर, १९५२)

7 What are the basic principles and organs of the United Nations Organisation (P U Sep 1952)

८. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता और विफलता पर एक छोटी टिप्पणी लिखो। इसकी कौन-कौन सी त्रुटियां हैं ?

8 Write a short note on the success and failure of the U N O as an organ for international peace What are its defects !

९. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखो —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन।

(२) संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा विज्ञान-संस्कृति संघ।

(३) सुरक्षा परिषद्।

Write short notes on —

1 The International Labour Organisation

2 The U N E S C O

3 Security Council